प्राचीन हिंदीकाव्य

[सिद्ध-सामंत युग, ७०० ई०—१४०० ई०]

डॉ० रामरतन भटनागर

एम० ए०, डी० फ़िल

हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय,

सागर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
प्रयाग

प्रथम संस्करण : १९५२

मुद्रक—महादेव प्रसाद
आजाद प्रेस,
प्रयाग

प्राचीन हिंदीकाव्य

विषय-सूची

उपक्रम

[१] प्रवेश

[२] हिन्दी का आदिकाव्य

उपक्रम

हिन्दी का आदियुग (७००-१४००) अनेक दृष्टियों से हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है। इस महत्त्व को समझे बिना हम परवर्ती साहित्य-धाराओं के महत्त्व को पूर्णतः हृदयंगम नहीं कर सकते। वस्तुतः जिन नये धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दीकाव्य पर प्रभाव डाला उनका श्रीगणेश इसी युग में हुआ और नई मध्ययुगीन हिन्दी संस्कृति का शिलाधार भी इसी युग में पड़ा।

स्वेनच्वांग की भारत-यात्रा से यह स्पष्ट है कि हर्ष के समय में उत्तर भारत में, विशेषतयः मध्य देश और बंगाल में बौद्ध-संस्कार पूर्णतः जाग्रत थे। पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में शैव संस्कारों का भी उदय हो रहा था और मध्य देश में बिष्णु के प्रति भक्ति-भावना भी विकसितप्राय थी। १००० ई० के लगभग हम विहार और बंगाल को छोड़ कर शेष हिन्दी प्रदेश में बौद्ध धर्म को फलता-फूलता नहीं पाते। इसका कारण यह है कि ७०० ई० से १००० ई० तक पश्चिमी और मध्य हिन्दी प्रदेश में राजपूत शक्तियों का उदय हुआ और ये शक्तियाँ शैव और वैष्णव भावों में दीक्षित हो गईं। ५०० ई० के लगभग हूणों-आभीरों-गुर्जरों के जो दलबादल देश के पश्चिमी मार्ग से आये वे हिन्दू धर्मा-

चार्यों के द्वारा नव्य हिन्दू धर्म में दीक्षित हुए। इसके अतिरिक्त जिन स्थानीय अनार्य जातियों को शासन की सुविधा और वर्णाश्रम की मान्यताएँ प्राप्त हुईं वे भी शैवों और वैष्णवों के दल में सम्मिलित हुईं। वास्तव में राजपूतीकरण की प्रथा ने हिन्दू समाज के लिए एक सशक्त क्षत्र की व्यवस्था कर दी। यह नया क्षत्रिय वर्ग प्राचीन चंद्रवंशी और सूर्यवंशी क्षत्रियों से संबंधित कर दिया गया और नये क्षत्रिय वर्गों के लिए अनेक प्रकार की कल्पना कर ली गई। पहली शती ईसवी के लगभग शकों के प्रवेश से बौद्ध धर्म पुष्ट हुआ था। अब हिन्दू धर्म विशेष रूप से सक्रिय हुआ और उसके चिंतन और उसकी व्यवस्था में बल आया। बौद्ध साधना, चिंता और संस्कृति बंगाल के पाल वंश का आश्रय पाकर अंतिम बार प्रदीप्त हो उठीं। परन्तु ११९७ ई० में बख्तियार ख़िलजी के आक्रमण के साथ इस वंश का पतन हो गया, नालंदा और तक्षशिला के विद्यापीठ नष्ट हो उठीं, बौद्ध साधक और विद्वान् नैपाल, भूटान, तिब्बत, कामरूप और उड़ीसा जा बसे। और इस प्रकार हिन्दू भावनाओं के सार्वभौम प्रसार को बल मिला।

इस प्रकार आदियुग में हमें बौद्ध साधना, बौद्ध धर्म और बौद्ध चिंता हिन्दू साधना, धर्म और चिंता में लयमान होते दिखलाई देते हैं। शंकराचार्य (७८०-८२०) में ही यह प्रक्रिया शक्ति पाती दिखलाई देती है। रामानुज (ज. १०२७ ई०) में हम इस प्रक्रिया को वैष्णव धर्म के रूप में जड़ीभूत होता पाते हैं। आदियुग के पहले हमें बौद्ध साधना और विचारधारा के दो रूप मिलते हैं। एक हीनयान और उसके परवर्ती विकास मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान में विकसित हुआ

था। यह वर्ग बुद्ध की ऐतिहासिकता में अविश्वास रखता था। वह उन्हें निर्गुण, आत्मस्थ चरम सत्ता के रूप में मानता था और उसकी अंतः-साधना में औपनैषदिक अनहदनाद, कुंडलिनी और प्राणायाम का महत्त्व था। बाद में इस विचारधारा ने शिव और राम के अवलंबन से नाथपंथ और संतमत को विकसित किया। वज्रयानी सिद्धों, गोरखनाथ और रामानंद-कबीर आदि में हम इसी वर्ग का साहित्य पाते हैं। इस साहित्य में बौद्ध पारिभाषिक शब्द नये संदर्भ में ग्रहण किये गये हैं और साहित्यरूपों और शैलियों के लिए भी यह बौद्ध साहित्य का ऋणी है। बौद्धों की भाँति आचारमय जीवन का इसमें महत्त्व है और ब्राह्मण वर्ग, वाह्याडंबर, जातिपाँति और वर्णाश्रमधर्म का तीव्र विरोध। इस प्रकार परवर्ती युग की सामाजिक जागरूकता बौद्धों की ही देन है। यह भावना ऐसे वर्गों में विशेष रूप से पनपी जो किसी धर्मविशेष के अंचल में नहीं बँध पाये थे और जो बाद में 'न हिन्दू न मुसलमान' योगीदल में अंतर्भुक्त हुए। हीनवर्ण हिन्दुओं के वर्णाश्रम विरोधी संस्कारों ने भी इस विचारधारा को निर्गुणमत में पल्लवित और पुष्पित किया।

बौद्धों का महायानधर्म ही सामान्य जनमत था। उसमें भक्तिवाद, मूर्तिवाद, अवतारवाद, पौराणिक विश्वासों और मंत्रयोग का विशेष महत्त्व था। भगवान बुद्ध की मूर्तियों, विहारों और चैत्यों में इसी वर्ग की धर्म-भावना विजड़ित है। यही सामान्य बौद्ध धर्म वैष्णव मतवाद में रूपांतरित हो गया। शिवशक्ति को लेकर यह भक्तिवाद पहले से ही चल रहा था, बाद में विष्णु और उनके रामकृष्ण अवतारों के माध्यम से उसका विकास हुआ। परिवर्तन की यह प्रक्रिया इतनी चुप-चुप हुई

कि सामान्य जनता से ये बौद्ध संस्कार लुप्त ही हो गए। मौर्यों के अंत (२५० पू० ई०) से गुप्तों के समय (३०० ई०—५५० ई०) तक यह रूपांतर चलता रहा। वस्तुतः गीता, भागवत और पुराण इस प्रक्रिया के तीन प्रधान अंग थे। रामायण और महाभारत ने वैष्णव संस्कारों के इस रूपांतर को लोकप्रिय बनाया।

इस तरह आदियुग के पहले ५०० वर्षों (७००-१२००) में समस्त भारतीय जनता नये रूप से संगठित हुई और बौद्ध साधना और विचारधारा निर्गुण और सगुण मतवादों के रूप में सामने आई। हीनयान और महायान का विरोध ही परवर्ती युग में सगुण-निर्गुण विरोध में परिलक्षित हुआ।

हिन्दू और बौद्ध विचारधाराओं और साधनाओं के बीच में सेतुबंध का काम नाथ 'जोगियों' ने किया। जैसा श्री क्षितिमोहन सेन और डां० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का मंतव्य है, मुसलमानों के आने से पहले हिन्दू धर्म का कोई संगठित रूप हमारे सामने नहीं था और एक बहुत बड़ा जनसमुदाय ऐसा था जो परम्परागत योग और शाक्त साधनाओं को लेकर चल रहा था और हिन्दू एवं बौद्ध मतों में से किसी में भी दीक्षित नहीं हुआ था। इस प्रवहमान समाज ने मुसलमान आक्रमण के समय अपने को हिन्दुओं, बौद्धों और मुसलमानों के बीच में रख कर 'न-हिन्दू न-मुसलमान' बन कर अपनी रक्षा करनी चाही, परन्तु अंत में उन्हें अपने को हिन्दुओं में ही रखना पड़ा। मुसलमानों का बौद्धों के प्रति विशेष आक्रोश था। 'बुत' का अर्थ 'बुद्ध' की मूर्तियों से ही है। 'बुतपरस्ती' का तात्पर्य चैत्यों और विहारों से ही था। कदाचित्

ईश्वरवादी मुसलमानों ने नास्तिक बौद्धों को लेकर ही 'कुफ्र' की कल्पना की। बाद में उनका परिचय हिन्दुओं के मन्दिरों और हिन्दू मूर्तियों से हुआ और उन्होंने उन्हें भी 'कुफ्र' में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार मुसलमानों के हिन्दी प्रदेश में प्रवेश (११९३-१२०६) के साथ इस देश के सारे धर्मों और सांस्कृतिक संगठनों को हिन्दू-मुसलमानों में से किसी एक दल में जड़ीभूत हो जाना पड़ा। फल-स्वरूप एक बहुत बड़ी संख्या में एक विराट् प्रवहमान जन-समुदाय इस्लाम में दीक्षित हुआ। बौद्ध और हिन्दू हीन वर्ण भी बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान बन गये और इस प्रकार इस्लाम की धार्मिक असहिष्णुता के कारण सारा भारतीय जनसमाज हिन्दुओं और मुसलमानों के दो दलों में बँट गया। शैवों के कितने ही संप्रदाय बहुत दिनों तक अहिंदू रहे, परन्तु बाद को शैव-वैष्णवों में सामंजस्य और संतुलन स्थापित हुआ और वे 'विराट्' हिन्दू समाज के दो प्रमुख अंग बन गये। इस प्रकार १२०० ई० से १८०० ई० तक हम समाज में धर्म और संस्कृति के अनुसार विभिन्न प्रवहमान प्रवृत्तियों के जड़ीभूत होने की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से देखते हैं।

इस अप्रत्याशित आक्रमण के कारण हिंदू धर्म को विशेष रूप से जागरूक बनना पड़ा। फलस्वरूप उसमें जहाँ प्रतिक्रियास्वरूप पौराणिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और जातिवर्ण की रूढ़ियाँ दृढ़ हुईं एवं स्मृतिग्रंथों के द्वारा समाज का नियमन हुआ, वहाँ दूसरी ओर संपूर्ण समाज को एक विशाल ताने-बाने में बाँधने का भी प्रयत्न हुआ और वैष्णवधर्म के साथ एक तरह की उदारता भी आई। 'हरि को भजे सो हरि का होई'—वाली भावना का मूल स्रोत धार्मिक उदा-

रता ही है। पौराणिकों ने धर्म की शृंखला को कड़ा बनाया और समाज को और भी अधिक अनुशासित किया, भक्तों और आचार्यों ने धर्म और दर्शन को सर्वग्राही बनाकर सभी प्रकार के विश्वासों को एक विराट् सूत्र में गुंफित किया। रामानुज और रामानंद इसी उदारचेत्ता विचारधारा के प्रतीक हैं। परन्तु इस उदारचेत्ता वैष्णव-समाज का एक संस्कृति का भी अंग था। उसने भारतीय संस्कृति को नए ढंग से संगठित किया और गुप्तों-राजपूतों के संस्कारों को आदर्श माना। उसकी दृष्टि भारत के इस स्वर्णयुग (४०० ई०—१००० ई०) पर गड़ी रही। वस्तुतः हिंदू धर्म और संस्कृति में जो सर्व-श्रेष्ठ है वह इन्हीं ६०० वर्षों की देन है। नवीन पुनरुत्थान में यह देन बड़ी सहायक सिद्ध हुई। परवर्ती युग (१४००—१६०० ई०) में हम साहित्य, कला और जीवन की सारी चेतना इसी सांस्कृतिक दाय से ओतप्रोत पाते हैं। इस चेतना में जहाँ प्रतिक्रिया और प्रति-रोध की भावना है, वहाँ भारत के सांस्कृतिक पुर्नजागरण के चिह्न भी हैं।

एक समन्वयवादी दल वेदांत-योग के आधार पर निर्गुण-निराकार की उपासना लेकर चला। मूर्तिपूजा को वह निम्न श्रेणी की वस्तु मानता था। साधना की उच्चावस्था में साधना के लिए मूर्ति की अपेक्षा नहीं थी। इस प्रकार वह इस्लामी विचारधारा से बहुत निकट था। बाद में रामानंद-कबीर के माध्यम से इसने संत (निर्गुणी) विचार-धारा को संगठित किया और इस प्रकार प्रगतिशील सामा-जिक और धार्मिक शक्ति के रूप में क्षेत्र में आया। इस समन्वय का

आरम्भ आदि युग में ही हो गया था। नामदेव-रामानंद इसके प्रतीक हैं। परन्तु उसकी सबसे बड़ी शक्ति कबीर (१३६८—१५१८) थे जिनका संबंध अगली शताब्दी से है। इस प्रकार प्रतिक्रिया और समन्वय के द्वारा नवीन मध्ययुगीन संस्कृति के नये तत्त्वों का निर्माण हुआ।

आदियुग की साहित्यसंपदा को देखकर यह स्पष्ट है कि उस युग की धर्म और चिंतन (दर्शन) की भाषा संस्कृत थी। इन दोनों क्षेत्रों में यह युग विशेष रूप से क्रियाशील रहा। परन्तु दोनों क्षेत्रों में मौलिक चिंता का स्थान तर्क-वितर्क ने ले लिया था और कदाचित् इसीलिए इस युग को हम टीकायुग कहते हैं। व्याकरण के क्षेत्र में संक्षिप्त सार (६ वीं शताब्दी), शाकटायन (९ वीं शताब्दी), जैनेन्द्र (आठवीं शताब्दी), सारस्वत (११ वीं शताब्दी), मुग्धबोध (१३ वीं शताब्दी), सुपद्म (१४ वीं शताब्दी), हेमचंद्र (१२ वीं शताब्दी) इसी युग की रचनायें हैं। काव्य की दृष्टि से यह युग अपकर्ष का था परन्तु फिर भी अच्छी कविताओं की कमी नहीं थी, यद्यपि इन कविताओं में सहज कविस्फूर्ति अब नहीं रह गई थी। इस युग का अधिकांश संस्कृत-काव्य ऊहाप्रधान है, वाक्यविन्यास में कृत्रिमता और दरबारीपन है। माघ, श्रीहर्ष और बाण इस साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। रीतिकाल (१६००—१८००) के हिंदीकाव्य ने इसी साहित्य को आधार मान लिया था। दोनों एक ही सामंती समाज और चमत्कार-प्रधान मेधा की उपज हैं। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में इस युग में विशेष चिंतन हुआ। जिस युग में काव्य-

स्फूर्ति अधिक नहीं होती उस युग में साहित्य-विवेचना विशेष बल प्राप्त कर लेती है। एक तरह से यह युग भाष्यकारों और टीकाकारों का युग था। इन भाष्यों और टीकाओं और उपटीकाओं में जिस पांडित्य और बहु-श्रुतता का विकास मिलता है, वह आज भी हमें चमत्कृत कर देने में समर्थ है। धर्मशास्त्रों की टीकाओं के क्षेत्र में कुल्लूक भट्ट, मेधातिथि, गोविंदराज, अपरार्क, कर्क, नारायण, वरदराज, असहाय, रंगनाथ और सायण आदि आचार्य प्रमुख हैं। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र इस युग के दार्शनिक चिंतन के मेरुदंड थे। शंकराचार्य ने इनका भाष्य उपस्थित किया और इस तरह 'बृहद्त्रयी' पर भाष्य की एक परम्परा चल पड़ी। रामानुज, मध्व और निंबार्क ने इन ग्रंथों पर भाष्य लिखकर शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध विशिस्टाद्वैत, द्वैता-द्वैत और द्वैत की प्रतिष्ठा की। वास्तव में भाष्यकार और टीकाकार अपनी मौलिकता को स्वतंत्र रूप से रखने के लिए तैयार नहीं थे। मूल के द्वारा अपने विशेष सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए ही ये भाष्य लिखे गये। इन भाष्यों की भी टीकाएँ हुईं, फिर उन टीकाओं की टीकाएँ और इस प्रकार कभी-कभी टीकाओं-उपटीकाओं की चौथी, पाँचवी, छठी पुश्त भी तैयार हुई। यह स्पष्ट है कि ये भाष्य-कार और टीकाकार असाधारण प्रतिभा वाले पंडित थे। उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना-शक्ति अपूर्व थी। उनका अध्यवसाय अपार था। केवल शान्ति और समृद्धि के युग में ही ऐसी अपूर्व मेधा का विकास संभव है। मुसलमानों के कारण यह परंपरा बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गई। जिस युग में बुद्धिविलास, पांडित्य और प्रतिभा को

राजसभाओं और सामान्य नागरिक जीवन में अपूर्व आदर प्राप्त था, वह बीत रहा था। सामंती व्यवस्था में राजा साहित्य और कला का भी संरक्षक था। अनेक राजा केवल विद्वानों को आश्रय ही नहीं देते थे, वे स्वयं भी सरस्वती के उपासक थे। महाराज भोज (८४० ई०—८९९ ई०) अंतिम हिंदू संरक्षक थे। आज भी भोज की गुणग्राहकता और दानादि के संबंध में कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वयं ज्योतिष, तंत्र और स्मृति पर ग्रंथ लिखे। मुसलमानी शासन इस मौलिकता को आश्रय नहीं दे सका। फलतः मौलिक ग्रंथों की बाढ़ रुक गई। परंतु इस्लाम धर्म ने समाज में जो उथल-पुथल पैदा कर दी थी, उसने स्मृतिग्रंथों और व्यवस्था-सूत्रों के प्रणयन को बल दिया। अतः युग की विशेष आवश्यकता के कारण बड़े-बड़े निबंध लिखे गये जिनमें प्राचीन स्मृतिग्रंथों की शास्त्रीय व्यवस्थाओं का निर्देश था और हिंदू धर्म और समाज की नई नियोजना थी। ये व्यवस्था-ग्रंथ संपूर्ण भारतवर्ष में लिखे गए यद्यपि काशी, पूना, नवद्वीप और मिथिला इस संबंध में अग्रणी थे। कन्नौज के लक्ष्मीधर, कर्णाटक के मध्वाचार्य, बंगाल के शूलपाणि और जीमूतवाहन, मिथिला के चंदेश्वर और वाचस्पति मिश्र, उड़ीसा के विद्याधर और नरसिंह, बुन्देलखंड के मित्र मिश्र, कुमायूँ के अनंत भट्ट, तिलंगाने के देवान्न भट्ट, काशी के कमलाकर भट्ट और नवद्वीप के रघुनंदन आदि पंडितों के निबंध-ग्रंथों में हिंदू आचार शास्त्र के संबंध में अद्भुत पांडित्य का दर्शन होता है। विद्यापति (१३७५—१४५०) जैसे भावुक और विदग्ध कवि ने भी युग की इस प्रवृत्ति में योग दिया। संस्कृत की उनकी

सभी रचनाएँ इसी कोटि की हैं। इससे यह स्पष्ट है कि समाज को आचार-शृंखला में बाँधकर विदेशी धर्म और आचार से सुरक्षा की व्यवस्था की गई। इन पंडितों और आचार्यों के कारण ही हिंदू समाज और हिंदू धर्म इस बर्बरता और उद्दंडता की बाढ़ को चट्टान की तरह रोक सका।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य में उस युग की कारयित्री और भाविक प्रतिभा का अत्यंत अल्पांश ही सुरक्षित है और केवल हिंदी रचनाओं के बल पर हम उसकी मेधा की परख नहीं कर सकते।

इस युग के साहित्य के लिए संस्कृत के जो ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, वे तंत्रग्रंथ और भक्तिग्रंथ हैं। तंत्रों का साहित्य सातवीं शताब्दी से ही आरंभ होता है और कुछ विद्वान् उन्हें स्पष्ट रूप से विदेशी मानते हैं। परंतु ऐसे भी अनेक पंडित हैं जिनका विश्वास है कि तंत्र प्रागैतिहासिक है और हिंदी के पूर्वी प्रदेशों में मातृशक्ति की पूजा के साथ तंत्रसाहित्य अज्ञात काल से विकसित होता रहा है। जो हो, तंत्रसाहित्य इस युग की प्रवृत्ति की सूचना देता है। वज्रयानी-साहित्य पर भी इसका प्रभाव है, परन्तु नाथसाहित्य पर और भी अधिक। नाथ-संप्रदाय के प्रधान आचार्य मीननाथ और गोरखनाथ के कई तंत्रग्रंथ प्राप्त हैं। अष्टचक्र और कुण्डलिनी-साधना तंत्रवाद के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं, नाथ-संप्रदाय में पुरातन योगसाधना के साथ इन्हें भी स्वीकार किया गया है। यहीं से यह प्रभाव संत-साहित्य में आया। उन्नीसवीं शताब्दी तक तंत्र-साहित्य की परम्परा

चलती रही है और संत-मत के साथ मध्ययुग की भक्तिधाराओं पर भी उसका प्रभाव लक्षित है। भक्तिसाहित्य भी इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति है। भागवत, अध्यात्म रामायण, पंचरात्र, नारद भक्तिसूत्र, शांडिल्य भक्तिसूत्र, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, गर्ग संहिता, लघु भागवतम् (बोपदेव) आदि रचनाएँ भक्तिवाद के भावनात्मक और सैद्धांतिक पक्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनका निर्माण इसी युग में हुआ। एक दूसरी प्रकार का भक्तिसाहित्य भी महत्त्वपूर्ण है। वह है स्तोत्र-साहित्य। जैनों, वैष्णवों, बौद्धों, शैवों और शाक्तों में स्तोत्रों के रूप में उस युग का विशाल वाङ्मय विकसित हुआ था। हिंदी के स्तोत्रों (तुलसी) और विनयपदों (सूर, तुलसी, विद्यापति) में इस साहित्य की परंपरा का ही विकास है। इस प्रकार जहाँ तंत्रसाहित्य की परंपरा ने संत-साहित्य को पुष्ट किया, वहाँ भक्तिवाद भागवत जैसे महाग्रंथों का आधार लेकर चला। जयदेव के गीतिगोविन्दम् (११६१) ने परवर्ती युग में कृष्णभक्ति साहित्य की पद-शैली और शृंगार-भावना का भी नेतृत्व किया। उस युग की एक और महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्ति सूक्ति, नीति, वैराग्य, धर्म, शृंगार और लोकव्यवहारसंबंधी रचनाओं में विजड़ित है। संस्कृत के सुभाषितों में यह सामग्री बहुत बड़े अंश में सुरक्षित है। हिंदी के दोहासाहित्य पर इसका प्रभाव कम नहीं है।

परन्तु जहाँ युग की चिंता, गवैषणा, तर्क-वितर्क की प्रतिभा संस्कृत साहित्य के द्वारा प्रकाशित हुई है, वहाँ जनता की भावना और साधना अपभ्रंश और हिंदी काव्य के द्वारा प्रस्फुटित हुई है। उसमें ब्राह्मण धर्म, जाति-पाँति, वर्णाश्रम के प्रति आक्रोश स्पष्ट रूप से दिखलाई

पड़ता है। उसमें जनता का संगीत विकसित हुआ है और उसकी लोकगीत-माधुरी हिंदी के परवर्ती-काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। गीतों के द्वारा ही लोकहृदय तक पहुँचा जा सकता है। इस युग के साधक लोकहृदय को ही अपना लक्ष्य बना कर चले, काव्य का 'सहृदय' उनका लक्ष्य नहीं था। इसी से उन्होंने संगीतमय पदशैली और दोहा-चौपाई का आश्रय लिया। उस युग की काव्यप्रतिभा इन्हीं छन्दों में प्रकाशित हुई है। साहित्य रूपों और शैलियों की दृष्टि से इस युग का अपभ्रंशकाव्य ही हिंदीकाव्य की मूल प्रेरणा है। १५०० ई० के बाद विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों और सांस्कृतिक जागरण के फल-स्वरूप हिंदी भाषा ने अपभ्रंश की लोकभाषा (तद्भव)-सस्कृति से अपने को विच्छिन्न कर लिया और तत्सम शब्दों के प्रयोग से जनभाषाओं को साहित्यिक भाषाएँ बना दिया, परन्तु आलोच्ययुग में हिंदी भाषा लोकसंस्कृति और तद्भव शैली को ग्रहण करके ही जनता में लोकप्रियता और शक्ति प्राप्त कर सकी थी। इसीलिए इस युग की रचनाओं में साहित्यिकता का आग्रह उतना नहीं है।

इस प्रकार आदियुग का हिंदी साहित्य संस्कृत वाङ्मय में सुरक्षित पंडितवर्ग की चिंता का पूरक है। उसमें अपढ़ साधकों, लोकगायकों, साधु-संन्यासियों, भाटों, चारणों, लोकनेताओं और धर्म-प्रचारकों की अकृत्रिम, कर्मठ, लोकविश्रुत, तेजस्वी वाणी का तिक्त और मधुर रस उभर आया है। जनता के आचार-व्यवहार, मुहावरे, कहावतें, विश्वास और जीवनचिंता उसकी शक्ति हैं। वह शास्त्र की ओर नहीं देखता—उसकी जीवनानुभूति अकृत्रिम और अपूर्व है।

आदियुग के जनजीवन के अध्ययन के लिए उससे महत्त्वपूर्ण सामग्री हमें उपलब्ध ही नहीं। उसके भाषा-वैज्ञानिक और सांस्कृतिक महत्त्व में तो कोई संदेह ही नहीं हो सकता। संधियुग के साहित्य की सारी द्वन्दात्मकता, अकृत्रिमता और सप्राणता उसका आकर्षण है।

इस सारे युग में दक्षिणापथ (द्रविड़ देश) विशेष रूप से सक्रिय रहा है। आंध्र देश का श्रीपर्वत (धान्यकटक) बौद्ध साधकों का केन्द्र रहा है। यहीं महायान और वज्रयान का विशेष विकास हुआ। कदाचित् महायान की अवतार-भावना और भक्ति-भावना से प्रभावित हो यहीं वैष्णव और शैव भक्ति का प्रथम स्फुरण हुआ। बाद में यह भक्ति-भावना महाराष्ट्र और गुजरात में होती हुई मध्य देश तक पहुँची। दक्षिण के आचार्यों की दिग्विजय-यात्राओं ने उत्तरापथ से बौद्धधर्म और बौद्ध संस्कारों का उन्मूलन किया और इन आचार्यों द्वारा प्रचारित अलवारों और अड़यारों की वाणी ने हिंदी पदसाहित्य को प्रभावित किया। भक्तिवाद के विकास और वैष्णवदर्शनों के लिए हम दक्षिण के चिर ऋणी रहेंगे। मुसलमानों के आक्रमणों ने उत्तर भारत की मौलिक प्रतिभा को नष्ट कर दिया और साहित्य, कला, धर्म, दर्शन के क्षेत्र में नेतृत्व दक्षिण के हाथ चला गया। मुग़लों के समय तक दक्षिण का यह नेतृत्व सुरक्षित रहा।

सागर (मकरोनिया)
३० अप्रैल, १९५२

रामरतन भटनागर

१

प्रवेश

सिद्ध-सामंत युग (७०० ई०—१४०० ई०) हिंदी का सबसे पहला युग है। पहला युग होने के नाते इसकी समस्याएँ भी कम नहीं हैं। जब तक उन महत्त्वपूर्ण समस्याओं का हल नहीं हो जाता जो इस युग से संबंध रखती हैं तब तक इस युग पर विवेचनात्मक और निर्णयात्मक ढंग से लिखना असंभव है। प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा के इतिहास में इस प्रकार की समस्याएँ हैं। जैसे-जैसे हम अपने समय से पीछे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे अंधकार गहरा होता जाता है, हमें अँधेरे में टटोलना पड़ता है और हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। हाँ, हम यह बात जानते हैं कि आगे के युग में जो प्रवृत्तियाँ फलित हुई हैं, उनके अंकुर पिछले के इसी युग में मिलेंगे। हमें आगे के युगों की विभिन्न धाराओं के सूत्र पकड़ कर पीछे चलना होगा, तभी हम अनेक समस्याओं को सुलझा सकेंगे।

इस हिंदी के आदि युग की भी अनेक समस्याएँ हैं। वास्तव

में यह युग सारे हिंदी साहित्य की वीथिका है। इसे भली भाँति समझे बिना हम हिंदी साहित्य की कितनी ही प्रवृत्तियों को अधूरा या ग़लत समझ रहे थे। उदाहरण के लिए, आज हमें मालूम हो गया है कि इस आदि युग की सिद्ध और नाथ विचारधाराओं का परवर्ती रूप ही हमें निर्गुण धारा में मिलता है। इस बात को न जानते हुए हम कबीर और अन्य संतकवियों को अभारतीय, इस्लाम के प्रचारक या थोथे खंजरी बजाने वाले 'निर्गुनिए' कह देते थे। अब हम जानते हैं कि उपनिषदों की निर्गुण रहस्यवादी विचारधारा योगियों (नाथपंथियों) के माध्यम से छन कर संत-काव्य तक पहुँची है, परन्तु उसमें बौद्ध सिद्ध साधकों की अनीश्वरवादी विचारधारा के भी अनेक अंगों के सम्मिश्रण हो गया है। यदि हम हिंदी साहित्य को अलग कर दें, तो उपनिषदों की निर्गुण रहस्यवादी धारा उपनिषदों तक ही समाप्त हो जाती है। बुद्ध धर्म के प्रवर्तन के आस-पास जो एक वैष्णव भक्ति की सगुण धारा चली, उसने बाद को इतना विस्तृत सर्वग्राही रूप धारण कर लिया कि पुराणों, उपपुराणों और अवतारों के झमेले में निर्गुण चिंता के दर्शन ही नहीं होते। बौद्ध और जैन अनात्मवादी दर्शनों में इस निर्गुण औपनैषदिक विचारधारा से भी बहुत कुछ लिया गया है। बौद्ध सिद्ध साधकों ने संतों की इस विचार-धारा को अनेक परिभाषाएँ दीं, अनेक पारिभाषिक शब्द दिये और आज हम संतों की कुंजी के लिए सिद्ध-साहित्य की ओर

मुड़ने लगे हैं। इस प्रकार उपनिषदों के आत्मचिंतन से आधुनिक काल के निर्गुण सम्प्रदायों तक एक विचारशृंखला बन गई है। हिंदी प्रदेश भारत का हृदय है, अतः हिंदी के आदि युग का साहित्य भारत की अनेक धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझा देता है।

भाषा

एक प्रधान गुत्थी तो भाषा के संबंध में है। इस युग का बहुत अधिक साहित्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है। जो साहित्य प्राप्त हुआ है वह भी बड़े संदिग्ध रूप में। सिद्ध-साहित्य के ८४ कवि राहुल सांस्कृत्यायन ने निकाल डाले हैं, परन्तु उनका साहित्य अभी 'पोथियों' के रूप में है जो 'तनजुर' (तिब्बती ग्रंथ-माला) के रूप में सुरक्षित हैं। इन कवियों की कविता को 'भोटी' लिपि से उतारा गया है। बंगला के विद्वान् इन कवियों की भाषा को 'आदि बंगला' कहते हैं, विहार के विद्वान् पुरानी मगही और हिंदी के पुरानी हिंदी। इस प्रकार की विषम समस्या यहाँ उपस्थित हो जाती है। पश्चिम प्रदेश में जो जैन अपभ्रंश, चारण और हिंदवी काव्य हमें मिलता है, उसमें भी भाषासंबंधी जटिल समस्याएँ हैं। उदाहरण-स्वरूप हम आल्हा को ले सकते हैं। जिस रूप में 'आल्हा' हमें आज प्राप्त है वह उन्नीसवीं सताब्दी की 'कन्नौजी' का रूप है। जगनिक ने इसे किस रूप में लिखा होगा, इसकी कल्पना भी कठिन है। चन्द के रासो को मथ कर 'आदि रासो' निकालने की चेष्टा आज भी चल रही है।

जान पड़ता है, आठवीं शताब्दी में हिंदी प्रदेश कई भाषा क्षेत्रों में बँटा था। सर्वमान्य साहित्य-भाषा के रूप में अपभ्रंश भाषा चल रही थी और उसका रूप 'जैन अपभ्रंश काव्य' में आज भी सुरक्षित है। उस समय की लोक-भाषा के कुछ रूप हमें चारण काव्य, सिद्ध काव्य और हिंदवी काव्य में मिलते हैं। इनसे आज के विभाषा-क्षेत्र साफ़ झलक जाते हैं। चारणकाव्य आज की मेवाती-मेवाड़ी (राजस्थानी) का प्रतीक है, सिद्ध काव्य मगही-भोजपुरी का प्रतीक है। नाथकाव्य मूलतः मध्ययुग की कबीर-पूर्व की 'पूर्वी' है। परंतु योगियों के व्यापक पर्यटनों के चिह्न उसमें मिलते हैं—अन्य विभाषाओं का मिश्रण उसमें है। हिंदवी काव्य बाद की उपज है। जो हिंदवी काव्य हमें मिलता है, वह अमीर ख़ुसरो (१२३५-१३३५) का है, अतः बाद का है, परन्तु यह स्पष्ट है कि उसमें कुरु-पांचाल की खड़ी और ब्रज के रूप स्पष्ट रूप से झलकते हैं। आल्हा की भाषा 'कन्नौजी प्राकृत' रही होगी—उस समय शताब्दियों से कन्नौज ही राज-सत्ता का केन्द्र बन रहा था, परंतु शोक, इस राजकेन्द्र का कोई भी प्रामाणिक ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। कन्नौज ब्रजकेन्द्र से दूर नहीं है। हो सकता है, शौरसैनी प्राकृत का कोई रूप (शौरसैनी अपभ्रंश) कन्नौज-केन्द्र को मान्य रहा हो और ब्रजभाषा के बाद के व्यापक प्रयोग के पीछे कन्नौज-केन्द्र का भी हाथ हो। ख़ुसरो (१२३५—१३३५) दिल्ली केन्द्र का कवि है, परंतु उसकी भाषा ब्रज है। इसके बाद निश्चित रूप

से ब्रजभाषा के पद बैजू बावरे के ही मिलते हैं जो तानसेन (१५४० ई० के लगभग) से एक पीढ़ी पहले के कवि-गायक है। ब्रज की सबसे प्रौढ़ पहली कविता सूरदास (जन्म १४७८) की है और सूर के बाद तो ब्रजभाषा हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा ही बन गई। परंतु केवल सूर के पदलालित्य से ही यह संभव हुआ, यह कहना ठीक नहीं होगा। कन्नौज-केन्द्र की शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी होने के कारण ही यह संभव हो सका होगा। इस प्रकार हम इस युग में हिंदी क्षेत्र का विभाषा-क्षेत्रों में इस प्रकार बाँट सकते हैं :

१—शौरसेनी अपभ्रंश और फिर ब्रजभाषा का क्षेत्र
२—कुरु-पांचाली (खड़ी-हिंदवी का) क्षेत्र
३—डिंगल (राजस्थानी) का क्षेत्र
४—'पूर्वी' (अर्द्धमागधी) का क्षेत्र
५—प्राचीन मगही (मागधी अपभ्रंश) का क्षेत्र

शौरसेनी अपभ्रंश और कुरु-पांचाली के रूप हम केवल कल्पना से ही पूर्णतयः स्थिर कर सकते हैं। 'पूर्वी' का साहित्य 'नाथों' की कविता में स्पष्ट है, परंतु उसमें अन्य विभाषाओं का मिश्रण है। केवल डिंगल और प्राचीन मगही ही बहुत कुछ प्राचीन रूप में हम तक आती हैं। हर्ष के समय (६५० ई०) से कान्यकुब्ज ही मध्यप्रदेश का केन्द्र था, अतः इसी की भाषा निःसन्देह व्यापक रूप से प्रयोग में आती होगी। दिल्ली का महत्त्व तो मुसलमानों के आने (११६१ ई०) के साथ बढ़ा और

धीरे-धीरे इस केन्द्र में तुर्की, फ़ारसी, अरबी, खड़ी, पुरानी पंजाबी और ब्रज के संगम से 'पुरानी उर्दू' बनी। इसे ही ख़ुसरो ने 'हिंदवी' कहा है। मुसलमानों के प्रसार के साथ यही भाषा व्यापक हो गई और ब्रजभाषा केवल साहित्य तक सीमित रहने लगी। दिल्ली केन्द्र में कुरु-पांचाल के लेखकों (खत्रियों, कायस्थों, जाट-गूजरों आदि) से मुसलमानों को अधिक सहायता मिली—वे दिल्ली-केन्द्र के पास थे। इन्हीं की बोली केन्द्र की बोली हो गई।

कब अपभ्रंश समाप्त होती है, कब पुरानी हिंदी शुरू होती है, यह बताना कठिन है। परन्तु आठवीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश से पुरानी हिंदी बनने की प्रक्रिया चल पड़ी होगी। १००० ई० तक पहुँचते-पहुँचते हिंदी ने विकसित रूप प्राप्त कर लिया होगा। १००० ई० के बाद का काव्य तो निश्चय ही हिंदी का काव्य है, परंतु इससे पहले के काव्य को हिंदी स्वीकार करने में सतर्क रहना पड़ेगा।

भाषा ही नहीं, साहित्य के संबंध में भी अनेक समस्याएँ हैं। इस सारे युग (७००-१४००) में संस्कृत हिंदुओं के सांस्कृतिक आदान-प्रदान की भाषा रही है।

साहित्य

यह अवश्य है कि हर्षदेव और बाण के बाद (रा० अ० ६०७ ई०) संस्कृत में साहित्य-रचना का क्रम समाप्त हो गया, परन्तु कई उत्कृष्ट काव्यग्रंथ बाद को लिखे गये, इसमें कोई भी संदेह नहीं और उन्होंने

समसामयिक और परवर्ती हिंदीकाव्य को प्रभावित भी किया। वास्तव में इस युग में संस्कृत रचनाएँ इन तीन प्रमुख श्रेणियों की हुई :

१ पुराण

२ साहित्य-शास्त्र

३ दर्शनग्रंथ और दार्शनिक, भक्तिभावपूर्ण पद्य और स्तोत्र। वास्तव में इस युग में संस्कृत में जो रचना हुई, उसी ने अगले युग के साहित्यिक आन्दोलनों की नींव रखी। सच तो यह है, इस समय के संस्कृत साहित्य और इस साहित्य और भाषा के माध्यम से प्रचारित आन्दोलनों के बिना हिंदी का अगली पीढ़ियों का काव्य संभव ही नहीं हो सकता था। वास्तविक बात तो यह है कि इन ५०० वर्षों का संस्कृत साहित्य बड़ा विपुल और सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा का गौरवमय स्वर्णकाल गुप्तयुग (३००-५००) था। १८० पू० ई० में वृहद्रथ की मृत्यु के साथ सांस्कृतिक केन्द्र मगध में ब्राह्मणराज्य शुरू हुए। (शुङ्ग १८० पू० ई०-११० पू० ई०; कण्व ११० पू० ई०—७१ पू० ई०) इस समय मनुस्मृति प्रभृति ग्रंथ बने और वासुदेवधर्म की प्रतिष्ठा की गई। महाभारत, रामायण, हरिवंश और गीता का आज का रूप इन्हीं सौ वर्षों (१८० पू० ई०-७१ पू० ई०) में निर्णीत हुआ। परन्तु ७१ पू० ई० के आस-पास राजसत्ता दक्षिण के आंध्रों के हाथ में चली गई जो बौद्ध थे

और २१८ ई० तक बनी रही। परन्तु ब्राह्मण हारे नहीं थे। अवन्ति और शौरसेनी प्रदेश (मथुरा) उनके केन्द्र बन गये थे और यहाँ से उन्होंने वासुदेव धर्म का प्रचार किया। ब्राह्मणवंश के नाश के बाद शीघ्र ही पश्चिमी प्रदेश विदेशियों (शकों) के हाथ में चला गया। जान पड़ता है, ५६ पू० ई० के लगभग अवन्तिराज विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर मालवा-संवत् को जन्म दिया और ब्राह्मणों ने बड़े गर्व के साथ इस संवत् को अपना लिया। परन्तु उस से एक शताब्दी बाद (७८ ई०) शकों ने कनिष्क को जन्म दिया जो इस संवत् में पुरुषपुर में सिंहासनारूढ़ हुआ और इसी तिथि से शक संवत् का जन्म हुआ। इस नई शक्ति ने शीघ्र ही फिर पश्चिमी भारत पर शासन कर लिया। कनिष्क बौद्ध था, परन्तु ब्राह्मणों के प्रभाव से शक शीघ्र ही वासुदेवधर्मी बन गये। कनिष्क के पौत्र का नाम ही वासुदेव था। शकराज 'देवपुत्र' कहलाता था। शकों के हाथ से राजशक्ति (३१९ ई०) गुप्तों के वंश में पहुँची जो पूर्णतः ब्राह्मणों के प्रभाव में थे और 'परम भागवत' कहलाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८० पू० ई० से ५०० ई० तक ब्राह्मण आचार शास्त्र, ब्राह्मण धर्मशास्त्र और ब्राह्मण धर्म का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़कर भारतव्यापी हो गया। आँध्रों के पतन के बाद (चौथी शताब्दी ईसवी में) बौद्धों का प्रभाव बड़ी तीव्रता से शिथिल होने लागा और बौद्ध धर्म गुह्य और वाह्याचार की ओर झुका। इस तरह हमारे इस

युग (७००-१४००) में धर्म और साहित्य की दो धाराएँ चली आती हैं। बौद्धधर्म और साहित्य की धारा नष्टप्राय है और उसमें ह्रास के चिह्न स्पष्ट देख पड़ते हैं। सिद्ध-साहित्य इस धारा का प्रतीक है। हिंदू धर्मचेतना उत्तरोत्तर उन्नत ही हो रही है, और उसका जो साहित्य संस्कृत ग्रंथों में सुरक्षित है, उसमें उसकी शक्ति के दर्शन होते हैं। दुःख की बात है, लोकभाषा में उस समय की हिंदू धर्मचेतना के दर्शन नहीं मिलते। हिंदी में धर्म-चेतना के पहले दर्शन हमें रामानंद (मृत्युतिथि १४१८) के दो-एक पदों के रूप में ही उपलब्ध हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के आदिकाव्य (७००—१४००) के युग में जैन, बौद्ध और हिंदू धार्मिक विचार-धाराओं को लेकर संस्कृत में विपुल साहित्य रचा जा रहा था। धर्म और दर्शन इस समय की चिंता के प्रमुख विषय थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन भाषाओं में उस युग की चिंता स्पष्ट रूप से प्रगट हो चली थी। संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् राजदरबारों से संबंधित होते थे। अपभ्रंश का साहित्य जनता में शुरू हो रहा था। इस अपभ्रंश का जहाँ एक साहित्यिक रूप था जो हमारे पास आज तक अपभ्रंश काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों की गद्य-वार्ता आदि में सुरक्षित है, वहाँ इसके अनेक लोकप्रचलित रूप भी थे। इन्हीं रूपों को हम 'पुरानी हिंदी' या 'हिन्दवी' या इसी तरह का कोई नाम दे

सकते हैं। इन्हीं अपभ्रंश रूपों से वर्तमान काव्य की साहित्यिक और प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार अपभ्रंश से कुछ मिला-जुला रूप इस समय की हिंदी का मिलता है। यह मिश्रित रूप १४०० ई० तक चलता है। इसके बाद भी कुछ ग्रंथ अवश्य लिखे गये हैं परन्तु हिंदी उसके (अपभ्रंश के) प्रभाव से छूट गई थी और स्वयं उसका विशाल काव्य साहित्यिक ब्रज, अवधी, राजस्थानी और खड़ी में बनने लगा था।

इस युग के संस्कृत काव्य ने परवर्ती हिंदी काव्य को विशेष प्रभावित किया। संस्कृत में अनेक प्रकार की रचनाएँ हमारे सामने आईं। इन रचनाओं का विचारधारा की दृष्टि से हम इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं:—

१ टीका-साहित्य। पूर्वलिखित ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ इस युग में लिखी गई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ६०० ई० के लगभग लिखी मनुस्मृति की टीका थी और ११०० ई० के लगभग लिखी याज्ञवल्क्य की मिताक्षर टीका। इन टीका-ग्रंथों में अनेक प्रकार की विवेचना-प्रणालियाँ ग्रहण की गईं और बाद के युगों में हिंदूजीवन पर इनका व्यापक प्रभाव रहा। इन टीकाओं ने वर्णव्यवस्था को इतनी दृढ़ भित्ति दे दी कि कर्मगत वर्ण-भावना युग-युग के लिए जन्मगत बन गई। इस प्रकार जातीय और राष्ट्रीय जीवन में धीरे-धीरे विशृंखलता आने लगी।

इन टीका-ग्रंथों को यह श्रेय तो अवश्य मिलना चाहिये कि उन्होंने लौकिक जीवन को धर्म की भित्ति दी, परंतु ब्राह्मण वर्ग की उच्चता और अन्य वर्णों की क्रमागत हीनता के सिद्धान्त के प्रचार ने राष्ट्र का अनिष्ट भी किया।

२—इसी समय कुछ महत्त्वपूर्ण पुराणों और उपपुराणों की भी रचना हुई। श्रीमद्भागवत पुराण इसी समय की रचना है। इसका रचनाकाल ७०० ई० और १२००—१३०० ई० के बीच में है। इसने १४०० ई० के बाद हिंदी-साहित्य पर विशेष प्रभाव डाला। वैसे बारहवीं शताब्दी में ही इसका प्रभाव पड़ना प्रारंभ हो गया था। जयदेव का गीति-गोविन्दम्' इसका प्रमाण है। संभव है, ब्रह्मवैवर्तपुराण भी इसी युग की रचना हो। जयदेव ने अपने ग्रंथ के मंगलाचरण में इसी पुराण की एक घटना को आधार बनाया है। इस पुराण में राधा-कृष्ण का जो रूप हमें मिलता है वह कदाचित् तांत्रिक वाममार्ग की मान्यताओं से प्रभावित है। हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग में इस प्रकार के साधना का केन्द्र था, अतः यहीं इस पुराण की रचना हुई होगी। हिंदी कृष्ण-काव्य पर जिन ग्रन्थों का प्रभाव है वह इसी युग की रचना सिद्ध होते हैं—भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, जयदेव का गीतगोविन्दम्, गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती।

३—इन सात सौ वर्षों में सब से अधिक चिंतन दर्शन-

क्षेत्र में हुआ। अनेक दार्शनिक संप्रदाय उठ खड़े हुए। पूर्ववर्ती काल में बौद्ध दार्शनिकों के अनेक महत्त्वपूर्ण संप्रदाय जनता और विद्वानों की श्रद्धा के पात्र बन चुके थे। इस युग में जब बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा, तो उसकी दार्शनिक चिंता ने नये-नये रूप ग्रहण कर लिये। वादरायण के सूत्रों का आधार लेकर अनेक 'वाद' प्रचलित हो गये। दार्शनिक संप्रदायों का बाहुल्य होने के कारण षट्दर्शन-विषयक ग्रन्थों की रचना हुई। कुमारिल भट्ट ने तंत्रवार्तिक नाम से मीमांसा-सूक्तों का प्रसिद्ध भाष्य किया। शंकराचार्य, रामानुज और मध्व ने त्रयी पर भाष्य लिखे और क्रमशः अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैतमत का प्रतिपादन किया। यह युग दर्शन और धर्म-संबंधी हलचलों का युग था। बहुत संभव है, इन 'वादों' ने इस सामंती युग के हिंदी काव्य को भी प्रभावित किया हो, परन्तु इस युग का हिंदी काव्य केवल बौद्धसिद्धों और नाथों की विचारधारा को लेकर चलता है। संभव है साम्प्रदायिक मठों में इस समय का कुछ काव्य मिला सके। वैसे इन तात्त्विक विवेचनाओं के पहले दर्शन हमें रामानंद (१२९९-१४१८) के काव्य में पहली बार मिलते हैं।

४—ललित काव्य में जो रचनाएँ हुईं उनमें भी पिछले पौराणिक युग से कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस समय के प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ माघ का 'शिशुपाल बध', श्री हर्ष का 'नैषध चरित्र', सुबन्धु का 'वासवदत्ता', बाण की 'कादम्बरी',

राजशेखर के 'वेणीसंहार' और 'कर्पूरमंजरी' और भवभूति के नाटक हैं। इसी समय आर्या-सप्तशती और अमरुक-शतक की रचनाएँ हुईं जिनका बिहारी पर प्रभाव पड़ा और उनके द्वारा रीतिकाव्य पर। सच तो यह है कि रीतिकालीन कृतियों पर संस्कृत की इस काल की रचनाओं की बड़ी छाप रही है। काव्यशास्त्र में भरत का 'नाट्यशास्त्र,' धनञ्जय का 'दशरूपक,' मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' इसी समय लिखे गये। इस प्रकार काव्यांग की विशेष पुष्टि हुई और उसके कई संप्रदाय क्रमशः रस, अलंकार और ध्वनि को सर्वोपरि मानकर चले। १४०० ई० से इस प्रकार के साहित्य की रचना हिंदी में भी होने लगी और इन रचयिताओं ने संस्कृत आचार्यों को पथप्रदर्शक बनाया।

अपभ्रंश और प्राकृत साहित्य मुख्यतः हिंदी प्रदेश के पूर्वी और पश्चिमी सीमांतों पर और उसके बाहर बना। हिंदी का सिद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य और प्रारंभिक चारण साहित्य अपभ्रंश में है या उससे प्रभावित है। अधिकांश हिंदी-विद्वानों का मत है कि इस समय तक अपभ्रंश भाषा में रचना प्रधान रूप से चल रही थी और हिंदी के आधुनिक प्रादेशिक रूप (ब्रज, अवधी, कन्नौज, सरहिंदी या खड़ी) विकसित ही नहीं हो पाये थे। परन्तु १५०० ई० के लगभग हमें ब्रज (सूरदास) और अवधी (जायसी) में जो प्रौढ़ रचनाएँ मिलती हैं, उनका यह रूप एक-दो शताब्दियों में

विकसित नहीं हो सकता । ६०० ई० से १४०० ई० (५०० वर्ष) तक भाषा में परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रही होगी। परंतु अनेक अपभ्रंशों में साम्य भी बहुत है और इससे कदाचित् यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत के अपभ्रंश के ये अनेक रूप किसी मूल स्रोत की ओर इंगित करते हैं। इस प्रश्न को पहली बार डा० मोहनसिंह ने उठाया है–"The North-Indian vernaculars emerged from Shaurseni, Magadhi, Paisachi Ampbhransha and Maharashtri about the Gupta period. In their earliest stage they were very similar. Through literary cultivation extended over all important parts of the country, an almost common (old) Hindwi arose. It was a bye-product of the Rajput-Gurjar Revival of the 7th century A. D. and therefore it partook mostly of Rajput-Gurjar Phonetics and its earliest phase resembles most the modern Rajasthani. It held sway over the whole North-India, part of Bengal, Central India and right up to the Konkan area. Later, the various vernaculars developed further and poetry was written by the same writers both in Hindwi and in these well developed vernaculars.

(Urdu Literature, p. 1.)[1] जैनसाहित्य, चारण साहित्य, नाथसाहित्य की भाषा और पुरानी हिंदवी में बहुत कुछ समानता है, अतः यह अनुमान सत्य भी हो सकता है। जो हो, भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से यह काल महत्त्वपूर्ण है। अगले युगों के हिंदी साहित्य के इतिहास पर इस युग के संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसी दृष्टि से भी इस विशाल साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। सच तो यह है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में सिद्ध-सामंत युग में जितना सोचा गया, तर्क द्वारा स्थापित किया गया,

---

१—उत्तर भारत की भाषाएँ गुप्तकाल के लगभग शौरसेनी, पैशाची और महाराष्ट्री अपभ्रंशों से निकली हैं। प्रारंभिक अवस्था में इनमें परस्पर बड़ा साम्य था। देश के प्रमुख भागों में इसी में साहित्यिक रचनाएँ होने के कारण एक सामान्य भाषा (पुरानी हिंदवी) का जन्म हुआ। सातवीं शताब्दी में राजपूत-गुर्जर पुनर्जागरण से इस भाषा को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हो गई और अनेक राजपूत-गुर्जर ध्वनियाँ इसमें मिश्रित हो गईं। इस नये रूप में उसके आरंभ के नमूनों और आधुनिक राजस्थानी में विशेष अंतर नहीं है। सारे उत्तरी भारत, बंगाल के कुछ भाग, मध्य भारत, कोंकण तक के सारे प्रदेश में इसका प्रचार था। धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न भाषाएँ विकसित हो गईं और कुछ दिनों कविगण प्रादेशिक भाषाओं और हिंदवी दोनों में रचना करते थे।

लिखा गया, वह सब अभी हमें प्राप्य नहीं है। जो प्राप्य है उससे पता चलता है कि इस युग के बाद बुद्धिपरक प्रवृत्तियों का ह्रास हो गया और धर्म और दर्शन दोनों क्षेत्रों में अनुभूति की प्रधानता हो गई। इसी से इस युग के बाद हिंदी के रहस्यवादी काव्य और भावनाप्रधान भक्ति का समय आता है।

जो हो, साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि हमारे इस सामंती युग (७०० ई०—१४०० ई०) में बुद्धिविलास सर्वोच्च शिखर तक पहुँच गया था। इसी से इस युग की रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता नहीं है। ११९२ ई० में जब दिल्ली पर मुसलमानों का शासन हो गया तो उस समय की मनोवृत्ति तर्कवाद से हटकर हृदयवाद को आश्रय बनाने लगी। धर्म में नये प्रकार से प्रवर्तन हुआ। जहाँ सिद्धों का अनीश्वरवादी रहस्यवाद चल रहा था, वहां गोरखपंथियों का ईश्वरवादी योगमार्ग आया। बुद्ध के स्थान पर राम-कृष्ण आ गये। क्यों बुद्धिवाद से हट कर हृदयवाद की ओर हिंदी-प्रदेश की जनता बढ़ रही थी, यह कहना कठिन है, परंतु इसका विदेशी सत्ता की विजय से थोड़ा संबंध अवश्य है। सारा देश 'वादों' की मरुभूमि से निकल कर रागात्मक भावुकता के विलास-कानन में विश्राम लेने लगा।

'साहित्य' शब्द का एक परिमित अर्थ है। सदियों से रसात्मक रचना को साहित्य कहा जाता है। परंतु सामंतयुग की कुछ

रचनाएँ जैसे सिद्धों और नाथों का साहित्य और परवर्ती काल का संतसाहित्य साहित्य की समस्या को उलझा देते हैं। उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो रसात्मक नहीं है। तब उसे साहित्य क्यों कहा जाय ? आधुनिक आलोचकों का एक वर्ग उसे साहित्य नहीं मानता। परंतु साहित्य वास्तव में बड़ी व्यापक चीज़ है। उसमें मनुष्य की सारी विचारधारा, उसका सारा मनस्तत्त्व, उसके हृदय-मन की सारी अनुभूति आ जाती है। इसलिये इन गद्यात्मक रचनाओं को भी हम साहित्य कोटि में रखेंगे। इस व्यापक परिभाषा से विराग का साहित्य भी शुद्ध साहित्य बन जाता है। सच तो यह है कि निम्न श्रेणियों से आने वाला रूढ़ि मुक्त यह जनसाहित्य सामंतों और धनधान्य-पूर्ण वैष्णव मंदिरों के भीतर से आने वाले साहित्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें हमें वर्गहारा चेतना का नवीन सांस्कृतिक संदेश मिलता है। यदि किसी युग की सबसे महत्त्व-पूर्ण संस्था उसकी जनता है तो यह जनसाहित्य हमारी अमूल्य निधि है। उपनिषदों के समय (१००० ई० पू० से ७०० ई० पू०) से अट्ठारहवीं शताब्दी तक हिंदी के पूर्वी प्रदेश में साहित्य की ऐसी धाराएं चलती रही हैं जिन्होंने वर्ण और वर्ग के ऊपर मनुष्य और रूढ़िवादी अवतार भावना की सांप्रदायिकता के ऊपर क्रांतिकारी रहस्यवादी सार्वभौमिक चेतनता की स्थापना की है। उपनिषद्, बुद्ध और महावीर के साहित्य, सिद्ध, नाथ और संत धाराओं में बह कर यह धारा हमारे समय तक अक्षुण्ण

चली आई है। संसार की धर्म-चेतना में इतना सार्वभौम, सर्व-ग्रासी चिंतन कहीं नहीं मिलेगा। जिसे हम अभी तक साहित्य की कोटि में स्वीकार करने तक से हिचकते थे, वही कल संसार का सर्वश्रेष्ठ साहित्य सिद्ध होगा। सिद्ध-सामंत-युग की सिद्धों और नाथों की कविताएँ इस दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो प्रतीक की अगम्यता के कारण आज बोधिगम्य नहीं हैं। जो है, वह सब युगों में अभिवंद-नीय है।

२—राजनैतिक अवस्था

६०६ ई० से ६४६ ई० तक सम्राट हर्षवर्धन का राज्यकाल है। ६५७ ई० में हर्ष की मृत्यु के साथ ही भारतीय साम्राज्य की परंपरा का नाश हो गया और मुग़लों के समय तक कोई बड़ा और प्रभावशाली साम्राज्य नहीं बन सका। मगध के मुखारी और गुप्त शासक राजनैतिक शक्ति के लिए झगड़ने लगे। इसी परिस्थिति में भारतवर्ष का एक नवीन शक्ति से संघर्ष हुआ। यह शक्ति मुसलमानों की थी। हिंदीप्रदेश में यह नवीन मुसलमान शक्ति १२ वीं शताब्दी में आई परंतु साहित्य और समाज पर उसका प्रभाव किसी न किसी रूप में पहले ही पड़ना शुरू हो गया था। ७११ ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम ने आलोर पर विजय प्राप्त की और लगभग तीन शताब्दियों तक के लिए सिंध मुसलमानों के हाथ में चला गया। १३वीं शताब्दी में सौवीर वंश ने स्वतन्त्रता प्राप्त की परन्तु कुछ ही समय बाद

इसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। मुलतान और मनसूरा उन दिनों सिंध प्रदेश की राजधानियाँ थीं। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कई शताब्दियों तक पंजाब में उच्छृंखलता का राज रहा। १० वीं शताब्दी के अंत में इस प्रदेश में 'पाल' वंश के राजा राज करते थे। लाहौर राजधानी थी। इन्होंने काश्मीर और मुलतान पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। ९९७ ई० में सुबतगीन गज़नी के नये राज का शासक हुआ। पंचनद प्रदेश के स्वामी जयपाल ने उससे युद्ध किया, परंतु परास्त हो गया। हिंदूराज्यों में अभी अपनी संस्कृति और अपने धर्म का बड़ा गर्व था और उन्होंने (दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौज ने) मिल कर पड़ोस के इस नए विधर्मी राष्ट्र को तोड़ना चाहा। काल ने उनका साथ नहीं दिया और पुरुषपुर (पेशावर) भी हिन्दुओं के हाथ से चला गया। सुबतगीन के पुत्र महमूद से तो २५ वर्ष तक बराबर युद्ध चलता रहा। १००१ ई० से १०२३ ई० तक महमूद ने १० बार आक्रमण किया। भारतीय हिंदू राजनीति को इन आक्रमणों ने झकझोर डाला। १०२६ ई० के महमूद के सोमनाथ के आक्रमण में हिंदू पुरोहितों और राजाओं ने संगठित शक्ति से इस विधर्मी बवंडर का सामना किया, परन्तु वे असफल रहे। १०२३ में ही महमूद ने पंजाब को गज़नी के साम्राज्य में मिला लिया था। इसी समय तातारियों ने गज़नी-साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण आरंभ किये और महमूद और उसके वंश के परवर्ती राजा कुछ दिनों के

लिए इसमें उलझ गये। हिंदू राजाओं ने लाहौर को जीतने की चेष्टा की, पर वे केवल अमरकोट ही लौटा सके। उधर ग़ज़नी का शासक ग़ोर वंश बन बैठा। परंतु सुलतान बैराम लाहौर भाग आया। ११८६ ई० में लौहार भी ग़ोरियों के हाथ में चला गया। ११९३ ई० की तराईन की दूसरी लड़ाई में अंतिम हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज मारे गये और एक वर्ष बाद कन्नौज पर भी मुसलमानों का राज्य हो गया। ११९७ ई० में ग़ोरी के सिपहसालार बख़्तियार ख़िलजी ने अवध, उत्तर बिहार और गौड़ राज्य और नवद्वीप (११९९) भी जीत लिये। १२०२ ई० तक सारा हिंदी प्रदेश—नहीं, सारा उत्तरी भारत—मुसलमानों से विजित हो चुका था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध-सामंत युग में हिंदी के पश्चिमी प्रदेश और सीमांतों पर बड़ी उलथ-पुथल हो रही थी। चारण काव्य इसी उथल-पुथल का फल है। इसका काल १००० ई० के बाद होना चाहिये। आलोर-विजय (७११ ई०) के कुछ पहले ही मुसलमान सूफ़ी हिन्दोस्तान पहुँच गये थे। मुलतान, लाहौर, दिल्ली और अजमेर इनके केन्द्र थे। इन्होंने ही 'हिंदवी' काव्य की नींव डाली। लक्ष्य था दीन का प्रचार। इनका अधिकांश साहित्य अब लुप्त है परन्तु उसमें या तो प्रचार के स्वर बोले होंगे, या सूफ़ी मत के। हिंदू-मुसलमान संस्कृतियों के समन्वय की बात इस साहित्य में नहीं है। वास्तव में इस्लामी प्रभाव हमारे यहाँ इस्लामी संतों और सूफ़ियों के माध्यम से

आया। जब तक यहाँ विदेशी सत्ता धार्मिक शासकों के रूप में दृढ़ नहीं हुई तब तक किसी बड़ी संख्या में धर्म-परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु अछूत कहाने वाली जातियाँ सामाजिक व्यवस्था से स्पष्टतया असंतुष्ट थीं और उन्होंने कुछ संख्या में इस्लाम धर्म अवश्य स्वीकार कर लिया होगा। जो हो, इस्लामी सत्ता ११९३ की तराई की लड़ाई के पहले हिन्दीप्रदेश में पैर नहीं जमा सकी। अतः सिद्ध-सामंत काल को राजनैतिक दृष्टि से हम दो भागों में बाँट सकते है :

(१) राजपूत युग ७५०-१२००
(२) सांस्कृतिक प्रतिकार युग (हिंदू-मुसलिम संघर्ष युग) १२००—१४००

राजपूत युग (७५० ई०—१२०० ई०) में एक तरह से सारा देश स्वदेशी राजसत्ताओं के ही अधीन था। सिंध प्रदेश केवल ५० वर्षों तक ही खलीफ़ा के साम्राज्य में रहा। फिर वह एक छोटा स्वतंत्र मुसलिम राष्ट्र ही रह गया। पंजाब भी १०२३ ई० तक हिंदू शासन में रहा। परन्तु धीरे-धीरे सिंध और पंजाब में हिंदू-मुसलिम समन्वय आरंभ हो गया। जब ग़ज़नी तातारियों और ग़ोरवंश के हाथ में चली गई तो ग़ज़नी के मुसलमान शासक यहाँ स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे। इस प्रकार १०५०-११८६ तक लाहौर हिंदू-मुसलमान संस्कृतियों के समन्वय का केन्द्र रहा। दिल्ली-विजय (११९३ ई०) के बाद यह केन्द्र दिल्ली हो गया।

इस राजपूत युग में हिंदी की दृष्टि से मुसलिम अधिकृत पश्चिमी भारत इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितने राजपूत राज्य। इनमें से अधिकांश हिंदी प्रदेश में थे। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण थे (१) कन्नौज (२) राष्ट्रकूट (३) पाल (४) प्रतिहार।

कन्नौज

गुप्तवंश (३१६ ई०—५१० ई०) के नाश के बाद सारा भारत कई छोटी-छोटी राजसत्ताओं में बँट गया। पश्चिम प्रदेश हूणराज मिहिरकुल के निरंकुश शासन में आ जाता यदि उज्जयिनी (मालवा) के राजा यशोधर्मदेव उसे करोर के युद्ध (५३३ ई०) में परास्त न कर देते। कदाचित् यही यशोधर्मदेव विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, परंतु इस विषय में बड़ा मतभेद है। कहा जाता है कि यशोधर्मवर्धन के साम्राज्य में गुजरात का वल्लभी राज्य, मगध का गुप्तराज्य, पश्चिमी मगध के मुखारी और स्थानेश्वर (थानेश्वर) के राज्य भी सम्मिलित थे। गुप्तसाम्राज्य के नष्ट होने पर कान्यकुब्ज में मुखारी जाति को प्रधानता मिली। इस जाति का सबसे बड़ा नाम हर्षवर्धन (६०७-६५७) का है।

इस प्रकार लगभग तीन सौ वर्ष तक (५५० ई०-८१५ ई०) कन्नौज मौखरियों, हर्षवर्धन और उसके सेनापति मंडी के वंश के प्रबल और विशाल राज्यों का केन्द्र रहा। आदिकाव्य के जन्म के समय कन्नौज पर मंडी वंश के निर्बल शासक राज करते थे। इस समय सिंध और पंजाब पर मुसलमान-आक्रमण के काले

बादल उमड़ रहे थे। मुसलमान सिंध (७१२ ई०) और मुलतान (७१३ ई०) तक ही आकर रह गये। परन्तु कन्नौज की समृद्धि, कन्नौज का तीन शताब्दियों का गौरव और कन्नौज के निर्बल भुजदंड देशी राज्यों को आकर्षित कर रहे थे। हर्षवर्धन के साम्राज्य के टुकड़े होने पर जो अलग-अलग राज्य क़ायम हुए थे, उनमें बिहार-बंगाल के पाल और गुजरात-मालवा के प्रतिहार मुख्य थे। सुदूर दक्षिण में राष्ट्रकूटों की दृष्टि कन्नौज पर लगी थी। प्रतिहार वत्सराज (७८३) गौडेश्वर धर्मपाल (७७०-८०६) और राष्ट्रकूट ध्रुव (७८०-९४) तीनों ने एक ही समय कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। प्रतिहार नागभट्ट इन तीनों शक्तियों में से विजयी हुआ और कान्यकुब्ज पर प्रतिहारों का राज्य हो गया। पाल और राष्ट्रकूट अपने-अपने देश लौट गये। उत्तरी भारत की रक्षा करने का भार कन्नौज के प्रतिहारों पर ही था। दो शताब्दियों तक प्रतिहार इस भार को ढोने में समर्थ रहे, परन्तु १०१८ ई० में राज्यपाल ने महमूद गजनवी के आगे सिर झुका लिया और इससे प्रतिहारों की प्रतिष्ठा का महल एकदम छिन्नभिन्न हो गया। शीघ्र ही कन्नौज के अधीन सामंत चन्देल (कालिंजर), कलचुरी (त्रिपुरी) और चौहान (सांभर, अजमेर) स्वतंत्र हो गये। राज्यपाल की तीसरी पीढ़ी में (१०८० ई०) राष्ट्रकूटों (गहड़वार) वंश का चंद्रदेव कन्नौज का अधिपति बन गया। गहड़वार प्रतिहारों

की तरह बलवान नहीं हो सके। चौहान, चंदेल और कलचुरी कन्नौज से अपनी पटरी बिठाने के लिए किसी तरह तैयार नहीं थे। परन्तु फिर भी कन्नौज की धाक तो बनी ही हुई थी। चंद्रदेव के पौत्र गोविन्दचंद के समय (१०९३-११३४) गहड़वार-वंश उत्तरी भारत का सबसे अधिक बलशाली राज्य था। गोविन्दचंद के पौत्र जयचंद (११७०-९३) के समय गहड़वार शक्ति काफ़ी निर्बल हो चुकी थी और चंदेल परमाद्रि (११६७-१२०२ ई०) और सांभरिराय रायपिथौर (पृथ्वीराज चौहान, ११५१-११९१) कन्नौज से स्पर्द्धा करने लगे जिसके फलस्वरूप अनेक युद्धों में देश की राष्ट्रीय शक्ति बराबर क्षीण हो रही थी।

राष्ट्रकूट

जिस समय हर्षवर्धन उत्तरी भारत में सम्राट् पद पर आसीन था (६०१—६५१) उस समय दक्षिणी भारत में चालुक्यवंशी पुलकेशी राज्य कर रहे थे। हर्षवर्द्धन ने दक्षिणी भारत को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहा, परंतु वे चालुक्यों से पराभूत हो गये। ७५३ ई० के लगभग राष्ट्रकूटों ने चालुक्यवंश को समाप्त कर लिया। ७५३ ई० से ९७३ ई० लगभग २५० वर्ष तक राष्ट्रकूटवंशी वल्लभराज भारत के सबसे बलवान राजा रहे। नर्मदा से कृष्णा और कभी-कभी काँची तक उनका विशाल राज्य फैला हुआ था और सुदूर रामेश्वरम् और सिंहलद्वीप तक उनकी सत्ता की धाक थी। अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच का काठा) तक उनके

घोड़ों की टाप सुनाई पड़ती थी। इन्हीं राष्ट्रकूटों के कारण अरब दक्षिण भारत में पैर नहीं रख सके। वास्तव में राष्ट्रकूट 'रट्ट' क्षत्रियों (दक्षिण का एक क्षत्रिय वर्ग) का एक वंश था। मान्यखेट इनकी राजधानी थी। ७५२ ई० में राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग ने चालुक्य कृतिवर्मा को परास्त कर लिया। गुजरात भी कुछ दिनों बाद राष्ट्रकूट साम्राज्य में आ गया। ११ वीं शताब्दी में यही राष्ट्रकूट "राठौर" नाम से कन्नौज के अधिपति बने। ये राष्ट्रकूट शिव और विष्णु के उपासक थे। अब भी इनकी एक शाखा जोधपुर में राज्य कर रही है। दक्षिण के इन राष्ट्रकूटों का अंतिम राजा 'कोकल्ल' था। चालुक्यवंशी तैलप द्वारा ६७२ ई० में यह मार डाला गया। तैलप ने कल्यान को राजधानी बनाकर एक छोटे-मोटे साम्राज्य की स्थापना करनी चाही।

पाल

गुप्तवंश की समाप्ति के बाद पूर्वी मगध में कृष्ण गुप्त ने एक दूसरा राज्य स्थापित किया। ६७२ ई० में आदित्यसेन स्वतंत्र रूप से इसका शासक था। इसी वंश में प्रसिद्ध नरेन्द्रदेव (शशांक) राजा हुआ। हर्षवर्द्धन द्वारा शशांक के वध के बाद पूर्वी मगध की परिस्थिति कुछ दिनों के लिए विषम हो गई। ८ वीं शताब्दी के मध्य में गोपाल ने ओदन्तपुरी को राजधानी बनाकर एक नए राज्य की स्थापना की। इसी वंश के गौडेश्वर धर्मपाल (७७० ई०-८०६ ई०) ने कन्नौज को आक्रमण करके हस्तगत करना चाहा, परन्तु असफल रहा। उसके पुत्र देवपाल

(८१५ – ३४) ने भी उत्तर का चक्रवर्ती बनना चाहा, परन्तु अंत में जयमाला नागभट्ट के गले पड़ी। यह पाल वंश बौद्ध-धर्मानुयायी था। नालंदा और विक्रमशिला नाम के दो प्रसिद्ध बौद्ध विहार और विश्वविद्यालय इसी राज्य की छत्रच्छाया में प्रसिद्धि पाते रहे। चीन, अनाम, स्याम जैसे दूर के देशों से छात्र यहाँ आकर विद्याध्ययन करते थे। १०६६ ई० में विक्रमशिला के महाचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। काशी से कामरूप तक इस गौड़ राज्य की सीमा थी और वे गौडेश्वर नाम से प्रसिद्ध थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में इस क्षेत्र में एक नई शक्ति जागृत हुई। कर्णाट के एक छोटे राजा सामंतसेन ने अपने देश से निर्वासित होकर नवद्वीप में अपना नया राज्य स्थापित किया। इसके पौत्र विजयसेन ने नैपाल के राजा नान्यदेव को परास्त किया।

सेन

विजय सेन के पुत्र बल्लालसेन सेन के साम्राज्य में राढ़ (पश्चिमी बंगाल), वारेन्द्र (उत्तरी बंगाल), बागटी (गंगा-समुद्र), बंग (पूर्व बंगाल) और मिथिला सम्मिलित थे। ११११ ई० में इस वंश के लक्ष्मणसेन ने लक्ष्मण संवत् चलाया जो बंगाल में अब तक प्रचलित है। ११९९ ई० में जब लक्ष्मणसेन ८० वर्ष के थे, बख्तयार खिलजी ने गौड़ और नवद्वीप को विजित बना लिया। लक्ष्मणसेन भाग कर विक्रमपुर चले गये और लगभग एक शताब्दी तक सेनवंश वहाँ राज्य करता रहा। सेनराज्य

का एक प्रधान सांस्कृतिक केन्द्र मिथिला था। मिथिला के सर्व-प्रथम ऐतिहासिक राजा नान्यदेव थे जो कर्णाट से आये थे और जिन्होंने सियराँव गढ़ में अपनी राजधानी (१०९७ ई०) बसाई। इस वंश ने २२६ वर्ष (१३२६ ई०) तक राज किया। इसके बाद मिथिला का राज्य मैथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आया। कुछ ही दिनों बाद यह राज्य सुलतान फिरोज़शाह (१३५१—८२) के आधीन हो गया।

दशवीं शताब्दी का अंत होते-होते उत्तरी भारत में पालों गहड़वारों, चालुक्यों, चंदेलों और चौहानों के अतिरिक्त गुजरात और मालवा के दो और स्वतंत्र राज्य बन चुके थे। गुर्जर-सौलंकी (चालुक्य) कन्नौज के पतन के फलस्वरूप और मालवे के परमार राष्ट्रकूटों के विनाश (९७४) के फलस्वरूप। गुर्जर-सौलंकी (९६१—१२५७) जैन अपभ्रंश काव्य के आश्रयदाता के रूप में हमारे साहित्य के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। मुंज (९७४–७५) और भोज परमार (१०१०—५६) ने अपभ्रंश और प्राकृत कवियों को विशेषरूप से आश्रय दिया। हर्षवर्धन के समय मालवा कन्नौज के साम्राज्य में मिला लिया गया था। इसके बाद की राजनैतिक परिस्थितियों का कोई पता नहीं चलता। ९ वें शताब्दी के आरंभ में अचलगढ़ (आबू पर्वत) के परमारों ने मालवे पर अपना विजयकेतु लहरा दिया। उपेन्द्र इनका नायक था। धार राजधानी हुई। मुंज इसी परमार वंश का छठा शासक था। धनिक, धनंजय और

हलयुध जैसे प्रसिद्ध लेखक इसके दरबार में रहते थे। इसने १६ बार तैलप (चालुक्यराज) को परास्त किया। सत्रहवीं बार वह बंदी हो गया और तैलप ने (९९३ ई०) उसका संहार कर दिया। उसके बाद उसका भाई सिंधुराज, फिर भतीजा भोज मालवाधिपति हुए। अलाउद्दीन खिलजी के समय (१२९५—१३१६) तक मालवा स्वतंत्र रहा।

७३६ ई० में अनंगपाल तोमर ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया, परंतु कई शताब्दियों तक दिल्ली विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकी। ११५१ ई० में अजमेर के चौहान बीसलदेव ने दिल्ली विजय की और अनंगपाल ने उसके पुत्र सोमेश्वर से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। शर्त यह हुई कि सोमेश्वर का पुत्र ही अनंगपाल के बाद दिल्ली का शासक बने। यही रायपिथौरा (पृथ्वीराज) हुआ। हिंदी के दो प्रारंभिक चारणग्रंथ वीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो चौहानों से ही संबंधित हैं।

नवीं शताब्दी के आरंभ में चंदेल राजपूतों ने यमुना से नर्मदा तक एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया था। ग्वालियर और कालंजर इस राज्य के केन्द्र थे। लाहौर के राजा जयपाल के साथ धंग चंदेल ने सुबुक्तगीन ग़ज़नवी से युद्ध किया था और उसके पुत्र गंड ने कन्नौजपति राज्यपाल का इसलिये बध किया था कि उसने महमूद ग़ज़नवी से सुलह कर ली थी। पृथ्वीराज के समय में परमाद्रि देव (परमाल) इस प्रदेश का शासक था। पृथ्वीराज चौहान ने इस प्रदेश पर बराबर

आक्रमण किया और धीरे-धीरे उसका एक बड़ा भाग दिल्ली और अजमेर में मिला लिया। कुतबुद्दीन ने कालिंजर जीत लिया था, परंतु परमाल के पुत्र ने उसे फिर अपने हाथ में कर लिया। लगभग तीन शताब्दी तक महोबा स्वतंत्र रहा। १५४६ ई० में शेरशाह ने कालिंजर दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया।

संक्षेप में, सिद्धसामंत युग में राजनैतिक परिस्थिति यह थी। हर्ष की मृत्यु (६५७ ई०) से दो सौ वर्ष बाद तक वर्द्धन वंश, गुप्त वंश और राष्ट्रकूटों के हाथ में शक्ति रही। नवीं शताब्दी के मध्य में अनेक राजपूत वंशों का अभ्युदय हुआ और उन्होंने देश भर में अपनी छोटी-बड़ी सत्ताएँ स्थापित कर लीं। राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में बड़ा मतभेद है। यूरोपियन विद्वानों का मत है कि राजपूत उन शकों-हूणों की सन्तान थे जो मिहिरकुल के पतन के बाद इस देश में रह गये। ब्राह्मणों ने इन्हें गौरवशाली बनाने के लिए देश के पौराणिक महापुरुषों से इनका संबन्ध जोड़ दिया। यादव कृष्णवंशी हुए, चालुक्य सूर्यवंशी, पल्लव अश्वत्थामावंशी। परमारों, चौहानों आदि की उत्पत्ति यज्ञ से बताई गई और उन्हें अग्निवंशी कहा गया। पालों की उत्पत्ति समुद्र से बताई गई। जो हो, यह स्पष्ट है कि अधिकांश राजपूतों का सम्बन्ध आबू पर्वत के प्रदेश से था। परमाल, चौहान, चँदेले, तोमर किसी न किसी प्रकार राजस्थान से ही सम्बन्धित हैं। संभव है कि

इनमें किसी मात्रा में शकों और हूणों का रक्त हो। राष्ट्रकूट (राठौर) और पाल प्रभृति राजवंश प्राचीन क्षत्रिय शासक वंशों से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। लगभग चार शताब्दियों तक सारा उत्तरी भारत इन्हीं राजपूतों के शासन में रहा। यह स्पष्ट है कि इन छोटे-छोटे युद्ध-व्यवसायी सामंतों के कारण भारत का केन्द्रीय राष्ट्रीय जीवन नष्ट हो गया था। परन्तु फिर भी कई शताब्दियों तक विदेशी मुसलमान सत्ता भारत के द्वार पर सिर टकराती रही। मुसलमानों की प्रगति इन तिथियों से स्पष्ट होती है—आलोर (७१२ ई०), मुलतान (७१३ ई०), लाहौर (१०२३ ई०), दिल्ली और अजमेर (११६१), कन्नौज (११६३ ई०), गौड़ और नवद्वीप (११६६ ई०), मिथिला (१३५१ के बाद), मालवा (१२६५ के बाद), कालिंजर (१५४५ ई०), गुजरात (१२६७)। यह स्पष्ट है कि आठवीं-नवीं-दशवीं शताब्दियों में बाहरी प्रभाव इतने प्रबल नहीं थे। देश का राजदंड सशक्त था। जो धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन इन तीन शताब्दियों में उठे, वे देश की जागरूक शक्ति का प्रमाण थे। परन्तु धीरे-धीरे एक युद्ध-व्यवसायी समाज का जन्म हो गया था। सामंत धीरे-धीरे विलासी हो गये। नवीं-दशवीं शताब्दी तक हमारा राजनैतिक संगठन इतना दृढ़ था कि विदेशियों की दृष्टि पड़ना कठिन बात था। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में उत्तर भारत आधे दर्जन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया। ये छोटे-छोटे

राज्य लड़ने-झगड़ने और झूठी प्रतिष्ठा को ही अपना जीवन-व्रत समझने लगे। फल यह हुआ कि इस आंतरिक कलह से लाभ उठा कर विदेशी आक्रमणकारियों ने भारतभूमि की ओर अपना मुँह किया। सोमनाथ (१०२७ ई०) और मथुरा (१०२२) तक मुसलमानों के आक्रमण ११ वीं शताब्दी में हो चले थे, परन्तु राजपूत सामंत आपस में लड़ते रहे। इन शताब्दियों में धर्म, दर्शन, काव्य-शास्त्र, पुराण (इतिहास) और काव्य की बड़ी-बड़ी उड़ानें भरी गईं। परन्तु जान पड़ता है जिस वर्ग के हाथ में शक्ति थी वह सामंत वर्ग इन्हें केवल मनोविनोद की वस्तु समझने लगा था। राष्ट्र का जीवन धीरे-धीरे क्षीण होता जाता था।

३-आर्थिक और सामाजिक अवस्था

सिद्ध-सामंत युग (७५०-१४००) की पहली ४-५ शताब्दियों में आर्थिक दृष्टि से भारत बहुत संपन्न था। भारत के कारीगरों की बनी चीजें उस समय ज्ञात संसार के लिए बड़ी मूल्यवान थीं। विशेषकर भारतीय कपड़े, मसाले, गोटे की कारीगरी और लकड़ी के काम की चीजें विदेशों में अत्यंत लोकप्रिय थीं। प्लीनी (२३ ई०-७९ ई०) ने लिखा है कि रोम को अपनी विलासिता के लिए करोड़ों रुपए हिन्दोस्तान को देने पड़ते थे। इन दिनों शिल्प और वाणिज्य में भारत संसार का सबसे समृद्ध देश था। अरब, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, यूरोप और वृहत्तर भारत (पूर्व के भारतीय

उपनिवेश) से राशि राशि धन-सम्पत्ति हमारे देश में चली आ रही थी। शिल्प और व्यापार के साथ कृषि भी अत्यंत उन्नत थी। इस युग के अनेक बड़े-बड़े जलाशय अब भी इसके प्रमाण-स्वरूप उपस्थित हैं। सच तो यह है कि उस काल के संसार ने विज्ञान और ज्ञान के क्षेत्र में जहाँ तक उन्नति की थी उससे भारत परिचित था। यही नहीं, वह इन क्षेत्रों में सबसे आगे बढ़ा हुआ था।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि समाज और राष्ट्र के सारे वर्ग, सारे जन एक ही प्रकार सुखी थे। वास्तव में इस समय भारतीय समाज के अनेक वर्ग थे। सबसे ऊपर था राजा या सामंत। उसके ऐश्वर्य और आमोद-प्रमोद की सीमा नहीं थी। सामान्य राजे-महाराजों और सामंतों के राजमहल विलास और भोगलिप्सा के केन्द्र हो रहे थे। कन्नौज, मान्यखेट, पटना, नवद्वीप आदि बड़ी-बड़ी राजधानियों के वैभव का आंकना कठिन है। इस समय की अधिकांश रचनाएँ सामंती जीवन पर प्रकाश डालती हैं। भोजन, वस्त्र, आमोद-प्रमोद की वस्तुएँ, सुगन्ध, उत्सव-समारोह, तीज-त्यौहार सबमें जनता का रुपया पानी की तरह बहता। दूर-दूर देशों से आमोद-प्रमोद की वस्तुएँ सुलभ की जातीं। नये-नये महल बनते। क्रीड़ा-उपवनों, सिंहासनों, राजशय्याओं, मोरछल्लों, चमरों, हीरा-मोती जड़े आभूषणों आदि पर अपार धन व्यय होता। राजमहलों की सजावट, चित्रकला, क्रीड़ा-मृग, सोने के

पींजड़ों में बंद शुकसारिका, लोहे के पींजड़ों में बंद केसरी। ये कदाचित् उस सामंत युग के प्रतीक हैं। एक-एक सामंत के अनेक नारियाँ होतीं। कभी-कभी पूरा रनवास बन जाता। इस रनवास पर अलग अपार धन व्यय होता। फिर राजवंश के पुरुष थे। सारे राजवंश विवाह-सूत्रों में बंधे हुए थे। जब कोई राष्ट्र लड़-भिड़ कर नष्ट हो जाता तो सामंत अपने सहायक सैनिकों के साथ अपने संबंधियों का आतिथ्य ग्रहण करते कन्नौज से सिंहल तक घूमा करते। कलाकारों, कवियों, संगीतज्ञों, चित्रकारों, मूर्तिकारों और विदूषकों (चाटुकारों) की एक बड़ी लंबी फौज प्रत्येक सामंत के पास रहती। उस समय कला विलास की सामग्री बन गई थी, विलास कलामय हो गया था। दास-दासियों की अपार संख्या से घिरा हुआ यह युद्धव्यवसायी सामंत-वर्ग धीरे-धीरे भारतीय जनता की शक्ति का शोषण कर रहा था।

इन सामंतों की भाँति ही ऐश्वर्यशाली थे पुरोहित या महंत। सामंतयुग बड़े-बड़े विशाल महाकाय चैत्यों और मंदिरों का युग है। इन चैत्यों और मंदिरों में पुरोहित या महंत महाराज की भाँति ही ऐश्वर्यशाली होता। प्रत्येक मंदिर के साथ दास-दासी, सेवक-सेविकाओं, कारीगरों, कलाकारों, कवियों, संगीतज्ञों, मूर्तिकारों आदि का बड़ा झुंड रहता। अबाध गति से कई-कई शताब्दियों तक जनता की श्रद्धा का मुख इन मंदिरों की ओर खुला रहता। अतः कभी-कभी ये बड़े-बड़े राजघरानों से

भी अधिक ऐश्वर्यशाली हो जाते । सोमनाथ (शिव) और नालंदा के तारा के मंदिरों की समृद्धि तब भी कहानी थी जो सात समुद्र पार दूर-दूर देशों में पहुँच गई थी। वास्तव में विदेशी मुसलमान शक्तियाँ भारत में धर्म-प्रचार (Religious Crusade) की दृष्टि से नहीं आईं। राजधानियों, राजमहलों और मंदिरों-मठों के ऐश्वर्य की कहानियों ने ही उन्हें भारतभूमि की ओर आकर्षित किया। जब तक सामंतों की भुजाओं में बल था, तब तक इनकी रक्षा होती रही। जब सामंतों के हाथ पारस्परिक कलह से निर्बल हो गये, तब ये विदेशी आक्रमण से बच नहीं सके । और इन चैत्यों-मठों-मंदिरों में ही तंत्र-मंत्र और सिद्धि के नाम पर व्यभिचार का जाल खड़ा किया गया था।

इनके बाद बड़े-बड़े व्यापारी आते थे। मौर्यों के समय से ही बड़े-बड़े श्रेष्ठी देश में मौजूद थे। जैसे-जैसे देश का व्यापार बढ़ता गया, बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित होते गये, इनकी व्यापारिक शक्ति बढ़ती गई। इस समय बड़ी-बड़ी राजधानियों के श्रेष्ठियों की कोठियों का जाल देशविदेश में दूर-दूर तक फैला था। इन महासेठों, नगरसेठों और धनिकों ने देलवाड़ा (आबू) जैसे संगमरमर के अनेक मंदिर बनवा कर धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की है, परंतु अब इन्हीं से हम जनता के शोषण का भी पता लगा सकते हैं। वास्तव में सामंत, संत-महंत और सेठ-साहूकार और इनके संपर्क में आने वाले

चाटुकार-कवि-कलाकार ही इस समय भारत की अपार संपत्ति को भोग रहे थे। साधारण जनता को इससे क्या ? दास-दासी, किसान, कम्मी, कारीगर जनता के ऐसे वर्ग थे जिसके लिये ये सुख, ये ऐश्वर्य आकाश-कुसुमवत् थे। सामंती प्रथा के साथ दास-दासियों की एक बड़ी संख्या पैदा हो गई थी और यह बड़ी संख्या भारत के धर्म, दर्शन और संस्कृति पर बहुत बड़ी लांछा थी। किसान, कम्मी, और कारीगर का जीवन भी बड़ा कठोर रहा होगा, यद्यपि देश के धन-धान्य और विदेश में सम्मान के लिए यही उत्तरदायी थे।

परंतु कई बातें ऐसी हैं जिन्हें हमें उस युग की सामाजिक व्यवस्था की भूमिका-स्वरूप समझ लेना चाहिये। पहली बात तो यह है कि इस समय तक जनता राजा, सामंत या महाराज को ईश्वर के अंश में देखना सीख गई। गुप्तों के ऐश्वर्य-पूर्ण समय में ही यौधेय जैसे जनतंत्रों का सदा के लिए सर्वनाश हो गया और एकतंत्रराज के समर्थक ब्राह्मण स्मृतिकारों ने राजा में ईश्वरत्व की स्थापना कर प्रजातंत्र की भावना पर गहरा कुठाराघात किया। राजतंत्र के साथ इस तरह की भावना लगभग सभी देशों में विकसित हुई है। इस भावना के विकास के कारण जनता अपनी यातना को सहने के लिए भी तैयार हो जाती है। 'परमभट्टारक', 'महाधिराज', 'विक्रमादित्य' जैसे बड़े-बड़े शब्दों ने चक्रवर्ती की प्रतिष्ठा इतनी ऊँची कर दी थी कि साधारण जन केवल उसके चरणों में ही अपना सिर झुका

सकता था। फिर विद्रोह की बात ही कैसे उठती ? फिर दार्शनिकों के कर्मफलवाद ने तो इस चक्रवर्ती-साधारण जन के संबंध को और भी दृढ़, और भी स्वाभाविक बना दिया था। धीरे-धीरे जनता में से 'जन'-भावना का लोप हो गया। वह राष्ट्रीय और राजकीय समस्याओं से भागने लगी। केवल सामंतवर्ग और उसके साथी युद्धव्यवसायी वर्ग पर ही देश की रक्षा का भार रहने लगा। चाहे राजा कोई हो, जब चाकर ही रहना है, तो चिंता क्यों हो ? इस तरह की हीन भावना ने जनता को बराबर अकर्मण्य, निर्लिप्त, निश्चेष्ट बनाये रखा। दूसरी बात यह थी कि उस समय जनसंख्या बहुत कम थी। भूमि अधिक उपजाऊ थी। रहन-सहन भी सीधा-सादा। अतः जनता विशेष कष्ट का अनुभव नहीं करती थी। प्रत्येक गाँव अपने में पूर्ण इकाई। चाहे राजधानी में कितना ही उलट-फेर हो जाय, गाँव का पंचायती शासन उसी तरह रहता, उसका अर्थ, उसकी संस्कृति, उसके आमोद-प्रमोद में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता। तीसरी बात यह थी कि उस समय देश का धन देश में ही रहता था। इससे किसी न किसी रूप में सामान्यजन भी उस युग की समृद्धि से लाभान्वित होते। यही नहीं, विदेशों का धन भारत की ओर खिंच रहा था। इससे देश के साधारण जनों का रहन-सहन भी बढ़ रहा था। जो संस्कृति विदेशों में फैल रही थी, वह केवल ऊपर के सामंतीवर्ग की संस्कृति थी, परन्तु देश के साधारण जनों में भी यह संस्कृति

लोकप्रिय हो गई थी। 'सामंत' या 'राजा' इस युग का आदर्श था।

साहित्य में जिस सामाजिक और आर्थिक अवस्था की छाया हम पाते हैं उसमें ब्राह्मणों और सामंत वर्ग को विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। सभी ब्राह्मण और सभी क्षत्रिय सुखी थे, ऐसी कोई बातचीत नहीं थी। परन्तु स्मृतिकार और व्यवस्थापक के रूप में ब्राह्मण की जो मान्यता कौटिल्य के समय से चली आती थी, वह इस समय भी चल रही थी। नये-नये राज स्थापित हो रहे थे। नान्यदेव ने कर्णाट-जैसे दूर दक्षिण देश से उत्तर में आकर मिथिला और नैपाल में राज्य स्थापित किया और नवद्वीप का पाल वंश भी दक्षिणी थी। इससे स्पष्ट है कि सामंत वर्ग अपनी प्रतिष्ठा-स्थापन में विशेष प्रयत्नशील था। वास्तव में साहसिकों का एक समाज ही उठ खड़ा हुआ था। ब्राह्मण-व्यवस्थापक, कायस्थलेखक, पंडित-कवि, कर्मकार-कलाकार इन्हीं साहसिकों के सहारे जीते थे। वे इनके साथ-साथ चलते। इनके लिये भव्य भवन बनाते, कला की चीज़ों का निर्माण करते, इनके आमोद-प्रमोद के लिये सामंती साजसज्जा, सामंती नीति, सामंती व्यवहार, सामंती युद्धों का वर्णन करते। सामंत उस युग का नायक था। ब्राह्मण-मनीषा भी अभी शिथिल और रूढ़िग्रस्त नहीं हुई थी। पहली शताब्दी से छठी-सातवीं शताब्दी तक अनेक जातियाँ भारत में आईं। यवन, शक, हूण और आभीर इनमें मुख्य

थीं। धीरे-धीरे ये जातियाँ हिन्दू समाज के महान् जन-समुद्र में डूब गईं। अधिकांश नवागन्तुक विदेशी जातियाँ युद्ध-व्यवसायी थीं। ब्राह्मणों ने उन्हें राजपूत कहकर, प्राचीन पौराणिक वंशों से उनका संबंध जोड़ कर, उन्हें 'क्षत्रिय' संज्ञा दे एक नया सामंती समाज गढ़ लिया था। अगले युग में भारतीय राष्ट्रीय-जीवन को विनाश के मार्ग पर ले जाने वाला यही सामंत-समाज था। बौद्ध तारा काली के रूप में इन्हें पूज्य हुई। शिव, भैरव, रुद्र, महाकाल इत्यादि नामों से संहारशक्ति के ये उपासक थे। शीघ्र ही ये छोटे-छोटे सामंती राज्य परस्पर लड़ने लगे। इन गृहकलहों ने थोड़े ही समय में युद्ध-व्यवसायी वर्ग (क्षत्रिय) को शक्तिहीन और निर्वीय कर दिया और भारत के द्वार को अरक्षित ही छोड़ दिया।

४-धार्मिक अवस्था

सिद्ध सामंत युग (७००-१४००) के पहले ही कुछ वर्षों में उत्तर भारत इस्लाम धर्म से परिचित हो गया था। ७१२ ई० की आलोर विजय के पहले ही भारत में इस्लाम धर्म के प्रचारक संत आ चुके थे और कुछ मस्जिदें भी बन चुकी थीं। जब हर्षवर्द्धन उत्तर भारत पर शासन कर रहे थे और चीनी यात्री सुइनच्यांग नालंदा विश्वविद्यालय में त्रिपिटक की व्याख्या सुन रहे थे, उस समय मक्का-मदीना में एक नये धर्म का प्रवर्तन हो रहा था। इस नए इस्लाम धर्म ने अरबों को एक नए संगठन-सूत्र में बाँध दिया और दो ही शताब्दियों में

वे स्पेन से मंगोल देश तक फैल गये। परन्तु ये अरब भारत में मुलतान(७१३ ई०) तक ही आ कर रह गये। कुछ दिनों (५० वर्ष) तक तो सिंध प्रदेश खलीफ़ा के शासन के अंतर्गत रहा, परन्तु फिर शीघ्र ही वह स्वतंत्र मुसलिम राष्ट्र रह गया। वास्तव में अरब और भारतीय संस्कृति का सीधा संपर्क हो ही नहीं पाया। सिंध प्रदेश और शेष भारत के बीच में एक विस्तृत मरुभूमि का व्यवधान था। इस्लाम को भारत के हृदय (हिंदीप्रदेश) तक पहुँचने में लगभग छः सौ वर्ष लग गये। आलोर-विजय से पांच सौ वर्ष बाद हिंदीप्रदेश ने इस्लाम धर्म को राजधर्म के रूप में जाना।

स्वदेशी धर्मों में इस समय भारत के प्रधान धर्म बौद्ध, ब्राह्मण, जैन थे। इनमें से प्रत्येक में अनेक संप्रदाय थे और अनेक प्रकार के धार्मिक और दार्शनिक विचार चल रहे थे।

इस समय बौद्धधर्म केवल पूर्वी प्रदेशों में ही लोकप्रिय रह गया था। गुप्तों के शासन में ब्राह्मणधर्म (वैष्णवधर्म) को राजधर्म मान लिया गया था। हर्षवर्द्धन के समकालीन नरेन्द्रदेव (शशांक) जैसे गुप्त-वंशीय शासकों ने बौद्धधर्म को बड़ी क्षति पहुँचाई। शशांक ने तो बुद्धगया के बोधिवृक्ष को ही जड़ से कटवा दिया। परन्तु ६ वीं शताब्दी के मध्य में पूर्वी मगध में पालवंश ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया। यह

बौद्ध धर्म

वंश बौद्ध था। अत: इसने जीर्णप्राय बौद्धधर्म को पुनर्जीवन दान किया। विक्रमशिला और नालंदा नाम के दो विश्वविद्यालय स्थापित हुए। विक्रमशिला की स्थापना गोपाल (धर्मपाल) के पौत्र देवपाल (८०६-४६ ई०) ने गंगातट पर की। यह विश्वविद्यालय कहाँ था, इस सम्बन्ध में मतभेद है। राहुलजी कहते हैं— "विक्रमशिला की खोज के लिये मुंगेर से राजमहल तक की गंगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित सभी पहाड़ी भूमि—सबौर परगने की भूमि को विशेषकर—की छान-बीन करनी चाहिये।[२]

नालंदा पालवंशियों की राजधानी ओदन्तीपुर (आधुनिक विहार शरीफ) से ६ मील पर था। नालंदा श्री हर्ष (६०७-६५७) के समय भी बौद्धज्ञानविज्ञान का केन्द्र था। ११६७ में नालंदा और १२०३ ई० में विक्रमशिला को तुर्कों ने नष्ट कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि धीरे-धीरे लोग बौद्धमत को छोड़ कर हिंदू विचारावली ग्रहण कर रहे थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस युग में भी बड़े-बड़े बौद्ध-साधकों और विचारकों ने जन्म लिया, परन्तु महायान की प्रवृत्तियाँ बराबर नीचे जा रही थीं और धीरे-धीरे जनता की सहानुभूति उसकी ओर से हटती जा रही थी। हिंदी का सिद्धकाव्य इस समय की बौद्ध साधना और बौद्ध विचारवाली को हमारे सामने रखता है। कन्नौज के अधिपति जयचंद (११७१-११९४) के गुरु मित्रयोगी, जगन्मित्रानंद या मित्रपा बौद्ध

[२] 'सहोर और विक्रमशिला' : पुरातत्त्व-निबंधावली, पृ० २६६

सिद्ध ही थे। इस तरह ७०० ई० से १२०० ई० तक इस हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग में पालवंश छत्रच्छाया में महायान बौद्धधर्म को विकसित रूप में पाते हैं।

परन्तु जिस महायानी बौद्धमत से इस सिद्धसामत युग में हम परिचित होते हैं, वह बौद्धधर्म का अत्यंत विकृत रूप था। बुद्ध की मौलिक मान्यताओं का तो उसमें नाम भी नहीं था। "४८३ ई० पू० में बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली में पहली 'संगीति' हुई। उस समय बौद्ध धर्म स्थविरवाद और महासांघिक नाम के दो निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया। इसके सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग हो कर अंत में अठारह निकाय बन गये"[3]। "बुद्ध के जीवन में ही उनके शिष्य गन्धार गुजरात (सुनापरान्त), पैठन (हैदराबाद राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे-धीरे भिक्षुओं के उत्साह एवं अशोक, मिलिन्द, इन्द्राग्निमित्र आदि सम्राटों की भक्ति और सहायता से इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोक का सबसे बड़ा काम यह था कि उन्होंने भारत की सीमा के बाहर के देशों में, धर्म प्रचारकों के भेजे जाने में बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व तृतीय शताब्दी) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समय तक आठारह निकाय पैदा हो चुके थे; इसलिये राजा की सहायता चाहे एक ही निकाय के लिए रही हो लेकिन

[3] महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्तिः पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० १२१

दूसरे निकायों ने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और कण्वों[४] के बाद आंध्र या आंध्रभृत्य सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) महाराष्ट्र थी। पीछे धान्यकटक भी दूसरी राजधानी बना, जो आगे चल कर कोसल की राजधानी श्रावस्ती की भाँति प्रधान बन गया और पैठन सिर्फ युवराज की राजधानी रह गया। शातकर्णी या शालिवाहन (शातवाहन)[५] आंध्र राजा, यद्यपि कुछ समय तक, उत्तरी भारत के भी शासक थे तो भी पीछे उन्हें दक्षिण पर ही संतोष करना पड़ा। बौद्ध धर्म पर उन्हें विशेष अनुराग था, यह उनके पहाड़ काट कर बने गुहा-विहारों में खुदे शिलालेखों से मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती) में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताओं और चित्रों से अलंकृत संगमरमर की पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धा के जीवित नमूने हैं।''[६] आंध्रराजा और रानी बौद्ध धर्म के प्रति बड़े श्रद्धालु थे। धान्यकटक (आंध्र-राजधानी) के पूर्व और पश्चिम की ओर पूर्वशैल और अपरशैल नाम के दो पर्वत थे। इनके ऊपर 'विहारों' की स्थापना हुई। महायान और वज्रयान के

---

[४] ये ब्राह्मणधर्म के प्रथम उत्थान के नायक थे।

[५] शातवाहन वंश ने ई० पू० प्रथम शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक राज किया।

[६] 'पुरातत्त्व निबंधावली', पृ० १२२—१२३

आरम्भ और विकास का इन स्थानों से विशेष संबंध है। ई० पू० तृतीय शताब्दी से ई० प्रथम शताब्दी तक विशेष विकास हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी में महायान का जन्म हो गया था, इसमें कोई संदेह नहीं। वास्तव में बौद्ध विचारावली का यह नया जनसंस्करण था। इस नये धर्म का प्रवर्तन दक्षिण में श्रीपर्वत (धान्यकटक) पर ही हुआ और शीघ्र ही इसे लोकोत्तर प्रसिद्धि मिल गई। इस महायान के सबसे प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन थे। वे वैपुल्यवादी और शून्यवादी भी कहे गये हैं। उनका वासस्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था। वे शातवाहन (आंध्रराज) के घनिष्ठ मित्र थे।[७]

---

[७] वास्तव में नागार्जुन के संबंध में बड़ा मतभेद है। कई ऐतिहासिक व्यक्ति इस नाम के मिलते हैं, परन्तु उन्हें घेर कर इतनी जन-कथायें प्रसिद्ध हो गई हैं कि कौन नागार्जुन कब हुआ, उसने बौद्ध विचार-धारा के विकास में कितना सहयोग दिया, यह कहना कठिन है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक ४ में 'नागार्जुन' शीर्षक एक लेख लिखा था। उनका मत है कि इतिहास को कम से कम ५ नागार्जुन ज्ञात है :

(१) पहले नागार्जुन अर्थात् माध्यमिकाचार्य नागार्जुन। यह अवश्य ही विक्रम की दूसरी शताब्दी में हो गये हैं। इन्हीं के आदेश से कुषाण-नृप कनिष्क प्रथम (ई० सं० ७८ में सिंहासनारूढ़) ने चतुर्थ महासंगीति को आमंत्रित किया था। इसी समिति में पहली बार महायान के सिद्धांत निश्चित हुए।

संभव है माध्यमिकाचार्य नागार्जुन और शातवाहन के मित्र रसेन्द्राचार्य नागार्जुन एक ही व्यक्ति हों। जान पड़ता है, मध्य-भारत नागार्जुन का जन्मस्थान था। शातवाहन ने इन्हीं के लिए 'ब्रह्म' गुफा का निर्माण कराया होगा और इन्हीं ने चौथी बौद्ध महासंगीति में महायान का प्रवर्तन किया। इन्होंने ही चरक

---

(२) दूसरे नागार्जुन रसेन्द्राचार्य नागार्जुन हैं जो कदाचित् शातवाहन के मित्र थे। शातवाहन ने इनके लिए भ्रमरगिरि में गुफा-विहार बनाया था। इस 'भ्रमरगिरि' के संबंध में भी मतभेद है। राखालदास बनर्जी के अनुसार यह भ्रमरगिरि रीवां नगर से बीस मील दक्खिन की ओर ब्रह्मगिरि (ब्रह्मरंध्र, भ्रमर गुहा) है। यह विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी में रहे होंगे।

(३) तीसरे नागार्जुन सिद्ध नागार्जुन हैं। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार नागार्जुन सरह के शिष्य थे जो धर्मपाल (७६९ ई०—८०९ ई०) के पुत्र देवपाल (८०९ ई०—८४९ ई०) के समकालीन थे। डा० बड़थ्वाल के अनुसार इन सिद्धाचार्य नागार्जुन का समय ८४९ ई० से ९३० ई० तक है।

(४) नाथों में भी एक नागार्जुन प्रसिद्ध हैं। डा० बडथ्वाल लिखते हैं—"सिद्धों का नाथपंथ में लिया जाना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं। नागार्जुन ही एक ऐसे सिद्ध नहीं जो नाथ पंथ में स्वीकृत किये गये हों।' 'गोरक्षसिद्धांत' में पंथ प्रवर्तक बारह माने गये हैं—

१	२	३	४	५	६	७
नागार्जुन,	जड़भरत,	हरिश्चंद,	सत्यनाथ,	भीमनाथ,	चर्पट,	वैराग्य

के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुश्रुत' का संपादन और परिवर्द्धन किया। वास्तव में बौद्ध और हिन्दू तांत्रिक विचारावली के आदि पुरुष यही नगार्जुन माने जाते हैं। बौद्धमत में बुद्ध के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व इन्हीं नागार्जुन का रहा है। आज भी अनेक मंदिर इनके नाम से संबंधित हैं।

नागार्जुन प्रज्ञावाद अथवा शून्यवाद के सबसे बड़े आचार्य हैं। प्रज्ञावाद के अनुसार योग तर्कसम्मत तथा प्रत्ययज्ञान तथा वाह्यरूप-ज्ञान से ऊपर उठने से प्राप्त होता है। क्योंकि सामान्य-

---

(कणेरी) कंथड़[८] (कंथाधारी) जलंधर,[९] मलयार्जुन।[१०]' वास्तव में नाथ-साहित्य में नागार्जुन की कोई रचना नहीं मिली है। नागार्जुन, जड़-भरत और हरिश्चंद केवल पौराणिक नाम मात्र हैं। डा० बड़थ्वाल का कहना है कि मलयार्जुन ही प्रतीकार्थ से सिद्ध नागार्जुन हैं। कदाचित् वे दक्षिण देश के निवासी थे।

(५) सत्रहवीं शताब्दी में भगवानदास निरंजनी ने अपने गुरु नागार्जुन का उल्लेख किया है।

डा० बडथ्वाल का एक मत यह भी है कि नागार्जुन व्यक्तिविशेष की जगह विशेष सिद्धि प्राप्त संतों की उपाधि हो गई थी। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी नागार्जुन एक ही प्रकार के "शून्यवाद" के प्रचारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। नागार्जुन नाम इंद्रियों को वश में करने वालों का द्योतक हो गया।

तया मनस् जिसे वास्तविक समझता है, उसका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं। माध्यमिक शास्त्र (नञ्जयों, सं० ११७६) में नागार्जुन ने बतलाया है कि "तत्त्व जैसा है वैसा (तथा) उसका वर्णन करना असंभव है। वह शून्य है। शून्य ही में सब दृश्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं और शून्य में ही वे लीन भी हो जाते हैं। इस शून्य-स्वरूप अर्थात् तथाता की अनुभूति होने के कारण ही बुद्ध तथागत समझे जाते हैं। वहीं से वे उत्पन्न हुए हैं इसलिए भी वे तथागत हैं। दृश्य-पदार्थ भी शून्य ही है। यद्यपि बिना शरीर के व्यावहारिक अस्तित्त्व नहीं रह सकता, फिर भी परमार्थतः तथागत का शरीर नहीं है, क्योंकि शरीर भी शून्य है। शून्य को न हम सत् कह सकते हैं न असत्। सत् और असत् दोनों भ्रम हैं। इनका आरोप तत्त्व-प्राप्त तथागत पर नहीं हो सकता। तथागत में आत्मभाव नहीं है। आत्म-भाव न किसी में जन्म से पहले रहता है और न मरण के बाद। अतएव सापेक्ष व्यावहारिक गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है।" (डा० बड़थ्वाल : योग-प्रवाह, पृ० १७६)

शून्यवाद की यह धारा पहली-दूसरी शताब्दी से चल कर बराबर दृढ़ होती गई। कथावत्थु (पाली अभिधम्मपिटक का एक ग्रथ) की अट्ठकथा में महायान के एक भेद वैपुल्यवाद के कुछ सिद्धांत इस प्रकार दिये हैं—

(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघ को देने में महाफल है।

(२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे, न बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया (३) विशेष अभिप्राय से मैथुन का सेवन किया जा सकता है। वास्तव में ये तीनों बातें इतनी क्रांतिकारी हैं कि परवर्ती धर्मसम्बन्धी आन्दोलनों के मूल इन्हीं में मिल जाते हैं। महायान, वज्रयान और तांत्रिक बौद्धधर्म इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर आगे बढ़े।

इन्हीं मूल सिद्धान्तों ने आगे बढ़कर महान् अक्षयवट को जन्म दिया। मंत्र, हठयोग और मैथुन यही तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्ध धर्म में प्रविष्ठ हो गये। वास्तव में मंत्रयान का समय ई० पू० ४०० से ७०० ई० तक अर्थात् १००० वर्ष तक आता है। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध की मृत्यु की एक दो शताब्दी बाद ही उनका रूप पौराणिक हो चला था। स्वयं बुद्ध के समय में जनता में शांति-सौभाग्य लाने वाले अनेक पूजा-कल्प प्रचलित थे। बुद्ध ने इन्हें 'मिथ्या जीव' (झूठा व्यवसाय) कहा। परन्तु धीरे-धीरे बुद्ध की क्रांतदर्शी सरल मान्यताओं को इन्होंने ढक लिया। पहले लम्बे-लम्बे सूत्रों को कल्याणप्रद माना गया, फिर छोटी-छोटी धारणियाँ आईं। अंत में केवल कुछ शब्दों को लेकर पहले 'ओ' और अंत में स्वाहा जोड़ कर मंत्र बना लिये गये। सूत्र से कीलित मंत्र तक पहुँचने में ८००-६०० वर्ष लगे। सूत्ररूप से मंत्र (ई० पू० ४००-१००), धारणी मंत्र (ई० पू० १०० से ४०० ई०) और मंत्र-तंत्र (४०० ई०—७०० ई०) यह क्रम रहा। हठयोग कदाचित्

अनदिकाल से भारतीय जनता में मान्य रहा है। वह फिर कुछ अंशों में स्वीकृत हुआ। मंत्रयान का सबसे प्राचीन ग्रंथ 'मंजुश्री-मूल कल्प' है। यह ग्रंथ धान्यकटक या श्रीपर्वत में लिखा गया है, ऐसा इस ग्रंथ से जान पड़ता है। भवभूति और वाण ने अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि छठी-सातवीं शताब्दी में श्रीपर्वत मंत्र-तंत्र के लिए प्रसिद्ध था। वह सिद्धों का निवासस्थान था। सातवीं शताब्दी में मंत्र यान का स्थान वज्रयान ले लेता है। तब यही श्रीपर्वत वज्रपर्वत कहा जाने लगा।

वज्रयान की उत्पत्ति भी आंध्र देश में हुई और श्रीपर्वत या वज्रपर्वत इसका केन्द्र था। वज्रसत्व की उपासना होती थी। मद्य, हठयोग और स्त्री इस वज्रयान के प्रधान अंग थे। वास्तव में हमारा सम्बन्ध जिस परवर्ती बौद्धमत से है, वह अत्यंत भ्रष्ट हो चुका था। धर्म के नाम पर उच्छृंखलता का राज्य था। यह सारा युग चमत्कारों का युग था। जान पड़ता है बौद्ध धर्म के प्रति लोगों की आस्था कम हो रही थी, अतः साधारण जनता को आकर्षित करने के लिए जनता के अनेक विश्वासों को धर्म मान लिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध का आचारप्रधान सम्यक् जीवन का संदेशवाही मूल बौद्ध मत धीरे-धीरे सामान्य जीवनदर्शन (हिंदू मत) के बहुत समीप आता गया। कर्मकांड-विरोधी और अहिंसक बौद्ध धर्म में कर्मकांड

का इतना बड़ा आडंबर उठ खड़ा हुआ कि हिंदूधर्म भी चकित था। पंचमकारों की सेवा में अहिंसा का प्रश्न ही नहीं था। बौद्धदर्शन अनात्मवादी था। उत्तर बौद्ध दार्शनिकों ने मनुष्य को पंच स्कंधों का एक विशेष प्रकार का संघ बना दिया था। कहा गया कि यह पंच स्कंधों का संघ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में शरीर धारण करता है। इसी का नाम पुनर्जन्म है। विशेष साधनों के अनुष्ठान से इन स्कंधों का अपने मौलिक तत्त्वों में अन्तरभाव होना ही महानिर्वाण है। बौद्धदर्शन मूलतः अनीश्वरवादी है। साथ ही वह नास्तिक भी है। वह वेदों पर कोई आस्था नहीं रखता। कालांतर में "शून्य" ने वह स्थान प्राप्त कर लिया जो हिंदूदर्शन में ब्रह्म का है। इस तरह ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुनर्जन्म, कर्मफल, कर्मकांड जैसे हिंदू दर्शन के विषयों को अलग नाम देकर स्वीकार कर लिया गया। संन्यासप्रधान बौद्धधर्म के स्थान पर सन्यासप्रधान वैष्णव मत का प्रवर्तन हो गया। इस युग में धीरे-धीरे बौद्ध और हिंदू मान्यताएँ पास-पास आ गईं। १४०० ई० के बाद के साहित्य पर तो बौद्ध प्रभाव नगण्य सा है। जो हो, हिंदी साहित्य की अनेक गुत्थियों का 'बीजक' आज भी इस युग की बौद्ध धार्मिक, दार्शनिक एवं सामाजिक विचारधारा में है।

इस सारे युग में ब्राह्मणधर्म बौद्धधर्म से अधिक क्रियाशील रहा और उसका क्षेत्र भी अधिक व्यापक रहा। पुराण,

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में इस समय अनेक महान् वैष्णव (ब्राह्मण) विचारक उत्पन्न हुए और उन्होंने

ब्राह्मणधर्म

उस हिन्दूधर्म की नींव डाली जो आज भी ३५ करोड़ भारतीयों के हृदय पर विजय पा रहा है।

सिद्ध-सामंत-युग (७०० ई०—१४०० ई०) में ब्राह्मणधर्म कई भिन्न रूपों में मिलता है। अपने मौलिक रूप में वैदिक कर्मकांडों को लेकर मीमांसक लोगों में यह अब भी चल रहा था। बहुत पहले से इसकी प्रतिद्वन्द्विता बौद्धधर्म से थी। बौद्ध धर्म के ह्रास से इसको विकास का विशेष अवसर मिला। बुद्ध को देवता मान लिया गया और मूर्तिपूजा की कल्पना के कारण मंदिरों का आविर्भाव हुआ। ब्राह्मण धर्म में पौराणिकता की विशेषता थी। सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग में कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकांडी धर्म की प्रतिष्ठा करने की एक बार फिर चेष्टा की। इन्हें पशुबलि मान्य थी। ८ वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने बौद्धमत के साथ इसका भी खंडन किया। उनके बाद ब्राह्मण धर्म मुख्यतः अपनी प्रशाखा वैष्णवधर्म के रूप में चलता रहा।

इस वैष्णवधर्म को इस काल से पहले ही लगभग १००० वर्ष विकास के लिए मिल चुके थे। हरिधर्म या एकान्तिक धर्म के नाम से इसका जन्म पशुबलि के विरोध का रूप लेकर हुआ, फिर नारायण, विष्णु, वासुदेव और कृष्ण की भावनाओं के सम्मिलन से इसका रूप स्थिर हुआ। इस समय तक

यह मिश्रण हो चुका था और वैष्णवधर्म की एक विशिष्ट धारा चल रही थी जिसकी विशेषता उसकी भक्तिभावना थी। जान पड़ता है इस युग के आरम्भ में सारे हिन्दी प्रदेश में शैव या शाक्त धर्म राजपूतों को लेकर आया और १२ वीं शताब्दी के अंत तक इसका प्राधान्य रहा। वैष्णवधर्म इस समय (६ वीं शताब्दी के लगभग) उत्तर से हट कर दक्षिण में चला गया था जहाँ पहले विष्णु एवं कृष्ण और फिर रामावतार की भक्ति के रूप में अलवार भक्तों और राजाओं ने इसे अपनाया। १३ वीं शताब्दी में राजपूतों की शक्ति के नाश होने और इस्लामी राज्य की स्थापना के साथ वैष्णवधर्म फिर उत्तर में आया जहाँ एक शताब्दी बाद उसने कई भक्ति-सम्प्रदायों को जन्म दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में शिव, ब्रह्मा और विष्णु (त्रिमूर्ति) की पूजा का विशेष प्रचार था। इनमें ब्रह्मा की उपासना के संप्रदाय नहीं मिलते, परंतु शेष दोनों देवताओं के सम्प्रदाय अवश्य थे। उनकी प्रतिष्ठा में निर्माण किये गये मन्दिर आज भी पाये जाते हैं। देवियों की पूजा इसी काल में आरंभ हुई और इसका सम्बन्ध अधिकतः तंत्र और शक्ति संप्रदायों के साथ रहा। वैदिक देवता भी चल रहे थे। इस युग के अंत होते-होते स्मार्तधर्म विकसित हो चुका था और उसके उपासकों के द्वारा पंच पूज्य देवता सूर्य, विष्णु, शक्ति, गणेश और शिव स्थिर हो गये थे। उनके विशेष मन्दिर पंचायतन के नाम से बन रहे थे।

ब्राह्मणधर्म का पहला उत्थान पुष्यमित्र (ई० पू० १८५—१४६) से संबंधित है। पुष्यमित्र छोटा-मोटा विजेता नहीं था। उसने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था और पतंजलि की सहायता से हिन्दूधर्म के आर्षरूप के निर्माण का प्रयत्न किया था। वास्तव में यह संगठन-युग कहा जा सकता है। बौद्धधर्म को राजधर्म हुए १००—१५० वर्ष हो चुके थे और इसके क्रांतिकारी रूप ने हिन्दू धर्म को परास्त कर दिया था। वृहद्रथ की मृत्यु के बाद शक्ति परमवैष्णव पुष्यमित्र के हाथ में आई। पिछली दो शताब्दियों में हिन्दू संस्कृति में जो स्तंभन हो गया था, वह समाप्त हुआ। पतंजलि, याज्ञवल्क्य, मनु, पाणिनि और भास इसी पहले अभ्युत्थान से संबंधित हैं। श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र रचे गये, स्मृतिग्रंथों की रचना हुई, पौराणिक साहित्य का विकास हुआ। इसी समय ईरानी और यवन आक्रमण हुए, परन्तु वे गौण घटनाएँ थी। जिस प्रकार नाटकों में विष्कंभक अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उसी प्रकार वे भी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस युग में हिन्दू स्मृतिकारों ने राजकीय, सामाजिक और धार्मिक संगठन के जो प्रयत्न किये, वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पुष्यमित्र की मृत्यु के बाद मगध का आधिपत्य-सूर्य अस्त हो गया, परन्तु हिन्दू संस्कृति के विकास का प्रयत्न चलता रहा। देश में एक सर्वोपरि, सार्वभौम राजसत्ता की स्थापना हो, विश्वसंस्कृति के ढंग पर हिन्दू संस्कृति का संगठन हो, देश की विभिन्न जातियों को एक सूत्र में बाँध कर, नई समाज-व्यवस्था

गढ़ी जाय—यह प्रयत्न हुए। मनुष्य के बंधन, मनुष्य के सुख-दुख के दार्शनिक प्रश्नों को उपनिषदों के ऋषियों और महात्मा बुद्ध ने ही जनता के सामने रख दिया था। नये तत्त्ववेत्ताओं ने इनके आधार पर एक मानवधर्मी दर्शन के गढ़ने का प्रयत्न किया। कला, साहित्य और स्मृतिग्रंथों द्वारा इस नई संस्कृति का प्रकाशन हुआ। इसके अनंतर ई० पू० १५० से ३२० ई० तक सांस्कृतिक विस्तार का यह प्रयत्न चलता रहा। अनेक विदेशी जातियों और संस्कृतियों के संघर्ष से हिन्दू समाज में यह प्रक्रिया बड़ी तेजी से चलती रही। इसके बाद तो हिंदू संस्कृति का स्वर्ण युग (३२० ई०—६५० ई०) आता है। यह गुप्तकाल के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। यह समय हिंदू संस्कृति की शक्ति, सामर्थ्य और संस्कार का युग था। गुप्तसंवत् ३१६ ई० से आरंभ होता है। ५०० ई० तक गुप्त सम्राटों की शृंखला चली आती है। ५०० ई० में बुद्धगुप्त के अवसान के साथ गुप्तवंश की केन्द्रीय सत्ता हट गई। पाँचवीं शताब्दी में हूण बराबर पंचनद प्रदेश पर आक्रमण कर रहे थे। स्कंदगुप्त भी उन्हें पूर्णतयः हटाने में सफल नहीं हो सके। साकल (स्यालकोट) उनकी राजधानी थी और तातार और ईरान तक उनका राज्य फैला हुआ था। हूणराज तोरमाण ने बुद्धगुप्त को परास्त कर सारे मालवा प्रांत को अपने राज में मिला लिया। ५१० ई० में भानुगुप्त बालादित्य सिंहासन पर बैठा, परंतु अगले ही वर्ष मालवा का पतन हो गया

और मगध में भी तोरमाण का राज्य स्थापित हो गया। ५१२—५२६ तक मिहिरकुल (तोरमाण का पुत्र) भारत का चक्रवर्ती सम्राट् बना रहा। ५२७ ई० में बालादित्य के हाथ मिहिर-कुल की हार हुई और वह बंदी हो गया। ५३०—५३५ ई० तक यशोवर्मा विष्णुवर्धन चक्रवर्ती पद को प्राप्त हुआ। इसके बाद कुमारगुप्त (५३५—५५० ई०)। फिर चक्रवर्ती सत्ता मौखरी वंश के हाथ में चली गई और ईशान वर्मा (५५०—५५४), सर्ववर्मा (५५४—५७०), स्थानेश्वर का प्रभाकर वर्मा (६००—६०५) और हर्षवर्धन (६०६—६४६) इस वंश के प्रमुख रत्न रहे। इस प्रकार हमारे युग के आरंभकाल तक हिन्दूधर्म और संस्कृति की धारा अक्षुण्ण रूप से चलती रही।

गुप्तकाल की साहित्यिक रचनाओं में केवल कालिदास की रचनाएँ ही महान् हैं, फिर पुराणों, नाटकों और काव्यों के रूप में और भी बहुत कुछ लिखा गया। परन्तु आगे के युग में केन्द्रीय राजसत्ता के हट जाने से अलग-अलग छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जो प्रत्येक क्षेत्र में स्पर्द्धा को लेकर आगे बढ़ते थे। इस स्पर्द्धा को धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति का श्रेय है। ६५० ई० से ११७५ ई० तक के काल को श्री कन्हैयालाल मुंशी ने 'सांस्कृतिक स्तंभनयुग" [८] कहा है। परन्तु सच तो यह है कि इस युग में भी

८—'अखंड हिन्दोस्तान', पृ० १२१

अनेक क्षेत्रों में संस्कृति का विकास ही हो रहा था, हाँ, उसका सार्वभौम रूप नष्ट होता जा रहा था। अनेक हिन्दूराज्य स्थापित हुए—नैपाल (६००—१३२५), काश्मीर (६३०—१३३६) कन्नौज का गुर्जर और गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य (७००—१०२७), राष्ट्रकूट (८ वीं शताब्दी से ६७३ तक), चौहान (८ वीं शताब्दी से १३०१ तक), पालराज्य (७३५—११६६), गुजरात के चालुक्य (६६१—१२६१), दक्षिण के चालोक्य (५५०—११६०), चौलवंश— ८ वीं शताब्दी से १०७४), पाल वंश (७००—६२०), कदंब (३४०—१३२७), कलिंग एवं चेदी के कलचरि (६ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक) चंदेल (६ वीं शताब्दी से १२०३) और मालवा के परमार (नवीं शताब्दी से १०६५ तक)। वास्तव में यह युग संस्कृति के स्तंभन का युग नहीं था। यह उसकी सामर्थ्य का युग भी था। इन हिन्दू राज्यों ने गुप्तराज्य की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपरा को जारी रखा। सच तो यह है कि ये छोटे-छोटे राज्य स्पर्द्धा के रूप में कला-कौशल और साहित्य के विकास के सूत्र लेकर आगे बढ़े। इन अनेक क्षेत्रों में उन्होंने जो किया, उस पर अब भी इस देश को गर्व होगा। जीवन के सारे सूत्र इस समय धर्म से बँधे हुए थे। बौद्ध, जैन, हिन्दू और इस्लाम धर्मों के परस्पर आघात-प्रतिघात की कहानी ही इस युग के बनने-बिगड़ने की कहानी है। जैनधर्म राज्याश्रय प्राप्त न कर सकने के कारण बराबर दक्षिण-पश्चिम भारतवर्ष की

ओर हटता रहा। राजस्थान, गुर्जरदेश और मध्य भारत इस युग में इसके केन्द्र हो गये। बंगाल और विहार का पाल वंश ही इस समय बौद्ध रहा। सेन राजाओं ने हिंदू धर्म की इस प्रदेश में स्थापना की। ११९७ के आस-पास बख्तियार खिलजी ने पूर्व भारत के बौद्ध विहारों और नालंदा जैसे विद्यालयों को भूमिसात कर दिया। संसार के इतिहास में कला, संस्कृति और सामाजिक जीवन का इतना बड़ा ध्वंस कभी नहीं हुआ होगा। हलाकूखाँ और हूणों के अत्याचार इस नरमेध के आगे हेय हैं। बौद्ध नास्तिक थे। इस्लाम हिंदू जनता की मूर्तिपूजा सह सकता था परन्तु बौद्धों का कुफ़्र (अनात्मवाद, नास्तिकपन) उसके लिए अत्यंत घृणा की वस्तु थी। इस्लामधर्म उत्तरभारत में सातवीं-आठवीं शताब्दी में आया। पहले यह साधु-संतों, पीरों, सूफ़ियों और अल्लाहवाले गृहस्थों के रूप में इस देश की जनता द्वारा आश्चर्य और श्रद्धा का विषय बना। ग्यारहवीं शताब्दी में पहली बार उसके खड्गहस्त रूप के दर्शन हुए। अब तक पश्चिमी प्रदेश में इस्लाम धर्म के माननेवालों और श्रद्धालुओं के अनेक उपनिवेश बन गये थे। १०२३ ई० में लाहौर में ग़ज़नी राज्य की स्थापना होने के बाद धर्मपरिवर्तन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होने लगे। परन्तु दो सौ-तीन सौ वर्षों तक इस्लाम का विशेष प्रचार नहीं हो सका। बंगाल में अवश्य धर्म-परिवर्तन बड़ी संख्या में हुये। इस प्रदेश में बौद्धों की निम्नतम प्रवृत्तियों से जनता

उकता गई थी, नवागुन्तकों के सीधेसादे धर्म और उनकी साम्य भावना ने जनता को विशेष रूप से आकर्षित किया। फिर भी कुछ सुलतानों ने मन्दिरों को तोड़ कर आतंक फैलाया और देश भर में हिंदू सभ्यता और संस्कृति को बचाने की योजनाएँ बनाई गई हैं।

यह स्पष्ट है कि देश की बहुसंख्यक जनता हिंदू थी। हिंदू सभ्यता, संस्कृति और साहित्य अपने उच्चतम शिखर पर थे और उन्होंने सफलतापूर्वक उस इस्लामी शक्ति से मोरचा लिया जिसने स्पेन तक आतंक फैला रक्खा था।

इस देश में परदेशी राज्य की स्थापना का पहला सफल प्रयत्न कनिष्क (१ ईसवी) ने किया। इसके बाद यवनों, शकों और हूणों के अनेक प्रयत्न आते हैं, परन्तु हिंदी प्रदेश २०-२५ वर्ष से अधिक परतंत्र नहीं रहा। मुहम्मद गोरी ने ११८६ ई० में बदाऊँ पर चढ़ाई की, फिर ११६३ में दिल्ली जीता। परन्तु भारत में विदेशीराज्य का स्थायी प्रयत्न कुतबुद्दीन ऐबक (११६६-१२१०) ने किया। १२१० ई० में जब ऐबक की मृत्यु हुई तो दिल्ली, अजमेर, बदाऊँ शहर और उनके आसपास का प्रदेश और झांसी, मेरठ और सियालकोट की सैनिक छावनियाँ दिल्ली-सल्तनत की सीमा थीं। हिंदी प्रदेश पर मुसलमानों का अधिकार तो हो गया था परन्तु दिल्ली की सत्ता से टक्कर लेने योग्य कई हिंदू राज्य बच रहे थे। अलतमश (१२११-१२३६) ने २५ वर्ष अविश्रांत रह कर

इनके विरुद्ध युद्ध किया। विदेशी जीविका भोगी सैनिकों और देशी लश्कर की सहायता से उसने यह काम किया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अवध, मुलतान, झांसी, लाहौर और बंगाल के मुसलमान सरदार दिल्ली की सल्तनत से संबंध छोड़ कर स्वतंत्र हो बैठे। अलाउद्दीन ख़िलजी (१२६६-१३१६) और मुहम्मद तुग़लक़ (१३२१-१३५१) ने दिल्ली की बादशाही की स्थापना की। अनेक स्वतंत्रचेत्ता हिंदू राजाओं से इन्हें लड़ना पड़ा परन्तु इनकी मृत्यु के बाद इनके सारे प्रयत्नों पर पानी पड़ गया। १३६८ ई० में तैमूर ने दिल्ली पर चढ़ाई की और दिल्ली की सल्तनत को लगभग समाप्त ही कर दिया।

मुसलमान इतिहासकारों ने मुसलमानों की भारत-विजय को जिहाद का रूप दे दिया है। परन्तु सच तो यह है कि इस भारत-विजय में देश-विजय की भावना जितनी थी उतनी भावना धर्मप्रसार की नहीं है। हाँ, मुसलमान सरदारों की सहायता और मुसलमान सैनिकों की वफ़ादारी के लिये धर्मप्रचार का ढोंग अवश्य था, इसमें कोई शंका नहीं। स्वधर्म छोड़कर इस्लाम स्वीकार करने पर सुलतान की महरबानी भी प्राप्त होती, छोटे-मोटे ओहदे भी मिल जाते। परन्तु हिंदूमित्रों और हिंदू सेना की सहानुभूति जीतने का प्रयत्न भी बराबर चलता रहता। शक्तिशाली हिंदू राज्यों से संधि और मित्रता भी चलती और दिल्ली का राज्य उनकी सहायता से ही स्वतंत्र बना हुआ था। राजपूत सरदारों को सेना में बड़े-बड़े मंसब मिलते। धीरे-

धीरे मुसलमान भी इसी देश के हो गये थे और वे परदेशी नहीं रहे थे। इससे भी हिंदू उनके विरुद्ध पहले जैसे सशंक नहीं रहे। अलाउद्दीन खिलजी को जिहादी बताया जाता है, परंतु इतिहास इस बात को स्वीकार नहीं करता। चित्तौड़-राज का अधिपति उसका विश्वासपात्र सरदार था। गुजरात के राजा कर्ण बघेला की रानी से उसका परिणय हुआ। उसकी लड़की देवलदेवी शाहज़ादा ख़िजरखाँ से व्याह दी गई। वास्तव में कुछ महत्त्वाकांक्षी राजपूतों ने इस समय इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और उन्होंने दिल्ली की सल्तनत के दृढ़ करने में बड़ी सहायता दी। श्री कन्हैयालाल मुंशी ने 'अखंड हिन्दोस्तान' में एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख किया है। जब फ़ीरोज़तुग़लक़ युवराज था तो टोंक के पास के एक गाँव में 'सहारन' नाम के एक राजपूत सरदार ने उसकी मेहमानी की। शहंशाह फ़ीरोज़ने उस पर मुग्ध होकर उसे दिल्ली बुलवाया और उसके कहने पर वह मुसलमान हो गया। उसका भाई भी शमशेर ख़ां के नाम से मुसलमान हो गया। १३५१ ई० में जब फ़ीरोज़ गद्दी पर बैठा तो उसने सहारन (वाजिबउल मुल्क) के लड़के ज़फ़र को उमराव बना लिया। १३६१ ई० में ज़फ़र गुजरात का सूबेदार हुआ। १४०३ ई० में यह 'मुज़फ़्फ़र' ख़िताब धारण कर गुजरात का स्वतंत्र सुलतान बन गया। सच तो यह है कि जिस प्रकार अंग्रेज़ों के आने पर महत्त्वाकांक्षी लोग ईसाई रहन-सहन अपना कर या ईसाई बनकर ऊँचे-ऊँचे

ओहदों पर पहुँचे, उसी तरह इस काल में भी धर्म-परिवर्तन हुए। परन्तु एक बार मुसलमान बन कर फिर हिंदूधर्म में लौटने के मार्ग बंद हो जाते थे। ऐसा नहीं हुआ होता तो कदाचित् दिल्ली की सल्तनत अधिक दिनों तक ठहर नहीं पाती।

इससे स्पष्ट है कि दिल्ली का राज्य परदेशी नहीं था। दिल्ली, बंगाल, गुजरात और सिंध के मुसलमान राज्यों के संस्थापक पूर्णतः भरातीय थे। उनमें इसी देश का रक्त दौड़ रहा था। दूसरी बात यह है कि इस सारे काल में दिल्ली की सल्तनत में बराबर घटी-बढ़ी होती रही। वास्तव में इस्लामी शासन के केन्द्र तो लश्करी छावनियाँ थीं। इनके बाहर सारे भारत में हिन्दू सभ्यता और हिंदू संस्कृति की अबाध धारा बह रही थी। कोई समर्थ सुलतान उठ खड़ा हुआ तो साम्राज्य-सा बन गया, फिर उसके हटते ही दिल्ली की सल्तनत दिल्ली के क़िले तक सीमित रह गई। सुलतान के छत्र की छाया तो नाम मात्र ही रहती थी। देशी-परदेशी लश्करियों की सहायता से जितनी भी हो उतनी भूमि पर यह सुलतान अपना राज चलाता था।

इन तीन शताब्दियों (११७५-१४००) ई० में प्रजा के जीवन का प्रवाह पूर्ववत् चलता रहा। दिल्ली का सुलतान कोई हो, प्रजा को उससे कोई मतलब नहीं। 'कोउ नृप होइ हमें का हानी।' लूटपाट और रक्तपात से प्रजा का जीवनप्रवाह च्रण

भर को रुक भले ही जाये, उसकी धारा अविच्छिन्न गति से चलती रहती थी।

वास्तव में इस सारे समय को 'प्रतिकार युग' कह सकते हैं। यह सच है कि भारतवर्ष में राजपूत-राज्यों में राजकीय एक्य स्थापित नहीं हुआ। परंतु इसमें सन्देह नहीं कि इन राज्यों ने शस्त्र लेकर विदेशी शक्ति का प्रतिकार किया यद्यपि वे सफल नहीं हुए। युद्ध में इन्हें पराजय हुई परन्तु हिंदू जीवन और संस्कार अक्षुण्ण, गतिमान, प्रवाहशील बने रहे। वास्तव में १००० वर्ष (ईसवी १ के लगभग) से जो सामाजिक प्रथायें और सांस्कारिक आदर्श चले आ रहे थे, उनकी भित्ति इतनी दृढ़ थी कि उन्होंने देश को डूबने से बचा लिया। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक ग्राम अखंडित सत्ता था। एक प्रकार से ग्राम-स्वराज्य बहुत पहले से यहाँ चल रहा था। प्रत्येक गाँव का व्यापार उन महाजनों के हाथ में होता जो वंशपरंपरागत रूप से उसे चलाते रहते। स्मृतिकारों ने मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य और समाज के संबंध में जो नियम बनाये थे, वह व्यापक रूप से स्वीकार कर लिये गये थे। वेद की भाँति स्मृतिग्रंथ भी प्रमाण माने जाने लगे थे। जहाँ किसी नियम-विशेष के संबंध में मतभेद होता वहाँ ब्राह्मण-परिषद का निर्णय ही सर्वमान्य रहता। सामंत-युग में उज्जयिनी, काशी, पूना, मिथिला और नवद्वीप एक प्रकार से सांस्कृतिक केन्द्र हो गये थे। इन्हीं केन्द्रों में स्मृतियों की व्यवस्था पर तर्क-वितर्क किया जाता। स्मृतियों

के विधि-निषेध के लिए राजा की आज्ञा की आवश्यकता नहीं रहती थी। उस समय समाज की शक्ति इतनी थी कि उसकी असम्मति और बहिष्कार का भय लोगों को दुष्कर्मों से रोके रखता। इस प्रकार जीवन के सारे व्यापार राजा और राज-दरबार की अपेक्षा किये बिना चल जाते। इन स्मृतिग्रंथों की दैनिक व्यस्थाओं के ऊपर था वर्णाश्रम धर्म। यह एक ऐसा तंत्र था जिसने देश भर के सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बना दिया था। आज चाहे हम वर्णव्यस्वथा को कितना ही लांछित क्यों न समझें, इसमें संदेह नहीं कि वह विदेशी संघर्ष के समय हिंदुत्व की रक्षा के लिये ढ़ाल सिद्ध हुई है। देश भर में ब्राह्मणों ने बड़ी शक्ति से इस व्यवस्था को स्थापित कर दिया। वर्ण धर्म बन गया। विद्या और संस्कार के क्षेत्र में संस्कृत भाषा माध्यम बनी। उसकी साधना जीवन-दीर्घ उपासना। धर्मशास्त्र (स्मृतिग्रंथ) राष्ट्र-नियम बन गये, प्रमाण के लिये उन्हें उपस्थित किया गया, उनके ज्ञान का अधिकारी राज-दरबार में मान पाता। आध्यात्मिक विषयों में जहाँ धर्मग्रंथ शांति देते थे, वहाँ वे सांसारिक विषयों में भी मार्गप्रदर्शन करने लगे।

वर्णाश्रम धर्म ने युद्ध की सारी ज़िम्मेदारी क्षत्रिय वर्ग को सौंप दी थी। यह क्षत्रियवर्ग युद्ध को 'स्वधर्म' मानता था और राजा, ब्राह्मण और गाय के लिए अपने प्राण देने को तैयार रहता था। पहली शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक भारत पर

अनेक आक्रमण हुए परन्तु युद्धव्यवसायी सैनिकों को ब्राह्मणों ने क्षत्रिय (राजपूत) मान कर उन्हें वर्णव्यवस्था में उचित स्थान दे दिया। वास्तव में राजक्षेत्र में ब्राह्मण और क्षत्रिय की सहकारिता चंद्रगुप्त-चाणक्य (कौटिल्य) के समय स्थापित हुई। यह अगली शताब्दियों में बराबर बनी रही। इसने भारतीय राजपद्धति को शक्तिशाली बनाया। राजा राजसंचालन करता, युद्ध करता। ब्राह्मणमंत्री स्मृतिग्रंथों के अनुसार समाजपालन की व्यवस्था करता। राजधर्म प्रजापालन था, परन्तु जिस लोकधर्म की व्यवस्था स्मृतिकारों ने दे दी थी, उसको किसी भी प्रकार बदलने का अधिकार राजा को नहीं था। देव-ब्राह्मण, स्त्री और गाय की रक्षा के उपरांत जो कर्तव्य बचते, वह स्मृतिग्रंथों की व्यवस्था के अनुसार ही निभाये जाते। कोई नया विजेता जब कोई राज्य स्थापित कर पाता, तो ब्राह्मण ही राज्य की व्यवस्था करते। वही स्मृतिग्रंथ, वही समाज-व्यवस्था, वही क़ायदे-क़ानून। राज्यगद्दियाँ बदल जातीं, परन्तु मंत्री, ब्राह्मण, लेखक और अनुचर वही रहते। उलटफेर के बीच भी विशाल हिंदू जाति की जीवन-व्यवस्था और जीवन-प्रवाह पूर्ववत् अव्याहत रूप से चला करते। इसी से इस काल में देश भर में अगणित युद्ध होने पर भी सभ्यता और संस्कृति को विशेष हानि नहीं पहुँची और समाज का जीवन उसी प्रकार सुसंगठित रहा। प्रत्येक वर्ण अलग-अलग अपना काम करता रहा। ग्रामजीवन में कुछ भी विक्षेप नहीं पड़ा।

वास्तव में भिन्न-भिन्न युद्धव्यवसायी सैनिकों के बीच युद्ध एक नियमपूर्वक नियमबद्ध द्वन्द्वयुद्ध मात्र रह गया था। वह राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न नहीं था। युद्ध का परिणाम यही होता कि विजित देश विजयी देश की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकार कर लेता, उसे कर देता, या सामंती व्यवस्था में उसे सहायता देने के लिए स्वीकार करता। एक राज्य की सत्ता दूसरे राज्य की सत्ता में विजित होने पर भी एकदम मिल नहीं जाती थी। उस समय साम्राज्य-स्थापन का अर्थ था सेना की प्रबलता। इससे अधिक उसका कोई अर्थ नहीं था।

देश एक था। समाज के संस्कार एक। समाजतंत्र एक। युद्ध के परिणामस्वरूप राजवंश बदल जाते, परन्तु समाज में कोई फेरफार नहीं होता। हर राज्य में शस्त्रसेवी क्षत्रियवर्ण रहता, कोई बड़ी सेना नहीं रहती। बिना स्थायी सेना के साम्राज्य की स्थापना संभव नहीं थी। जिस समय मध्यऐशिया के महान् सेनापतियों के साथ विदेशी इस्लाम मतावलंबियों ने इस देश पर आक्रमण किया, उस समय हमारे पास एकरूप संस्कृति और अद्भुत समाजव्यवस्था थी, परन्तु उनसे टक्कर लेने वाली सेना-प्रधान एकतंत्र सत्ता कोई न थी। यह विदेशी भारत के धन-ऐश्वर्य से आकर्षित होकर देश जीतने के लिये आये थे। इन आक्रमणकारियों के लिये न कोई मर्यादा थी, न कला-कौशल के प्रति प्रेम, न कोई वस्तु पवित्र थी। 'ध्वंस-ध्वंस'—यही उनकी पुकार थी। भारतीय साहित्य

में इस महान् विध्वंस के अनेक वर्णन मिलते हैं। कदाचित् भारतवर्ष ने इतने बड़े अनर्थकारी विध्वंस कभी नहीं देखे थे। भारतवर्ष में युद्ध व्यवसायी वर्ग क्षत्रिय धर्मयुद्ध को सर्वोपरि मानता था। इस अनियमित विध्वंस का सामना करने में यह वर्ग अशक्य था। राजपूत भट (योद्धा) युद्ध में पैर पीछे रखने की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना अच्छा समझते थे। छल-छंद उन्हें आते नहीं थे। स्त्रियों के शील का विजेता सम्मान करते। कृषि उजाड़ नहीं बनाई जाती। यह नई ढंग की उच्छृंखल लड़ाई भारतीय योद्धाओं की समझ में ही नहीं आती थी।

दिल्ली के सुलतानों ने थोड़ी-बहुत सेनाओं के सहारे दिल्ली पर तो क़ब्ज़ा बनाए रखा, परन्तु उन्हें बराबर प्रतिकार (सशस्त्र विरोध) का सामना करना पड़ा। स्वयं दिल्ली के सैनिकों में देशी-परदेशी अनेक प्रकार का रक्तसम्मिश्रण हो चुका था। उमराओं के भी दो वर्ग थे—परदेशी सरदार और हिन्दुस्तानी अमीर वर्ग। स्वयं हिन्दुओं ने भी सुलतानों की अमूल्य सेवाएं की और इन सब कारणों से दिल्ली के सुलतान हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सके।

शीघ्र ही दिल्ली देशी-विदेशी संस्कृतियों का केन्द्र बन गई। एक प्रकार का आदान-प्रदान शुरू हुआ। देशी संस्कृति को पराजित करना असंभव था। अतः समन्वयसूत्र आरंभ हुआ। नई भाषा गढ़ी जाने लगी। नई संस्कृति। यद्यपि उस समय इस

सांस्कृतिक समन्वय का प्रभाव थोड़ा पड़ा, परन्तु कालांतर में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों पर यह प्रभाव पड़ा। आर्थिक दशा में तो कोई विशेष भेद पड़ा नहीं। इन अमीर-उमराओं का सारा धन इसी देश में खर्च होता था। इससे देश दरिद्र नहीं बना। दिल्ली की राज्यशक्ति विधर्मी चाहे मानी गई हो, परन्तु परदेशी नहीं मानी गई, न परदेशियों के हित-साधन के लिए उसने राज्य किया।

फिर भी भारतवर्ष में नई शक्ति के प्रतिकार के लिये काफ़ी बल था, यद्यपि उसे निर्मूल करना असंभव था। उदयपुर जैसे कई हिंदू राज्यों में तो यह प्रतिकार प्राणपण से बराबर चलता रहा। यह नई शक्ति चाहे जितनी व्यवस्थित हो, वह क्षत्रिय वर्ण के महारथियों से मोर्चा नहीं ले सकती थी। भाड़े के सैनिक कितना लड़ पाते। परन्तु विदेशियों के लिए धर्म-अधर्म कुछ था नहीं। हिन्दोस्तान के ही सैनिकों के सहारे उन्होंने हिन्दोस्तान को जीता। उनके अनेक युद्धों में धर्मयुद्ध की तो कोई बात नहीं थी। जब कोई हिन्दू राजा विजित हो जाता, तो राजा और उसके दरबारी पदभ्रष्ट कर दिये जाते। जो हिन्दू अमलदार इस्लाम स्वीकार कर लेते उनके ओहदे बने रहते। जो हिन्दू विद्याएँ राजाश्रय में चल रही होतीं, उनका राजाश्रय समाप्त हो जाता। बहुधा ऐसा होता कि हिंदू सामंत वीर क्षत्रियों और कुछ जनता को लेकर देश छोड़ कर किसी शांतिपूर्ण प्रदेश में चला जाता और वहाँ नई बस्ती बसा कर रहता। पहले ही

की तरह उसका राजतंत्र चलने लगा। स्थानीय जागीरदार और सरदार उससे संधि कर लेते। दिल्ली के सुलतान को बराबर इन नई शक्तियों की चिंता रहती। सूबे विद्रोह के लिए तैयार रहते। स्थानीय हिन्दू सरदारों के बल पर यह विद्रोह सफल भी हो सकता था। इन सब कारणों से इस अशांत स्थिति में भी युगों से चली आती हुई राज्यव्यवस्था और ग्राम-जीवन की परंपरा में कोई फेरफार नहीं हुआ। देश के सामाजिक और धार्मिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सब अखंडित, अस्खलित बना रहा। जब कोई राजा नई बस्ती बसाता तो अपने साथ उस प्रदेश का धर्म, रीति-रिवाज और समाज-व्यवस्था भी ले जाता। जब तक संभव होता, जब तक वह स्वतंत्र होता, तब तक इनकी रक्षा करता। वास्तव में इस युग (११७५—१४००) के इतिहास को परदेशियों की विजय की दृष्टि से देखना अनुचित है। उसे हिन्दू जनता, हिन्दूधर्म और हिन्दू समाज-व्यवस्था द्वारा किये गये प्रतिकार की दृष्टि से देखना चाहिये। तभी हम अपनी संस्कृति के संबंध में न्याय कर सकेंगे। तभी हम इस युग के हिन्दू साहित्य का महत्त्व समझेंगे।

११७५ ई० में जो चढ़ाइयाँ शुरू हुईं उनका अंत १३५१ ई० में मुहम्मद तुग़लक़ की मृत्यु से होता है। इन दो सौ वर्षों में देश की संस्कृति और सभ्यता पर जो प्रहार हुए उनसे देश जाग उठा। नई परिस्थितियाँ आईं। नये प्रश्न उठे। सांस्कृतिक प्रति-कार की भावना से हिन्दू जनमत भर उठा। 'धर्मयुद्ध' की बात

जाती रही। जब विदेशी युद्ध में नियम नहीं मानते, तो फिर हिन्दू ही क्यों मानें ? पिछली कई शताब्दियों से राजसत्ता और ब्राह्मणों का जो निकट का संबंध चला आता था, वह नष्ट हो गया। युद्धों में रक्त-पात के विषय में संयम जाता रहा। निःशस्त्र जनता भी शस्त्रपीड़ित होने लगी। परंतु समाजव्यवस्था अब भी ईश्वर-प्रेरित मानी जाती। समाज के नियमों और विधिविधानों के आधार प्राचीन स्मृतिग्रंथ ही थे। आगन्तुकों के साथ सामाजिक वहिष्कार चलने लगा। परन्तु धीरे-धीरे इस वहिष्कार ने स्वयं हिन्दू जाति को अपने भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रति असहिष्णु बना दिया। रूढ़ियों का जोर चल पड़ा। बिरादरियों के ताने-बाने बुन गये। स्थानीय जातियाँ चल पड़ीं। राजदरबार में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा न होने से समाज और राजा का संबंध ही टूट गया। केवल हिन्दू राजाओं में थोड़ी बहुत ब्राह्मण की प्रतिष्ठा थी और पुरानी व्यवस्थायें चल रही थीं। इस समय जो उच्छृंखलता समाज में आ गई थी, उसे कोई केन्द्रीय हिन्दूराजसत्ता ही दूर कर सकती थी। परन्तु ऐसा कोई हिन्दू राज्य शिवाजी और उनके वंशजों के समय तक स्थापित नहीं हो सका। विदेशी शासक हमारे समाजतंत्र में किंचित भी फेर-फार करने में समर्थ नहीं थे। स्वयं हिन्दू समाजनेताओं ने ऐसा प्रयत्न किया, परन्तु विशेष रचनात्मक कार्य करने में वे असफल रहे। निरंकुश लश्करी (फौजी) छावनियाँ सारे देश में ताने-बाने की तरह फैली हुई थीं।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि समाज के नेताओं ने इस सारे युग में अपने प्रतिकार-शस्त्र को तीव्र बनाये रखा। फिर भी वर्णव्यवस्था की असमानता और उच्चाकांक्षा के कारण धर्म-परिवर्तन हुए ही। दिल्ली, जौनपुर आदि राजकेन्द्रों में ऐसे धर्मांतर विशेष संख्या में हुए। धर्मांतर, मिश्रविवाह और मिश्र युद्धव्यवसायी सेना के फलस्वरूप एक सामान्य भाषा और संस्कृति का जन्म हुआ और इसके द्वारा हिन्दू-मुसलमानों का वैमनस्य कम होने लगा। अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही यह समन्वय चल पड़ा था। विद्वानों, कवियों, संतों, भक्तों, सूफी साधकों और युगचेत्ता महापुरुषों ने इस समन्वय की दिशा में देश को आगे बढ़ाया।

इस समय के राजदरबारों के बाहर देश में एक महान् भावना इस युग में भर गई। भारतवर्ष की पुरातन अमर संस्कृति को इस युग में नये रूप में गढ़ा गया। जो धर्मप्रवाह इस युग में कुछ रुक-सा गया था, वही अगले युग (१४००—१६००) में महान् वेग से बहने लगा। महान् सुधारक रामानंद (१२६६ ई०—१४१८ ई०) ने भारतीय संस्कृति के सनातन आदर्शों को युग के अनुरूप बना कर, शुद्ध कर, नये रक्त का बल दे कर जनता के सामने उपस्थित किया। पंडित और साहित्यकार राज्याश्रय विहीन हो गये थे। उन्होंने जनता की ओर अपना मुख किया। संस्कृत की ओर से हटकर भारतीय प्रज्ञा प्राकृत भाषा की ओर उन्मुख हुई। जिन केशवदास के

पूर्वज युगों-युगों से संस्कृत की आराधना में मग्न थे, वही लोक-भाषा की ओर आने लगे। उन्हें इस बात का दुःख था, परन्तु और कोई मार्ग था भी नहीं। एक महान् सांस्कारिक समन्वय आरम्भ हुआ। आरम्भ तो वह इसी युग (११७५—१४००) में हो गया था, परन्तु उसका विशेष विकास अगले युग—(१४०० १६००) में हुआ।

इस सारे सिद्ध सामंत-युग ७०० ई०—१४०० ई०) में हिंदुओं में अनेक तत्त्ववेत्ताओं, विचारकों और धर्मप्रवर्तकों का जन्म हुआ। अगले युग की धार्मिक और दार्शनिक चिंताधारा पर इन विचारकों ने अपनी छाप छोड़ी है। इसलिए ये ऐतिहासिक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। शंकराचार्य (७६०—७८० के लगभग), रामानुज (१०१०-१०५० के लगभग), निम्बार्क (११५०), मध्वाचार्य (११९९—१२७८) इस युग के प्रतिभाशाली दार्शनिक, भाष्यकार (टीकाकार) और धर्मप्रवर्तक हैं। इन्होंने क्रमशः अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत वादों की स्थापना की। इन वादों की परम्परा बौद्धों के दार्शनिक सिद्धांतों से मिलती चली आती है। पहली ईसवी से पांचवीं-छठी शताब्दी तक बौद्ध विचारकों ने अनेक दार्शनिक मतवाद उपस्थित कर दिये थे। हिंदू तत्त्ववेत्ताओं ने उपनिषद्, गीता, पुराणधर्म और षट्-दर्शन की विचार-परम्परा को दृढ़ किया, परन्तु बौद्ध विचारकों की तीव्र मनीषा के आगे वे कई शताब्दियों तक हतप्रभ रहे। बौद्धों से पहले सांख्य और योग विचारधाराओं का काफ़ी

विकास हो गया था। कपिल और पतंजलि इन विचारधाराओं के प्रवर्तक थे। सांख्य अनीश्वरवादी थे। पतंजलि ने सांख्य के प्रकृतिवाद को ईश्वरवाद की भित्ति देकर नया रूप दे दिया। बौद्धविचारधारा इन दोनों वादों से प्रभावित हुई है। पतंजलि के समय तक (ई० पू० दूसरी शताब्दी) इन दोनों विचारों में काफ़ी विकास हो चुका था। इन हिन्दू मतवादों का जैन और बौद्ध मतवादों पर भी प्रभाव पड़ा। पहली शताब्दी से पांचवीं-छठी शताब्दी तक मीमांसा नाम से एक नई दार्शनिक धारा का विकास मिलता है। इसकी दो शाखाएँ हैं: पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। इनमें पूर्व मीमांसा विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। इन मीमांसा-सूत्रों के आधार पर सातवीं-आंठवीं शताब्दी के हिंदू विचारकों ने बौद्ध धर्म से मोर्चा लिया। सातवों शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने इनके आधार पर बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और आधुनिक हिंदू धर्म की नींव डाली। वास्तव में इन्हीं बादरायण के मीमांसा सूत्रों (ब्रह्मसूत्रों) के सहारे मध्ययुग में वेदों और स्मृतियों की व्याख्या हुई। इन्हें वेदांतसूत्र भी कहा गया। वास्तव में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता उस समय बृहद्त्रयी नाम से प्रसिद्ध थे और प्रत्येक आचार्य अपने मतवाद को इनके आधार पर ही स्थित करता था। शंकर, रामानुज, निंबार्क और मध्व ने इन ग्रन्थों के भाष्य उपस्थित किये। शंकराचार्य ने बौद्धों के शून्यवाद के अनेक सिद्धांत बदले हुए रूपों में अपना लिये। परवर्ती आचार्यों ने उनके

ब्रह्मवाद को तो ले लिया, परन्तु ज्ञान के स्थान पर भक्ति की महत्ता की स्थापना की। प्राचीन षट्दर्शन (बौद्ध, जैन, नास्तिक शैव, सांख्य, मीमांसक) के स्थान पर नये षटदर्शन (सांख्य, पातंजल योग, मीमांसा, वेदांत, न्याय और वैशेषिक) की स्थापना हुई। कपिल, पतंजलि, जैमिनि, व्यास, गौतम और कणाद इनके प्रवर्तक थे। सिद्धसामंत युग में पिछले तीन दर्शनों (वेदांत, न्याय और वैशेषिक) का विशेष विकास हुआ। न्याय और वैशैषिक मिथिला और बंगाल से संबंधित हैं। वेदांत इस युग का सबसे लोकप्रिय सिद्धांत था और दक्षिण के आचार्यों के मतवाद इसी से संबंधित हैं।

शांकरअद्वैत

मध्ययुग के वैष्णवधर्म का प्रारम्भिक रूप स्मार्त धर्म में मिलता है जिसका पुनरुद्धार शंकराचार्य ने किया था। श्री शंकराचार्य ने अद्वैतमत और ज्ञानमार्ग के होते हुए भी उसके आदर्श की दुरूहता के कारण कुछ देवताओं की उपासना साधन-रूप से मान ली थी। विशेषतः पंचदेव अर्थात् शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश और शक्ति की। स्मार्तधर्म का मूल सिद्धांत इस प्रकार है—ब्रह्म या परब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, वही इस जगत का कारण और विधाता है और वह शिव, विष्णु और ब्रह्मा या किसी भी देवता से भिन्न है। उस ब्रह्म का ज्ञान ही श्रेयस्कर है। उसके यथार्थ ज्ञान से मुक्ति और अद्वैतता प्राप्त

होती है। किंतु इसलिये कि मनुष्य का मस्तिष्क अनिर्वचनीय मूल कारण के अनुभव करने के लिये समर्थ है, उसका अनुभव देवताओं के ध्यान द्वारा किया जा सकता है। यह धर्म हिंदुओं के सभी देवताओं का आदर करता है, और निम्नलिखित देवताओं की उपासना की तो शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से अपने शिष्यों को अनुमति दी है—शिव, विष्णु, कृष्ण, सूर्य, शक्ति, गणेश और भैरव। परन्तु वास्तव में यह वैष्णवधर्म का विकसित रूप है। उसका इतिहास शंकराचार्य से शताब्दियों पहले आरम्भ होता है यद्यपि मध्ययुग के वैष्णव धर्म के जिस रूप से हम परिचित हैं उसका जन्म बुद्ध के आविर्भाव के समय ही हुआ होगा क्योंकि इसी समय रामायण और महाभारत में इस धर्म के प्रतिपादक सिद्धान्त मिलाये गये और राम और कृष्ण के अवतार की घोषणा की गई।

शांकर अद्वैत को पूर्णत: समझने के लिये हमें बौद्धों के शून्यवाद को समझना होगा। बौद्धों के अनुसार प्रज्ञा की उत्पत्ति के बाद किसी प्रकार का व्यवहार करने को नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की प्रतीति होती है कि यह दृश्यमान वस्तु जगत माया के सदृश है, तथा स्वप्न की तरह अलीक और मिथ्या है। इसकी व्यावहारिक सत्ता ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। इस प्रतीति से समुत्पन्न बोधि चित्त नि:स्वभाव, निरालम्ब, सर्व-शून्य, निरालय होता है। वह शून्यता का अनुभव करता है।

यही शून्यवाद है। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी, शुष्क, निवृत्ति-प्रधान था, परंतु महायानी दर्शन बोधिसत्व की भक्ति और शरणागति का उपदेश करता था। वह एक प्रकार से ईश्वरवादी और प्रवृत्ति-प्रधान था। महायान के इस रूप का भी विकास हुआ। तंत्र-मंत्र की भी प्रतिष्ठा हुई जिसने मंत्रयान की नींव डाली जिसके आधार पर धरणियों का एक बड़ा साहित्य ही खड़ा हो गया। आगे चल कर मंत्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिसमें मद्य, मंत्र, हठयोग तथा मैथुन की शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान तांत्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप है। दार्शनिक दृष्टि से यह "शून्यवादी" ही है—

दृढ़ सारमसौशौर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते

अद्वय वज्रसंग्रह, पृ० २३)

बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति शंकराचार्य के जन्म से बहुत पहले ही प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। जब बौद्ध धर्म का राजाश्रय लुप्त हो गया और धर्म का प्रभाव जनता पर से शिथिल होने लगा तब बौद्ध धर्म को परास्त करके प्राचीन हिंदू भाव उभरने लगे। दार्शनिकों ने यह परिस्थिति देखी। उन्होंने उभरते हुए भावों को दर्शन का सहारा दिया। इस तरह उन्होंने बौद्ध धर्म के मूलाधार पर चोट की। भारत में धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं। दार्शनिकों ने धर्म की ओर मुड़ कर

देखा है और धर्म ने दार्शनिकों का सहारा पाकर ऊँचे स्तर पर उठ कर जनभावों के परिमार्जन की चेष्टा की है।

प्राचीन पराजित ब्राह्मणधर्म को पुनः स्थापित करने के लिये जहाँ बौद्धदर्शन को आत्मसात कर लिया गया है, वहाँ उसकी नास्तिकता के विरुद्ध युद्ध किया गया। शांकर अद्वैत को वादरायण के सिद्धांतों से मिलाने पर उसमें बौद्ध दर्शन की प्रतिक्रिया स्पष्ट लक्षित होती है। शंकर के ब्रह्म की कल्पना बौद्धों के शून्य से मिल जाती है। उनके अद्वैत का मूल तत्त्व है "सर्व खल्विदम् ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन:"। उनके सिद्धांत-वाक्य हैं—"तत्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", सद् सदभ्यां अनिर्वचनीय ब्रह्म"। शंकर के ब्रह्म की यह परिभाषा बौद्धों के 'शून्य' से मिल जाती है और इसीलिये शंकराचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध" कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर ने बौद्धों से उनकी ज़मीन पर ही मोर्चा लिया और उन्हीं के सिद्धांत-वाक्यों का दूसरी भाषा में प्रयोग किया। सर राधाकृष्णन् का कथन है—"यह कहा जाता है कि ब्राह्मण मत ने बौद्ध मत को गले से लगा कर उसके प्राण ले लिये। इस बात में झूठ है भी नहीं।" शंकर ने चरमसत्ता के तीन रूप माने हैं— पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभाषिक। वस्तुतः पारमार्थिक रूप ही सत्य है। शंकर का ब्रह्म एक प्रकार से निर्गुण ब्रह्म ही है, जिसमें माया का भी योग हुआ है। व्यावहारिक सत्ता के आधार पर उन्होंने व्यवहार के लिये विष्णु

का माना है। पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता में कोई विशेष संबंध नहीं है, परंतु मनुष्य मात्र पारमार्थिक सत्ता की कल्पना तक उठ नहीं सकते। अतः व्यावहारिक सत्ता की योजना की गई। सांख्य योग में प्रकृति का जो स्थान है वही शांकर अद्वैत में माया का है। प्रकृति और जीव भी ब्रह्म ही हैं, भेद का कारण विधृत या आभास है जैसे रस्सी में साँप का आभास या सीप में चाँदी का। इस विवृत या आभास का कारण माया है जिसका एक रूप अविद्या भी है।

अद्वैतवाद के सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भक्ति को स्थान नहीं मिल सकता था परंतु शंकर की भक्तिपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वह व्यावहारिक रूप से द्वैत-भावना (ईश्वर-जीव के भेद) के भी पोषक हैं। सच तो यह है कि बौद्ध धर्म के परवर्ती रूप महायान ने साधारण जनता में भक्तिभावना इतनी भर दी थी कि कोई भी व्यक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था।

शंकर ने भारतीय चिंतन को दो मुख्य बातें दी है—एक, ज्ञान को दृष्टमान और अदृश्य जगत का मापदंड मानना और दूसरा, अद्वैतवाद। परंतु अपने तर्कमूलक ज्ञान से अद्वैतवाद की स्थापना करने के लिये शंकर को मायावाद का आविष्कार करना पड़ा। साधारण जनता में उनका यह मायावाद विकृत रूप में पहुँचा। "यह सब दृश्य जगत असत्य है, नाशवान है, माया है।" उनके ज्ञानमूलक दृष्टिकोण ने संत-सुधार को और

योगियों को प्रभावित किया। कई शताब्दियों तक भारतीय सुधारक और चिंतक इस ज्ञान में भक्ति का योग देने में लगे रहे। शंकर ने जनता में वैदिक धर्म की आस्था और वेद के प्रति अत्यंत श्रद्धा का भाव भर दिया। दार्शनिक क्षेत्र में उन्होंने अपने दर्शन को प्रस्थान त्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता) पर स्थिर कर बाद के आचार्यों के लिये यह समस्या उत्पन्न कर दी कि वे भी अपने सिद्धान्तों को इन्हीं तीन ग्रंथों पर आरोपित करें। दार्शनिक क्षेत्र में इन ग्रंथों की ऐसी मान्यता शंकर के ही कारण थी। वास्तव में टीका-युग की टीकाएँ टीकाएँ नहीं हैं, मौलिक-मत को मान्य पुस्तकों पर आश्रित करने की चेष्टा मात्र हैं।

परंतु जनता में भक्ति का आन्दोलन निरंतर बढ़ रहा था। परिस्थिति विशेष एवं वैयक्तिक भावनाओं के कारण अगले आचार्य शंकर की दार्शनिक मान्यता के विरुद्ध उठ खड़े हुए। शंकर ने व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं की कल्पना करके व्यवहार के लिये पंच देवताओं की पूजा और भक्ति को स्वीकार कर लिया था परंतु परवर्ती आचार्यों ने इस प्रकार के दो दृष्टिकोण बनाना उचित नहीं समझा। भक्ति के विकास के साथ भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी। उन्हें ध्यान में रख कर इन आचार्यों ने अद्वैत के विभिन्न रूप स्थिर किए और उन्हें धीरे-धीरे द्वैत तक ले गये जो भक्ति-भावना को दृढ़ करने के लिये अत्यंत आवश्यक था। यदि हम मध्ययुग

की दर्शन-चिंतना के क्रमिक विकास पर ध्यान दें तो हमें अद्वैत से द्वैत की ओर संक्रमण करने और द्वैत तथा अद्वैत सिद्धांतों में सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देगी। ११ वीं शताब्दी में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, निंबार्क ने द्वैताद्वैत, १३ वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत और १४ वीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने द्वैत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सभी परवर्ती दार्शनिक चिंतनाओं में ब्रह्म का निरूपण अद्वैतवाद से किसी न किसी रूप में भिन्न है। वास्तव में जन-साधारण निर्गुण, अनिर्वचनीय ब्रह्म की उपासना के लिये अधिक समय तक उत्साहित नहीं रह सकता था। मूल अद्वैती दृष्टिकोण में व्यावहारिक दृष्टि से भक्ति का योग था। परंतु उसमें परिवर्तन उपस्थित करने का कारण इस युग की भक्ति-भावना ही है। अत्यन्त प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखते हुए और उसकी भक्ति करते हुए आर्य जाति का चिर-काल तक निर्गुणवादी बना रहना बहुत कठिन था।

परन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से भी इस पर विचार किया जा सकता है। भक्ति की भावना मूलतः भारतवर्ष की प्रागैतिहासिक भावना है। जान पड़ता है इस देश के मूल निवासियों में शिव-शक्ति को लेकर रागात्मिका भक्ति की परम्परा अनार्ययुग में भी चल रही थी। वेदों के कर्मकांड और उपनिषदों के ब्रह्म-वाद ने इसको ढक अवश्य दिया परन्तु इसका पूर्णतयः लोप होना असम्भव था। बौद्ध, चार्वाक (लोकायत) और जैन

दर्शनों का विकास उपनिषदों के बाद हुआ। ये सब अनात्मवादी थे और इनमें साधारणतः भक्ति के विकास का ज़रा भी स्थान नहीं था। बौद्ध और जैन धर्म के विकास के संबंध में हमें काफ़ी सामग्री मिलती है। जान पड़ता है जनता की मूलबद्ध भक्तिभावना बहुत दिनों तक कुंठित नहीं रह सकती थी। इसीसे भगवान बुद्ध को आलंबन बनाया गया। उत्तर पौराणिक काल में रामकृष्ण भी भक्तिभावना के केन्द्र बने। दक्षिण में शिव और विष्णु को लेकर यह भक्तिभावना १ शती से ही चली आती थी। शंकराचार्य ने जहाँ दार्शनिक रूप से उपनिषदों के ब्रह्मवाद और बौद्धों के शून्यवाद (निर्गुण) का समन्वय किया, वहाँ उन्होंने दक्षिण की अलवारों की विष्णुभक्ति और अदूयारों की शैवभक्ति से भी उत्तर को परिचित कराया। अद्वैत भावना प्रधान होने के कारण उन्होंने भक्ति को केवल व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकार किया था। पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैतवाद में भक्ति की योजना असंभव है। बाद के आचार्यों ने भक्ति को प्रधानता दी और उसी को ध्यान में रखकर शांकराद्वैत की नई-नई व्याख्याएँ की। इनमें उनके भक्तिज्ञान-संघर्ष की झलक स्पष्ट है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत

रामानुजाचार्य का जन्म सन् १०१७ ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु सन् ११२० ई० में हुई। उनके समय में धार्मिक

क्षेत्र में उच्छृंखलता फैली हुई थी। दार्शनिकों में शंकर के मायावाद का प्रचार था। व्यवहार में अनेक मतमतांतर फैले हुए थे। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना होती थी। मायावाद के आड़ में नाथ-संप्रदाय अपने योगमार्ग का प्रचार कर रहा था। पूर्व में एक वाममार्गी स्त्री-उपासक सहज मत का जन्म हो गया था। त्रिपुरसुन्दरी की पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय में रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म का एक नये प्रकार से संगठन किया। उन्होंने उन सब धर्मसंप्रदायों को एक कर लिया जो शास्त्रविहित थे और उनका वैष्णव धर्म से संबंध स्थापित किया। शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करने में उन्हें अपनी शक्ति विशेष रूप से लगानी पड़ी। शंकराचार्य ने बौद्ध शून्यवाद के खंडन में ज्ञान का आश्रय लिया था, अतः उनका भक्ति-धर्म आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु रामानुज का नया मत जनसाधारण के लिए था, इसलिए उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में भक्ति को भी स्थान देने की आवश्यकता समझी। वह मुक्ति के लिये ज्ञान को उपादेय मानते थे। परन्तु सभी मनुष्यों का ज्ञानी होना असंभव है। जो ज्ञानी नहीं थे उनके लिये उन्होंने भक्ति की योजना की। वैष्णवधर्म में द्विजातियों को विशेषाधिकार प्राप्त था। उन्हें भक्ति का आदेश मिला। शूद्रों के लिये रामानुजाचार्य ने एक नई कल्पना की। उन्होंने उनके लिये प्रपत्ति का उपदेश दिया। प्रपत्ति का अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर अपना विस्तार कर देना। इस प्रकार हम देखते

हैं कि रामानुजाचार्य ने उत्तरी भारत के धर्मक्षेत्र में भक्ति का बीज बोया परंतु उस बीज ने वृक्ष का रूप ग्रहण करने में कई शताब्दियों का समय लिया।

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुज ने शंकर का अद्वैतवाद स्वीकार तो किया, परंतु माया की सत्ता को स्वीकार न करने के कारण उसे 'विशिष्ट' (एक विशेष प्रकार का) कहा। शंकर ने अद्वैतवाद की कल्पना को पुष्ट करने के लिये माया की अवतारणा की थी, परन्तु उनके अद्वैतवाद से बौद्ध शून्य की भावना का योग होने के कारण माया की भावना शीघ्र ही जनता में घुस गई। अन्य भक्तों ने इसे भक्ति में बाधक मान कर इसे दूर करने की चेष्टा की परन्तु यह माया की भावना आज तक जनता में चली आ रही है। दार्शनिक सिद्धांतों में सब से पहले विशिष्टाद्वैत ने माया का अग्राह्य बताया। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव, ब्रह्म और प्रकृति (परब्रह्म, चित् और अचित् या दृश्यम्) तीनों की सत्ता सत्य है। इसीलिये इस सिद्धांत में माया की आवश्यकता नहीं। ये "पदार्थ त्रियम्" हैं, सत्य हैं। ब्रह्म और चित् एक ही तत्त्व से निर्मित हैं। उनका अंतर मायाजनित नहीं है। रामानुज के सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाँच प्रकार से होती है—(१) अंतर्यामिन् (२) सूक्ष्म (३) पूर्णावतार (४) अंशावतार (५) अर्चावतार (मूर्ति)। वास्तव में ये ब्रह्म के क्रमागत स्थूलीकरण की चेष्टा है जिसमें युग की सारी जन-मान्यताओं का आश्चर्यजनक रीति से समावेश हो गया है।

परन्तु जहाँ इनमें से प्रत्येक स्वयम् ब्रह्म होने के कारण उपास्य है, वहाँ वह क्रमशः साधक की भिन्न-भिन्न अवस्था को भी सूचित करता है। मूर्तिपूजा, अंशावतारपूजा, पूर्णावतारपूजा और सूक्ष्म की उपासना को क्रमशः पार करके साधक हृदय में अंतर्यामिन् की अनुभूति प्राप्त करता है।

रामानुज का मत है कि सृजन से पहले चरमसत्ता अत्यंत सूक्ष्म रूप में रहती है और जब सृजन प्रारम्भ होता है तो वह सृष्टि का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि का उपादान-कारण है। इसके अतिरिक्त सृष्टि उसी की इच्छा से उत्पन्न होती है। यही ब्रह्म अंतर्यामिन् रूप में सृष्टि को परि-चालित करता है। सृष्टि का बीजरूप प्रकृति कहलाता है। प्रकृति से अव्यक्त की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त से महत्। इसके बाद सृष्टि के विकास की कल्पना सांख्य के ढंग पर की गई है। महत् से अहंकार, अहंकार से मनस्, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ जिनसे पंचभूत की सृष्टि होती है। इस विकास का कारण भी ईश्वर या ब्रह्म ही है क्योंकि प्रकृति और तत्त्व उसी से परिचालित हैं। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो गुणों को जन्म देता है और उनमें प्रकट होता है। रामानुज के अनुसार ईश्वर पाँच रूपों में प्रकट होता है— पहला, पर—इस रूप में वह वैकुण्ठ में निवास करता है। यह उसका महत्तम रूप है। दूसरा, व्यूह—यह पर के ही चार रूप हैं। वैकुण्ठवासी पर ईश्वर भक्तों की सुविधा एवं सृष्टि के

लिये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप में प्रकट होता है। वासुदेव में छः गुण हैं—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेजस्। शेष तीनों रूपों के दो-दो गुण हैं। संकर्षण के गुण हैं ज्ञान और बल, प्रद्युम्न के ऐश्वर्य और वीर्य और अनिरुद्ध के शक्ति और तेजस्। तीसरा विभव जिसका प्रधान गुण विभूति या ऐश्वर्य है। इसी के अंतर्गत १० अवतार आते हैं। चौथा अंतर्यामी, जिस रूप में ईश्वर मनुष्य-मात्र के हृदय में रहता है। पाँचवा अर्चावतार अर्थात् ईश्वर का वह रूप जिसमें वह मूर्तियों में निवास करता है।

शंकर जीवात्मा की स्थिति को नहीं मानते, अतः उन्होंने जीवात्मा के गुणों पर विचार नहीं किया। रामानुज जीव की स्वतंत्र सत्ता को मानते हैं। उनके अनुसार जीव नित्य, प्रकाशवान, चिदानंद है। वह अपनी सत्ता के लिये ब्रह्म का आश्रित है एवं उसी का विकास है। जीव तीन प्रकार के हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्ध जीव भी दो प्रकार के हैं। विषयी और कर्मकांडी और ज्ञानवान तथा अज्ञान। बद्ध जीव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति होना चाहिये। रामानुज ज्ञान पर बल देते हैं। पहले जीव ज्ञान प्राप्त करे, फिर कर्मों के द्वारा पुण्य उपार्जित करे और अंत में भक्ति या प्रपत्ति का आश्रय ले। भक्ति की व्यवस्था उच्च वर्णों के लिये की गई थी और प्रपत्ति की व्यवस्था सवर्ण और अवर्ण दोनों के लिए थी। रामानुज भक्ति को प्रपत्ति से अधिक महत्त्व देते थे परन्तु यह पता लगता है कि उनके शिष्य

'भक्ति या प्रपत्ति में कौन बड़ा है ?' इस विषय में अनिश्चित मत रखते थे। प्रपत्ति का अर्थ है आत्मसमपर्ण। प्रपन्न स्वयम् को भगवान की शरणागत-वत्सलता पर छोड़ देता है। भक्त की तरह स्वयम् भगवान की ओर क्रियाशील नहीं होता। जहाँ भक्त को पूजा और उपासना-संबंधी कर्मकांडों का पालन करना पड़ता है, वहाँ प्रपन्न को कुछ भी नहीं करना पड़ता।

निंबार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद

रामानुज के कुछ ही पश्चात् (बारहवीं शताब्दी में) आंध्र देश में निंबार्क उत्पन्न हुए। उन्होंने भक्ति और प्रपत्ति को एक माना। इस प्रकार उन्होंने भक्ति के क्षेत्र को विकसित किया। रामानुज ने विष्णु तथा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व दिया था। परन्तु निंबार्क ने कृष्ण और राधा को उपास्य माना। उनके कुछ ही समय बाद उनके मतानुयायियों की संख्या ब्रज और बंगाल प्रदेश में यथेष्ट हो गई होगी। राधा और कृष्ण की अवतारणा भक्ति-आन्दोलन की एक बड़ी घटना है। उसने पहली बार मधुर भाव की उपासना को जन्म दिया यद्यपि इससे मिलती-जुलती एक उपासना-पद्धति सूफियों द्वारा इसी क्षेत्र में अंकुरित हो रही थी। बंगाल में शक्ति-उपासना के कारण इस प्रकार की मधुरभाव की भक्ति के लिए पृष्ठभूमि पहले ही बन चुकी थी। ब्रजभूमि तो कृष्ण की लीला-भूमि ही समझी जाती थी।'

निंबार्क के मत में ब्रह्म सर्वशक्तिमान और मुख्यत: सगुण है। वही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म जगत के रूप में परिणत हुआ है और प्रलय होने पर जगत ब्रह्म में लीन हो जाता है। परन्तु जगत रूप में परिणत होने पर भी ब्रह्म स्वरूपत: निर्गुण और निर्विकार है। जीव ब्रह्म का अंश है। इस प्रकार अंश-अंशी होने के कारण जीव और ब्रह्म में भेद है परन्तु यह भेद इस प्रकार का है कि ये दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। जीव और ब्रह्म की यह भिन्नता इतनी अधिक है कि मुक्तावस्था में जीव जीव ही है, वह ब्रह्म नहीं हो जाता। यह भिन्नता होते हुए भी मुक्त जीव ब्रह्म और जगत की अभिन्नता का अनुभव करता है और स्वयं अपने को और जगत को ब्रह्मरूप में देखता है। आचार्य के अनुसार जीव दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त। मुक्ति का साधन भक्ति है, परन्तु इस भक्ति का रूप उपासना-जैसा है। निंबार्क ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूप दोनों को उपासना के लिये उपयोगी समझते हैं। इनमें से किसी भी रूप को साधना का विषय बनाया जा सकता है।

मध्वाचार्य का द्वैतवाद

रामानुजाचार्य के लगभग २०० वर्ष बाद (सन् १२३७ ई०) मध्वाचार्य का जन्म हुआ। उन्होंने वैराग्य और नवधा भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने विष्णु को परमात्मा माना और

उनके राम और कृष्ण अवतारों को उपास्य ठहराया। उन्होंने कृष्ण पर अधिक बल दिया।

मध्वाचार्य के मत में ब्रह्म सगुण और सविशेष है। उनके अनुसार पदार्थ या तत्त्व दो प्रकार का है स्वतंत्र और अस्वतंत्र। भगवान् स्वतंत्र हैं, और जड़ जगत अस्वतंत्र है। मध्व के अनुसार जीव भगवान का दास है और भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करना ही जीव का महान् पुरुषार्थ है। वह ज्ञान को आवश्यक मानते हैं और अङ्कन, नामस्मरण और भजन को ज्ञान प्राप्ति का साधन। उनके अनुसार जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। ऐसा विचार करना ही अधोगति को प्राप्त होना है। ये जिस प्रकार जीव की सत्ता को मानते हैं उसी प्रकार जगत की सत्यता भी सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि विकार होने से ही जगत असत्य नहीं हो सकता। जगत ज्ञान का विषय है। और मिथ्या ज्ञान का विषय नहीं होता। अतः ज्ञान सत्य है। ब्रह्म और जीव और ब्रह्म और प्रकृति में मूलतः भेद स्वीकार कर लेने के कारण माध्व-दर्शन में माया को स्थान नहीं मिला। आचार्य के मत में जीव चेतन है परन्तु उसका ज्ञान ससीम है और उसे ईश्वर पर निर्भर रहना पड़ता है जो स्वयम् पूर्ण ज्ञानवान, चेतन और स्वतन्त्र है— यही ब्रह्म और जीव का अंतर है। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्ति के योग्य और मुक्ति के अयोग्य।

मध्व निर्वाण प्राप्ति को लक्ष्य नहीं मानते। उनके मत में वैकुण्ठ प्राप्ति मुक्ति है। मुक्ति का साधन ज्ञान है। जीव और ब्रह्म पृथक् हैं और इन दोनों में सेवक-सेव्य का संबंध है, यह ज्ञान मुक्ति का कारण है। आचार्य भक्ति को भी ज्ञान के समान ही स्थान देते हैं। उनकी भक्ति की परिभाषा है— संपूर्ण रूप से भगवान के प्रति आत्मसमर्पण।

ऊपर धर्म और दर्शन के संबंध में जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि सिद्ध-सामंत-युग (७०० ई०-१४०० ई०) वैष्णव-धर्म के विकास का युग था। वैष्णवधर्म का पहला पुनरुत्थान गुप्त काल (३०० ई०—५०० ई०) में हुआ था। सिद्ध-सामंत-युग के वैष्णव आन्दोलनों को हम वैष्णवधर्म का द्वितीय पुनरुत्थान कह सकते हैं। वैष्णव धर्म का द्वितीय पुनरुत्थान का सब से प्रधान कारण यह था कि उस समय बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था और धार्मिक क्षेत्र में एक प्रकार से रिक्तता आ गई थी। सम्राट् हर्षवर्द्धन (६०७ ई०—६५७ ई०) के बाद पश्चिमी प्रदेश से बौद्ध धर्म एक प्रकार से लुप्त हो गया। पूर्वी प्रदेशों में १२०० ई० तक पाल राजों की छाया में महायान मंत्रयान और वज्रयान के रूपों में चलता रहा। पूर्व में महायान ने तंत्रमार्ग और शक्तिपूजा को जन्म दिया। पश्चिम में राजपूत राजाओं के आश्रय में शैव धर्म का विकास हुआ। समस्त दाक्षिणात्य में विष्णुपूजा प्रचलित हो गई। कुछ ही समय बाद वैष्णव मत उत्तर भारत में भी आ गया।

उसने शिव को विष्णु की ही शक्ति माना। सारे पश्चिमीय प्रदेश और दक्षिण भारत में विष्णु के तीन रूपों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) की भक्तिपूर्ण उपासना प्रचलित हो गई।

आठवीं शताब्दी तक कुमारिल भट्ट के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म के अवशिष्ट चिह्न भी लुप्त हो गये। कुमारिल भट्ट के पश्चात् आचार्यों का युग प्रारम्भ होता है। इन आचार्यों ने वेद, उपनिषद् और पुराणों की एक बार फिर प्रतिष्ठा की। ये सब आचार्य दक्षिण से आये थे। वहाँ के अलवार भक्तों और उनके साहित्य से ये प्रभावित हो चुके थे। शंकराचार्य ने नारायण और शिव संबंधी भक्तिपरक श्लोक रच कर भक्ति का पुनः प्रवर्तन किया। उनके बाद विष्णु, राम और कृष्ण को लेकर भक्तिभावना ने विशेष विकास प्राप्त किया। वैष्णवधर्म के इस पुनरुत्थान में महायान शाखा में प्रचलित बहुत सी बातों का समावेश हो गया। इनमें दो मुख्य बातें विह्वलतापूर्ण भक्ति और मूर्ति-पूजा एवं अवतारों की कल्पना थी। महायान में २४ अतीत बुद्धों, २४ वर्तमान बुद्धों, २४ भावी बुद्धों की कल्पना थी और उनकी मूर्तियाँ भी पूजी जाने लगी थीं। हिन्दू जनता ने भी २४ अवतारों की कल्पना की। ये अवतार थे—

१ वराह, २ नृसिंह, ३ वामन, ४ परशुराम, ५ राम, वासुदेव ६ कृष्ण [नारायणीय], ७ दत्तात्रेय, ८ अनामी, ९ वेदव्यास, १० कल्कि

११ १२ १३
[वायु], मत्स्य, कूर्म, बुद्ध [अग्निपुराण और वाराह-
१४ १५ १६
पुराण], बलराम [नृसिंह पुराण], सनत्कुमार, नारद,
१७ १८ १९ २० २१
कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वंतरी [भागवत], हयग्रीव,
२२ २३ २४
पृथु, ध्रुव, नर-नारायण । इस अवतार-तालिका में पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक तीनों प्रकार की भित्तियाँ मिलती हैं। इस समय भागवत पुराण की विशेष प्रतिष्ठा हुई और इस युग की वैष्णव विचारधारा का जितना स्पष्ट चित्रण इस ग्रथ में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। १२ वीं शताब्दी में भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण पूर्व प्रदेशों में अवश्य लोकप्रिय थे और जयदेव-उमापति प्रभृति कवि इनसे प्रभावित हुए।

हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग में इस समय (७५०—१४००) धार्मिक चेतना के विशेष चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। उत्तर-पूर्व में नालंदा और विक्रमशिला में महायान का भ्रष्टरूप वज्रयान चल रहा था। यह बौद्ध संन्यासियों का धर्म था जो राजकीय सहारा न मिलने पर किसी भी आन्दोलन के अंतिम आश्रय जनता की निचली श्रेणियों को आकृष्ट करने के लिये साधना के क्षेत्र में नीचे उतर रहा था। आठवीं-नवीं शताब्दी में बौद्ध महायान सम्प्रदाय लोकाकर्षण के रास्ते बड़ी तेज़ी से बढ़ने

लगा। वह तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान, धारणा आदि से लोगों को आकृष्ट करता रहा। सिद्ध-साहित्य के पीछे इसी धार्मिक आन्दोलन का बल है। ९वीं और १० वीं सदी में नैपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध (वज्रयान) साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस धार्मिक आन्दोलन का समय ११ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक है। इसमें पतंजलि के हठयोग को अपना कर एक प्रकार के सहज साधना-मार्ग की प्रतिष्ठा और संयम पर बल दिया गया था। इसी वैयक्तिक साधना ने आगे चल कर संत-धारा (१४००—१८००) का रूप धारण कर लिया।

परंतु हिंदी प्रदेश के पश्चिमी-दक्षिणी भाग में जैन विचारावली और शैव भक्ति की प्रधानता थी। मथुरा जैसे वासुदेव-धर्मी प्रदेश के अधिष्ठाता देवता शिव हैं, कृष्ण नहीं। इससे स्पष्ट है कि इस सारे काल में शिव-भक्ति सामान्य रूप से सारे पश्चिमी भारत को मान्य थी। चीनी यात्री सुयेनच्वाँग (६०४ ई०-६६४ ई०) ने हर्ष के समय की अपनी भारत यात्रा का जो वृत्तांत लिखा है उससे हिंदू देवताओं पर प्रकाश पड़ता है। शिलादित्य ने प्रयाग में बुद्ध, आदित्य देव (सूर्य) और ईश्वर (विष्णु, शिव) की पूजा की थी। शक्र (इंद्र) और ब्रह्मा भी पूज्य थे। वास्तव में शिव, इंद्र, ब्रह्मा और विष्णु की पूजा ५०० ई० पू० के लगभग ही लोकप्रिय थी। सुयेनच्वाँग के वर्णन से

पता लगता है कि महाराष्ट्र में पुलिकेशिन् बौद्ध मत का अनुयायी नहीं था। बाद में इसी क्षेत्र में राष्ट्रकूट हुए जिन्होंने अनेक वैष्णव और शैव मंदिरों का निर्माण कराया। उत्तर भारत में इस समय विहारों के साथ देवमंदिरों का उल्लेख है। ये मंदिर शिव और विष्णु के रहे होंगे। सुयेनच्वाँग के यात्रा-वृतांत से यह स्पष्ट है कि इस समय बौद्धों और अन्य संप्रदायों में बड़ा विरोध चल रहा था। कदाचित् हीनयान संप्रदाय के बौद्ध महा-यान संप्रदाय को विधर्मी मान कर उसका विरोध भी करने लगे थे। जो अन्य संप्रदाय थे वे इस प्रकार हैं—कापालिक[१], लोकाति[२], भूत[३], निर्ग्रंथ[४], जुटिक[५] (चुंडिक), सांख्य[६], वैशेषिक[७]। प्रयाग में शिलादित्य (हर्ष) ने जो दान-यज्ञ किया था, उस अवसर पर बौद्ध स्वेनच्याँग को बध करने का भी आयोजन ब्राह्मणों ने किया था। इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म और बौद्ध-धर्म में सातवीं शताब्दी में महान् संघर्ष चलने लगा था। सातवीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी के अंत तक यह संघर्ष चलता रहा। १२ वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में बौद्ध धर्म इस्लाम धर्म के प्रहार से चूर-चूर हो गया। सैकड़ों-हज़ारों विहार खंडहर बन गये। नालंदा और विक्रमशिला जैसे धनी महान् विहार और विश्व-विद्यालय नष्ट कर दिये गये। बौद्ध पंडित और भिक्षु उत्तर की ओर हिमालय और

तिब्बत चले गये या उन्होंने कापालिक, इस्लाम और तांत्रिक मतों को स्वीकार कर लिया।

मुसलमानों के आने पर धार्मिक आन्दोलन की दृष्टि से इस देश में दो वर्ग हो गये। एक वर्ग ऊँची जातियों का था और दूसरा नीची जातियों का। नीची जातियों के वर्ग में एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन संत-धाराओं के रूप में प्रगट हुआ। सिद्धों और नाथपंथियों की विचारावली ने इस धारा को विशिष्ट रूप दिया। इस पर मुसलमानों का भी प्रभाव पड़ा। इनकी साधना का रूप भी इस्लामी साधना से मिलता-जुलता था। मुसलमानी साधना के दो रूप थे, एक वर्ग सूफ़ियों का और दूसरा ऐकेश्वरवादी पीरों का। इन दोनों वर्गों ने योगियों और संतों पर प्रभाव डाला और स्वयम् उनसे प्रभावित हुए।

मुसलमान साधक पहले पंजाब और सिंध में आकर बसे। फिर धीरे-धीरे ये सारे भारतवर्ष में फैल गये। जैसा हम पहले बता आये हैं, यह सारा युग भक्ति के उत्थान का युग था। अतः भक्तिपरक इस्लामी सूफ़ी साधना का जनता ने कभी विरोध नहीं किया। ये सूफ़ी साधक स्वयं भारतीय साधना के प्रति सहिष्णु थे। वेशभूषा में सिद्धों, जोगियों, दण्डी-वैरागियों और इन मलिंगों (सूफ़ी साधकों) में कोई विशेष अन्तर नहीं था। मसूदी (१०४५—११२१ ई०), मुईनउद्दीन (११४२ ई०), क़ुतबुद्दीन काकी, फ़रीद शकरगञ्ज (११७३—१२६५), शेख़

चिश्ती (१२६१ ई०), निजामउद्दीन औलिया (१२३५ ई०), बूअली कलन्दर (मृ० १३४३), .खुसरो (१२५३—१३२५), शरफुद्दीन यहिया मुनीरी (१२६३—१३८०) और बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृ० १३३७) इस युग के महत्त्वपूर्ण सूफ़ी साधक हैं। १००० ई० के बाद हिंदी प्रदेश इन सूफ़ी साधकों से परिचित होने लगा था, यद्यपि इनके मुख्य क्षेत्र सिंध, पंजाब, दिल्ली, मुलतान और अजमेर थे। इस युग के हिंदवी साहित्य में इन सूफ़ी साधकों की विचारधारा का परिचय मिलता है।

इन सभी सूफ़ी साधकों की रचनाएँ हमें उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उनमें भाषा-शैली संबंधी एकरूपता नहीं मिलती। इनमें से अधिकांश सूफ़ियों का संबंध उत्तर-पश्चिम (पंजाब), पश्चिम (पश्चिमी हिंदी प्रदेश और राजस्थान) और दक्षिण से है। पंजाब में उस समय जो अपभ्रंश चल रही होगी, वह पैशाची प्राकृत से विकसित हुई होगी। उर्दू के विद्वानों ने मुलतानी, लाहौरी, सरहिंदी और बांगडूई भाषाओं की खोज इस प्रारम्भिक सूफ़ी साहित्य में की है। उनका कहना है कि लगभग २०० वर्ष तक पंजाब की भाषाओं और विजेताओं की भाषाओं (फ़ारसी, अरबी, तुर्की) में आदान-प्रदान चलता रहा, परंतु फरीद शकरगंज की अनेक कविताएँ हमें प्राप्त हैं। उनमें पंजाबीपन है, परन्तु खड़ीबोलीपन भी कम नहीं है। संभव है उस समय उत्तर-पश्चिम प्रदेश में महाराष्ट्री, शौर-

सेनी और पैशाची से संबंधित अपभ्रंश चल रही हो। जो हो, यह निश्चित है कि भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक सूफ़ी काव्य खड़ी बोली के बहुत निकट आ जाता है। उसमें प्रादेशिक और साहित्यिक भाषाओं के रूप भी मिलते हैं, परन्तु वह या तो सामयिक परिस्थितियों के कारण या लिपिकारों के प्रमाद के कारण। शेख़ फ़रीद शकरगंज (मृ० १२५०) की ये पंक्तियाँ देखिये :

वक़्ते सेहर वक्ते मनाजात है। खेज़ दराँ वक्त कि बरकात है॥
पन्दे शकरगंज बदिलजाँशुनो। ज़ायाअ मकुन उम्र कि हैहात है॥

इसी समय के लगभग शेख़ जुनीद की ये पंक्तियाँ भी अध्ययन-योग्य हैं :

बरन दुनयाए दहरोज़ी बुराई काह क्यों करिये
अगर सदसाल उमरत शुद निहायत एकदिन मरिये
कुजा रफतन्द आँ शाहाँ कि जिनकी बार थी हस्ती
गिरफ्तन्द जाये दर सहरा गये सब छोड़ कर बस्ती
न इंजा खुश्रेश कस बाशद न करसी यार को यारी
न कस मोमिस बुवद दीगर न भाई बाप महतारी

गेसूदराज़ बन्दानवाज़ के मेराजुल आशकीन के कुछ गद्यांश इस प्रकार हैं :

१—मुहम्मद हमें ज्यों दिखलाये त्यों तुम्हीं देखो

२—इस मैं आप कूँ देख्या सो ख़ालिक मैंने ख़ालिक की इज़्हार किया।

३—ए भाई सुनो, जे कोई दूध पियाएगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा, शरिअत पर कायम अच्छैगा, पानी पियोअेगा तो विश्वास के क़तरिया में डूबेगा।

४—सो तीनों झाड़ हर एक मोमिन के तन में हैं

५—हदीस औ नबी फरमाए हैं

६—उसको कतई न देख सकेंगे अपनी अँखियाँन सौं मगर देखैंगे तेरी अँखियान सौं और सूरत साहब की।

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'हिंदवी' भाषा खड़ी बोली से भिन्न नहीं है, परन्तु उसमें साहित्यिक भाषा (ब्रजभाषा) का भी कुछ पुट रहता है।

पूर्वी हिंदी प्रदेश के सूफ़ियों ने अवधी और पूर्वी भाषाओं का प्रयोग किया। कबीर का काव्य मुख्यतः पूर्वी (बनारसी) में है। प्रेमाख्यानक कवियों की रचनाएँ अवधी भाषा में। राजस्थान के सूफ़ियों ने राजस्थानी का आश्रय लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ कुछ सूफ़ी सामान्य भाषा (हिंदवी) से आगे नहीं बढ़ सके, वहाँ कुछ सूफ़ी जनता से इतने घुल-मिल गये कि उन्होंने उसकी भाषा का ही प्रयोग किया। जनता के हृदय तक वे इसी तरह पहुँच सकते थे। जौनपुर के शिया राज्य (१३६४ ई०—१४७८ ई०) के प्रभाव के कारण सूफ़ियों ने इस प्रदेश में बड़ी स्वाधीनता से प्रचार कार्य किया। बहुत से अवधी सूफ़ी इसी समय हुए। अंतिम शिया सुलतान हुसैनशाह ने जौनपुर से भाग कर विहार में अपना राज्य स्थापित किया।

१४९९ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। परंतु इसके बाद भी अवध प्रदेश सूफ़ियों का अड्डा बना रहा।

पौराणिक धर्म

सिद्ध (बौद्ध), जैन, शैव, शाक्त, तांत्रिक, इस्लामी और सूफ़ी मतों के अतिरिक्त इस युग में हिन्दूसमाज में व्यापक रूप से पौराणिक धर्म फैल रहा था। इस पौराणिक धर्म में २४अवातार माने गये हैं। भागवत के अनुसार उनके नाम

१ २ ३ ४ ५ ६
ये हैं—चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण,
७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४
कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हंस, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह,
१५ १६ १७ १८ १९ २०
कूर्म, धन्वंतरी, मोहिनी, वामन, परशुराम, राघवेन्द्र (राम),
२१ २२ २३ २४
व्यास, बलराम, बुद्ध, कल्कि। कृष्ण तो परब्रह्म हैं ही। पहली ईसवी शताब्दी से १४-१५ वीं शताब्दियों तक इन अवतारों को लेकर अनेक पुराण, उपपुराण, माहात्म्य और स्तोत्र लिखे जा चुके थे। प्रामाणिक पुराण १८ हैं: १ ब्राह्म २ पाद्म ३ वैष्णव ४ शैव या वायवीय ५ भागवत ६ नारदीय ७ मार्कण्डेय ८ आग्नेय ९ भविष्य १० ब्रह्मवैवर्त ११ लैंग १२ वाराह १३ स्कन्द १४ वामन १५ कौर्म १६ मत्स्य १७ गारुड १८ ब्रह्माण्ड। ये पुराण अनेक व्यक्तियों द्वारा संपादित और परिवर्द्धित हुए।

इसी से अनेक उच्छृंखल बातें इनमें मिलती हैं। हिंदी साहित्य का विशेष संबंध शिव-पुराण, भागवत पुराण और ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण से हैं। इन सब को अंतिम रूप तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में प्राप्त हुआ, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। जो हो, यह निश्चित है कि हिंदू जनता पर पौराणिक विचारावली का बड़ा प्रभाव था। वास्तव में पहली शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म (महायान) और हिंदू पौराणिक धर्म एक ही मार्ग पर विकसित होते गये। महायान सूत्रों में सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ (सद्धर्म पुण्डरीक) में बुद्ध देवताओं के भी देवता स्वयंभू और भूतमात्र के परित्राता हैं। वे एकदम अलौकिक हैं। लीलामात्र के लिए वे इस भूमि पर आते हैं। पौराणिक साहित्य में राम-कृष्ण ही की ओर इंगित है। धीरे-धीरे साधारण दैनिक कृत्यों को ही साधना मान लिया गया। 'जो कोई भी बुद्ध का उपदेश सुनता है, कोई पुण्यकार्य करता है, कोई स्तूप बनवा देता है, वही बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है।' उत्तर-कालीन पौराणिकधर्म में भी मोक्ष बड़ी सरल है। भक्ति को मोक्ष का साधन मान लिया गया है परन्तु भक्ति के साधन भी उत्तरोत्तर सरल होते गये हैं। वैधी (शास्त्रीय) भक्ति का स्थान रागानुगा भक्ति ले लेती है और अंत में केवल नामस्मरण मात्र ही मोक्षप्राप्ति का साधन बन जाता है। परवर्ती महायान में भी मंत्रजप का बड़ा महत्त्व था और कदाचित्

वैष्णवों की मंत्रसाधना इसी परंपरा का विकास है। मध्ययुग में विधर्मी शासकों के भय से स्तूप, चैत्य अथवा मंदिर का निर्माण असंभव-सी बात थी। नामस्मरण में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं थी। निर्गुण संतों ने मूर्तिपूजा के विरोध के कारण नामस्मरण पर बल दिया। तुलसी ने सगुणोपासक होते हुए भी नाम को राम से बड़ा बताया। उन्होंने कहा—

राम नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी ढ़रैंगे राम अपनी ढ़रनि

इष्टदेव के प्रति संपूर्ण रीति से आत्मसमर्पण मध्ययुग की भक्तिधारा का केन्द्रबिन्दु है। इस प्रकार वैदिक कर्मकांडी उपासना धीरे-धीरे अश्रुविजड़ित गद्गद्-भावना का रूप ले लेती है और भक्त आर्त-भाव से गाता है—

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंजहारी॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों।
मो समान आरत नहिं आरतहर तोसों॥
ब्रह्म तू हौं जीव तुही ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥

फलतः यह स्पष्ट है कि मध्ययुग के सारे सूत्र पौराणिक कथाओं और अवतारवाद-संबंधी पौराणिक भावनाओं में गुंफित हैं। एक तरह से ५०० ई० से १५०० ई० तक का सारा काल

पौराणिक काल कहा जा सकता है। इस काल के साहित्य पर पौराणिकता की स्पष्ट छाप है। परन्तु हिंदी साहित्य में एक नई चीज़ भी है। वह है पौराणिक देवताओं को लेकर अभ्यांतरिक साधना का विकास जिसने हमें 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' जैसे अमूल्य रत्न प्रदान किये हैं। यह पौराणिक भक्तिसाधना का सूत्र शंकराचार्य में ही सूक्ष्म रूप में मिलने लगता है परन्तु उसका सबसे उत्कृष्ट विकास रामानंद और उनकी शिष्यपरंपरा में होता है।

रामानंद (१२६६ ई०—१४१८ ई०)

प्रतिकारयुग में ही समन्वय की भावना का प्रारंभ भी हो गया था और इसका सारा श्रेय रामानंद और उनके शिष्यों को है। रामानंद जहाँ योग, भक्ति और संत विचारधारा में समन्वय स्थापित करते हैं, वहाँ वर्णाश्रम की सत्ता को अस्वीकार करके वर्णहारा जाति की ओर इंगित करते हैं। यही नहीं, वह मुसलमान और स्त्री को भी उपदेश देने का साहस करते हैं। मध्य-कालीन वैष्णवभक्ति के तीन आदि पुरुष हैं ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर), रामानंद और नामदेव। ज्ञानेश्वर ने अपने गीताभाष्य में भक्ति को एक अभिनव रूप दिया है यद्यपि वे स्वयम् आदि-नाथ की परंपरा में आते हैं। ज्ञानेश्वर का समय ११६७ ई०—१२७८ ई० है। इसके बाद रामानंद (१२६६ ई०—१४१८ ई०) और नामदेव (जन्म १३६३ ई०) आते हैं। इनके साथ

त्रिलोचन का नाम भी लिया जा सकता है। रामानंद के शिष्यों ने ही निर्गुण भक्ति को उत्तर भारत में प्रचलित किया। रामानंद के गुरु का नाम राघवानंद था। डा० बड़थ्वाल ने राघवानंद की 'सिद्धान्त पंचमात्रा' नाम की छोटी पुस्तिका प्रकाशित कराई है। इस पुस्तिका के अनुसार स्वामी राघवानंद का साधनामार्ग योग और प्रेम (भक्ति) का समन्वय है। जान पड़ता है इस समय उत्तर भारत में योग का बड़ा प्रभाव था। अतः दक्षिण के वैष्णव आचार्यों को योग के सहारे अपनी साधना-पद्धिति गढ़नी पड़ी। यह भी जान पड़ता है कि कदाचित् इस संप्रदाय में योग के आदर्श हनुमान थे जो उपास्य माने जाते थे। डा० ग्रियर्सन को रामानंद का एक पद मिला है जिसमें हनुमान की प्रार्थना है। किसी अनुशासन-संबंधी विषय पर गुरु से मतभेद हो जाने के कारण रामानंद ने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले। मठ मामूली सम्पदशाली नहीं था। इतनी बड़ी सम्पत्ति को जो सहज ही त्याग सकता था उस आदमी की स्वतंत्र चिंताशक्ति का अंदाजा सहज ही हो सकता है। सच पूछा जाय तो मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिंता के गुरु रामानंद ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी। उत्तर भारत में उसे रामानंद ले आये और कबीरदास ने उसे सप्तदीय और नवखण्ड में प्रकट कर दिया। रामानंद के १२ शिष्य थे—रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना

(नाई), पीपा (राजपूत), भवानंद, सुखानंद, आशानंद, परमानंद, महानंद, श्री आनंद। कहते हैं आनन्द नामधारी शिष्य पहले रामानुज संप्रदाय के थे। बाद में उन्होंने रामानंद का साथ दिया। रामानंद के इन शिष्यों ने सारे उत्तर भारत को भक्ति से प्लावित कर दिया। 'आनंद' नाम के शिष्य पौराणिक भक्तिवाद के अधिक निकट थे। वह वर्णाश्रम और मर्यादावाद एवं मूर्तिपूजा को मान कर चले। शैव शिष्य मुख्यतः हीन वर्णों से संबंधित थे। उनके लिए सगुणोपासना की सुविधाएँ भी नहीं थीं और कुछ अन्य कारणों से भी उन्हें पौराणिक भक्तिवाद के प्रति विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था। वस्तुतः रामानंद भक्ति-युग की सबसे बड़ी शक्ति हैं। वह न पंडित थे, न आचार्य, अतः संभव है कि आज हम उनके नेतृत्व को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझें परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनका प्रभाव उनके व्यक्तित्व और उनकी साधना के कारण था। यह निश्चित है कि १४०० ई० के लगभग रामानंद ने बनारस को अपना प्रचार-केन्द्र बना लिया था। वे जहाँ द्विजातियों के लिए शास्त्रीय वैधी भक्ति और मूर्ति-पूजा का उपदेश देते थे, वहाँ हीन वर्णों और मुसलमानों के लिए उन्होंने निर्गुण ब्रह्म राम की तन्मयताप्रधान भक्ति का उपदेश किया। कबीर इस दूसरी श्रेणी के शिष्यों में से थे। इन शिष्यों में से रैदास और कबीर को छोड़ कर किसी के नाम से संप्रदाय नहीं खड़ा हुआ। कदाचित् इन दोनों ने

भी अपने जीवन में किसी संप्रदाय की स्थापना नहीं की। परन्तु बाद में उनके व्यक्तित्व को चमत्कारमंडित कर दिया गया और अनेक कबीरपंथी संप्रदाय चल पड़े।

रामानंद के इस श्रेणी के शिष्यों की काफी रचनायें हमें 'आदिग्रंथ' में मिल जाती हैं जिसका संग्रहकाल १६०४ संवत् है। कबीर की रचनाओं से इन रचनाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक ही प्रकार की भावधारा प्रवाहित हो रही है। ये सभी 'निर्गुणिये' हैं। सभी अहैतुक भक्ति को प्रधानता देते हैं, मूर्तिवाद के विरोधी हैं और नामस्मरण को महत्ता देते हैं। इनके काव्य से यह निश्चित हो जाता है कि रामानंद को ही उत्तर भारत में एक अपूर्व भक्तिधारा फैलाने का श्रेय है। वे योग, भक्ति, सगुण-निर्गुण मतवादों के संगम पर खड़े हैं। उनका झुकाव निर्गुण की ओर ही था। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पाँति विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्णों के थे—अधिकांश वहिष्कृत वर्णों के—परन्तु थे बड़े प्रतिभाशाली। उनके व्यक्तित्व और उनकी काव्यप्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण मत का सारे उत्तर भारत का सामान्य मत बना दिया। इन सब में कबीर का व्यक्तित्व ही अधिक आकर्षक है। उनमें रामानंदी भक्ति तो पूर्ण रूप में विकसित हुई ही है, परन्तु साथ ही योग और सूफ़ी साधनाओं से भी बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। रामानंद के अन्य शिष्यों में

सूफी भावना के दर्शन नहीं होते और न वे कबीर की भाँति राम-रहीम की एकता के उपासक, मूर्तिपूजा-विरोधी और हिंदू-मुसलिम कर्मकांडों के आलोचक हैं। परन्तु कबीर के व्यक्तित्व के यही अंग उन्हें युग-पुरुष बना देते हैं।

रामानंद स्पष्टतयः नाथ-पंथ से कोई विरोध नहीं रखते थे। उनके गुरु राघवानंद स्वयं प्रसिद्ध योगी थे और 'सिद्धांत पंचमात्रा' में राघवानंद ने रामानंद को जो उपदेश दिया है उसमें योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ उन्होंने वाह्याचारों का खंडन किया है, वहाँ वैष्णवों और योगियों के वाह्याडंबरों का भी खंडन किया है। परन्तु वे ध्यान-धारणा-मुद्रादि का विरोध नहीं करते। कबीर ने ध्यान-धारणा जैसी दो-चार योग की बातें लेकर हठयोग को अस्वीकार कर दिया और 'सहज योग' (नामस्मरण और विरहभक्ति) की प्रतिष्ठा की। उन्होंने योगियों के अनेक रहस्यवादी प्रतीक (प्याला, शराब, कलाली, कुण्डलिनी, इडा-पिंगला, सुन्नदेश) ले लिये, परन्तु उनका नाथ-पंथ से गहरा विरोध था, यह 'गोरख-कबीर गोष्ठी' जैसे सांप्रदायिक ग्रंथों से स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, नामदेव और रामानंद योगप्रवाह से अलग एक सामान्य भक्तिधारा के प्रवर्तक के रूप में आते हैं जो प्रतीक के रूप में मूर्ति और अवतार को मान रही थी, परन्तु जिसका लक्ष्य मूर्त्ती के आगे

की चीज़ अमूर्त्त था। 'विठोवा' के आगे नामदेव गद्गदभाव से निर्गुण के गीत गाते थे और 'मंत्र' (नामस्मरण) में ही ब्रह्म मानने वाले रामानंद सालिग्राम की मूर्ति का पूजा-विधान कर रहे थे। ज्ञानदेव और नामदेव की उत्तर भारत की यात्राओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु वे उत्तर में अधिक नहीं रहे। रामानंद दक्षिण की भक्ति को उत्तर में लाये और काशी में ही बस गये। उन्होंने भी ज्ञानदेव और नामदेव की तरह विस्तृत यात्राएँ की ही होंगी, यह निश्चित है। एक पद में उन्हें 'रमते ब्रह्म' कहा गया है। उन्हीं के द्वारा औपनैषिदक विचारधारा, रामोपासना, हनुमद्भक्ति और योग का वह समन्वय स्थापित हुआ जो परवर्ती युगों की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु था। इसमें संदेह नहीं कि पूर्व मध्य युग में मानव-मन की उन्मुक्ति का सब से बड़ा उदाहरण रामानंद ही हैं। आलोच्य काल के अंत में उन्होंने ही जाति, वर्ण और धर्म के विरोध का परिहार किया और मध्ययुग के चिंतन और उसकी साधना को एकदम क्रांतिकारी दिशा दी।

पूर्वी प्रदेश में कृष्ण-काव्य का जन्म

११ वीं शताब्दी के अंत में बंगाल में एक नयी शक्ति का उदय हुआ। कर्णाट के एक सामंती राजा सामंतसेन उस प्रदेश के महाराज से कई बार परास्त हुआ था। वह वहाँ से भाग कर बंगाल चला आया और कदाचित् नवद्वीप में आकर बस गया।

सामंतसेन का पोता विजयसेन बड़ा साहसी पुरुष था। एक छोटा-मोटा साम्राज्य ही उसने गढ़ लिया। नैपाल और मिथिला के राजा नान्यदेव को भी उसने परास्त किया। उसका पुत्र बल्लालसेन बंगाल में कुलीनवाद (वर्णाश्रम) का संस्थापक बना। ब्राह्मण, वैद्य और कायस्थ ये उच्च वर्ण कहे गये। इसने मिथिला को भी विजय किया। इसके समय में सेन राज्य का विस्तार राढ़ (पश्चिमी बंगाल), वारेन्द्र (उत्तरी बंगाल), बागरी (डेल्टा), बंगला (पूर्व बंगाल) और मिथिला तक सीमित था। इनके पुत्र लक्ष्मणसेन (१११६—११६६) ने लक्ष्मण संवत् स्थापित किया जो बंगाल में अभी तक प्रचलित है। लक्ष्मण संवत् १११६ ई० में स्थापित हुआ। ११६६ ई० में बख्तियार खिलजी ने आक्रमण किया और गौड़ और नवद्वीप पर अधिकार कर लिया। लक्ष्मणसेन और उनका कुटुम्ब विक्रमपुर चला गया। यहाँ उसने १२० वर्ष (१३१६ ई०) तक राज्य किया।

मध्ययुग के उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति का सबसे पहला केन्द्र यही पूर्वी भारत (बंगाल) का सेन राज्य था। राधा-कृष्ण के सबसे पहले गीत उमापतिधर के हैं जो राजा लक्ष्मण-सेन के दादा विजयसेन के राजकवि थे। जयदेव ने गीत-गोविन्दम् में उमापति का उल्लेख किया है। यदि यह उमापतिधर राधा-कृष्ण पदों के गायक उमापति ही थे, तो राधा-कृष्ण साहित्य जयदेव से पहले (१२ वीं शताब्दी ई० से पहले) ही

पूर्व में आरम्भ हो गया था और इसका प्रारम्भ बंगाली भाषा से हुआ, संस्कृत से नहीं। संस्कृत में हम पद-साहित्य नहीं पाते और जयदेव के पदों की शैली और उनके माधुर्य को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनके पहले इस प्रकार के गीत अवश्य लिखे गये होंगे और कदाचित् लोक-भाषा में। इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण साहित्य गौड़ देश के हिंदू राज्य में अंकुरित हुआ। उमापति के गीत विद्यापति और भाषा-कवियों के सम्मुख अवश्य रहे होंगे। संभव है, इसी की लोक-प्रियता से जयदेव को भी प्रेरणा मिली है।

उत्तर भारत में श्री मद्भागवत कदाचित् यही कर्णाट राज-वंश अपने साथ लाया। सेन और मिथिला के गौड़ राज्य में वह अत्यंत लोकप्रिय हो गया। राजदरबार में उसका पाठ होता था। उत्तमोत्तम पंडित उसके अर्थ कहते थे। खुले दरबार में राजा सुनते। इससे शीघ्र ही राजाश्रय प्राप्त कवियों का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। राजा-महाराजाओं द्वारा भागवत का आदर हिंदू राज्यों में बराबर चलता रहा और इसने राधा-कृष्ण-साहित्य को प्रेरणा दी। संभव है प्रारंभिक राधा-कृष्ण काव्य भक्ति की प्रेरणा द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ हो, परंतु राजा-श्रय उसका कारण अवश्य था। जनता में अभी राधा-कृष्ण भक्ति नहीं पहुँची थी। इसी कारण उसमें कल्पना और काव्य-परिपाटी का प्रभाव अधिक है, अनुभूति का कम।

इसी राजाश्रय और राजाओं की भागवत-प्रियता ने अंतिम गौड़राज राजा लक्ष्मणसेन (१११६—११६६ ई०) के समय में जयदेव को 'गीतिगोविन्दम्' की रचना के लिये प्रेरित किया। ११६८ ई० में मुसलमान आक्रमणकारियों ने सेनराज्य को नष्ट कर दिया। इस समय तक मिथिला का राजदरबार गौड़राज्य का आश्रित था। सेनराज्य के नष्ट होने पर मिथिला ब्राह्मणों, पंडितों और कवियों का केन्द्र हो गया। इस समय काशी और मिथिला दो ही पंडितों के केन्द्र थे और लगभग १६ वीं शताब्दी तक यही परिस्थिति रही।

मिथिला के हिंदू राज्यों ने एक बार फिर सेनराज्य को आदर्श मान कर उसके ऐश्वर्य को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की। उनके यहाँ भी भागवत का बड़ा मान रहा यद्यपि जनता शैव थी। उन्होंने सेनराज्य का अनुकरण करके बड़ी-बड़ी उपाधियाँ दीं। राजा शिवसिंह ने विद्यापति (१३७५—१४४८ ई०) को अभिनव जयदेव की उपाधि दी थी। इससे यह स्पष्ट है कि वह सेनराज्य का स्वप्न सार्थक कर रहे थे। मिथिला-केन्द्र में विद्यापति द्वारा राधाकृष्ण काव्य की रचना (१३६०—१४१७) हुई। उनके सामने उपामति और जयदेव की रचनाएँ थीं। उमापति की रचनाएँ मैथिल में मिलती हैं। इसका कारण उनका मिथिला में प्रचार ही है। संभव है विद्वानों में इनका प्रचार विद्यापति के समय में हुआ हो। विद्यापति के काव्य की तुलना जयदेव के 'गीतगोविन्दम्' से करने पर यह स्पष्ट हो जाता है

कि शैली, भाव आदि की दृष्टि से उस पर 'गीतगोविन्दम्' का बड़ा प्रभाव है यद्यपि विद्यापति में मौलिकता की कमी नहीं है। जयदेव आदि की तरह विद्यापति का काव्य भी वैयक्तिक है, जनता की भावना का सहारा नहीं लेता। वह कल्पना, काव्य, कला और वैयक्तिक अनुभूति पर खड़ा है। उसके पीछे धार्मिक अनुभूति नहीं। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने लिखा है कि "मिथिला में विद्यापति के राधा-कृष्ण-संबंधी पद कदाचित् ही गाये जाते हैं, बंगाल में आप उन्हें सड़क चलते भिखारी से सुन सकते हैं।'

विद्यापति के समकालीन बंगला कवि चंडीदास हुए। सेन राज्य के सांस्कृतिक केन्द्र नवद्वीप में ही इनका जन्म हुआ था। १४०६ ई० के पूर्व ही इन्होंने अपनी रचनाएँ समाप्त कर दी थीं, अतः इनका समय १४ वीं शताब्दी का अंतिम चतुर्थांश मान लेना होगा। चंडीदास वशूली देवी के मंदिर के पुजारी थे परंतु रामा धोबिन के प्रेम के कारण वहिष्कृत होकर सहजिया मत में दीक्षित हो गये। १० वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखी कानू भट्ट की पुस्तकों, चर्चाचर्यविनिश्चय और बोधिचर्यावतार में पहली बार सहज मत के दर्शन होते हैं। इनके कितने ही स्थल गर्हित हैं, परंतु उनमें रहस्यात्मकता अवश्य है। सहज मत स्त्री-पुरुष के प्रेम को ऊँचे स्तर पर उठाना चाहता था। यह कदाचित् सिद्धों के पापाचार के प्रति प्रतिक्रिया हो। सहज मत में दीक्षित होकर चंडीदास ने उसके सिद्धान्तों को अध्यात्म

और रहस्य भाव से इतना भर दिया कि कदाचित् उसके प्रवर्तकों ने इतनी ऊँची भूमि की कल्पना भी नहीं की होगी। चंडीदास के समय तक बंगाल में राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग का खूब प्रचार हो गया होगा, अतः उन्होंने राधाकृष्ण प्रेम को सहज मत के आदर्श प्रेम का रूप देने की चेष्टा की। वास्तव में उनके लिए राधाकृष्ण प्रतीक मात्र थे। उनका विषय रहस्यात्मक अतीन्द्रिय प्रेम था। चंडीदास ने विद्यापति के पांडित्य और शास्त्रज्ञान के स्थान पर अनुभूति से सहारा लिया। चंडीदास ने सहजिया मत के आधार पर राधा को परकीया बना दिया। वास्तव में ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा को आयण घोषाल की पत्नी कहा गया है। संभव है, राधा के परकीया रूप का विकास इसी उक्ति से हुआ हो। यह भी संभव है कि ब्रह्मवैवर्तपुराण और चंडीदास की परकीया-भावना के मूल स्रोत एक हों और अभी हम उन तक पहुँच नहीं सके हों। परंतु इस परकीया-भावना से विद्यापति परिचित नहीं थे, यह स्पष्ट है। ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में भी इसे स्थान नहीं मिला।

परंतु यह बात नहीं है कि इस समय तक धार्मिक क्षेत्र में राधा-कृष्ण की कोई चर्चा ही नहीं रही हो। निंबार्क (११५० ई०) और मध्वाचार्य (११६६—१२७८ ई०) ने राधा-कृष्ण को ब्रह्म और शक्ति के रूप में उसी प्रकार स्थापित किया था जिस पर लक्ष्मी-विष्णु या सीताराम का युग्म रामानुज को मान्य था। इन दोनों मतों का विशेष प्रचार बङ्गाल में ही हुआ। क्रम से

कम विद्यापति और चंडीदास इनसे परिचित रहे होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ११०० ई० के आसपास राधा-कृष्ण धर्म और साहित्य के क्षेत्र में स्थान प्राप्त कर चुके थे। अगले युगों की धर्मसाधना और साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में यह सब जानना महत्त्वपूर्ण है । मध्वाचार्य (११६६—१२७८ ई०) के अनेक शिष्य हुए। उनमें से कुछ ने राधा-कृष्ण भक्ति का विशेष प्रचार किया। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस समय वृंदावन में कृष्णमंदिर नहीं थे और हिंदी प्रदेश में कृष्ण को लेकर साहित्य रचना की पद्धति अभी नहीं चली थी।

५—सांस्कृतिक अवस्था

इस सिद्ध-सामंत-युग (७००—१४००) की संस्कृति को हम गुप्त-काल (३००—६००) की सभ्यता और संस्कृति का विकास ही कह सकते हैं । पुष्यमित्र और कण्व जैसे ब्राह्मण-सम्राटों के समय (ई० पू० दूसरी-पहली शताब्दी) बौद्ध धर्म के समक्ष हिन्दू धर्म (ब्राह्मणधर्म) की पहली बार प्रतिष्ठा हुई। जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गईं, वैसे-वैसे हिन्दू धर्म प्रबल होता गया। गुप्तों ने इस धर्म को राजधर्म माना और 'परमभागवत', 'परमभट्टारक' जैसे नामों से प्रसिद्धि प्राप्त की। ७०० ई० तक हिन्दू धर्म और सभ्यता को स्थायी रूप मिल चुका था। रामायण, महाभारत, वेदों और उपनिषदों के संकलन हो चुके थे। कालिदास और भवभूति जैसे लोकधर्मी कवियों की

रचनाओं ने कला, कल्पना और रस में पूर्णता प्राप्त कर ली थी। संस्कृति की दृष्टि से ७००—१४०० ई० के बड़े समय को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। ७०० ई० से १२०० ई० तक देश की संस्कृति में मुसलमानों को लेकर कोई समस्या उपस्थित नहीं हुई थी। ११६३ ई० की तराईं की लड़ाई के बाद गौरी वंश दिल्ली-अजमेर-कन्नौज का शासक बन गया। यह प्रदेश हिन्दी राष्ट्र का हृदय था। अगले ७-८ वर्षों में बंगाल तक मुसलमान पहुँच चुके थे। १२०० ई० से १४०० ई० तक के समय को हम हिन्दू-मुसलमान-सस्कृतियों के संघर्ष का समय कह सकते हैं। इस युग में हिन्दू नेताओं और इस्लामी औलियाओं के हृदय में मंथन हुआ। विष भी बहुत निकला परन्तु अमृत भी कम नहीं था।

पहले हम ७०० – १२०० तक के समय को लेंगे।

'मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था' के लेखक अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली ने इस काल को तीन स्पष्ट भागों में विभाजित किया है :

(१) हिन्दू समाज के लिए संगठन और नियमन का काल (७०० ई०—१००० ई० तक)

(२) मुस्लिम प्रभुत्व के धीरे-धीरे फैलने से प्रभावान्वित होकर भारतीय समाज के अधिक क्रम-नियमन और संगठन का काल (१०००—१३०० ई० तक)

(३) दिल्ली की बादशाही के पतन और हिन्दू-मुसलिम समन्वय का प्रयत्न (१३००—१४००)

७०० ई० से १००० ई० तक के समय को हिन्दू समाज के संगठन और नियमन का समय कहा गया है। जान पड़ता है, ईसा की पहली शताब्दी के बाद देश में उत्तर-पश्चिम के मार्ग से अनेक जातियाँ आई थीं। ये जातियाँ रण-दुर्मद थीं, परन्तु संस्कृति-शून्य। भारत में आकर इन्हें एक विकसित समाज-तंत्र का सामना करना पड़ा। युद्ध के क्षेत्र में अपनी वीरता के कारण चाहे वे बराबर विजयी रही हों, परन्तु संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में वे परास्त हुईं। जाट, गूजर, हूण, राजपूत इत्यादि ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित नहीं किये, परन्तु उन्होंने राजनीति को दो-चार व्यक्तियों की सम्पत्ति नहीं समझा। इन तीन सौ वर्षों में ये विदेशी जातियाँ भारतीय बन गईं। यही नहीं, समाज की व्यवस्था में इन्हें बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। बाद के भारत का अधिकांश इतिहास इन वीर जातियों की आत्मरक्षा और आत्मबलिदान का ही इतिहास है। हिंदी प्रदेश का पश्चिमी भाग इन जातियों का निवासस्थान बना और यहीं से हिन्दी प्रदेश की राजनीति परिचालित होती रही। महाभारतकाल से गुप्तकाल (३१९—५१०) तक राजनीति का केन्द्र पूर्व रहा है। इसके बाद लगभग १५० वर्षों तक हिन्दी प्रदेश का मध्यभाग राजनीति का केन्द्र बना रहा। 'कान्यकुब्ज' (कन्नौज) इस समय भारत राष्ट्र का हृदय था। ८ वीं शताब्दी के बाद उत्तरी

भारत वल्लभी, मगध, मुखारी और थानेश्वर के राज्यों में बँट गया था। थानेश्वर के महाराज प्रभाकरवर्द्धन ने अपनी पुत्री राज्यश्री को कन्नौज के मुखारी वंश के राजा गृहवर्मा से विवाह दिया। पश्चिमी बंगाल के महाराज शशांक ने प्रभाकर वर्द्धन के पुत्र राज्यवर्द्धन का छल से बध कर दिया। प्रभाकर वर्द्धन का छोटा पुत्र हर्ष सम्राट् बना। इस समय तक राज्यश्री विधवा हो गई थी और कन्नौज का राज्य भी थानेश्वर में सम्मिलित हो गया था। ६०७ ई० से लेकर ११६४ ई० तक कन्नौज भारत के वैभव और शौर्य का प्रतिनिधित्व करता रहा। इस काल में राजपूत भारतीय समाज के आदर्श हो गये और हिन्दी प्रदेश की पश्चिमी भाषा (महाराष्ट्री, पश्चिमी हिन्दी और डिंगल) व्यापक रूप से व्यवहार की भाषा रही। जिन आदर्शों को हम आज सुन्दरतम भारतीय आदर्श कहते हैं, वह मध्य युग के इन प्रारभिक दिनों में ही विकसित हुए। इन पाँच सौ वर्षों में जिस प्रकार राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन पर राजपूतों की छाप है, उसी प्रकार साहित्य पर भी राजपूत आदर्श, राजपूत भाषा और राजपूत शैली की छाप है।

७०० से १२०० तक हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भागों में बौद्ध धर्म किसी न किसी रूप में चलता रहा। परन्तु उसके प्रभाव का क्षेत्र सीमित था। नालंदा बौद्ध साधकों और विद्वानों का केन्द्र था। बंगाल, उड़ीसा, विहार और नैपाल में इस धर्म के जनप्रिय रूप लोकप्रियता पा रहे थे, परन्तु इन्होंने तंत्रवाद, वामाचार और

गुह्य साधनाओं का रूप धारण कर लिया था। फलतः आचार की दृष्टि से बौद्ध धर्म नीचे गिर रहा था और उच्च वर्गों की सहानुभूति कम हो रही थी। गुप्तों का राजधर्म वैष्णव धर्म था और इसी कारण से ४ थी शताब्दी से ८ वीं शताब्दी तक बिहार, मध्यदेश, मालवा और दक्षिणी प्रदेशों में इसका प्रचार खूब हुआ था। इन ४००—५०० वर्षों में वैष्णव धर्म ने बौद्ध धर्म की अनेक दार्शनिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताएँ स्वीकार कर लीं। बुद्ध विष्णु के एक अवतार मान लिये गये। बौद्धों का 'शून्य' वैष्णव दार्शनिक का 'ब्रह्म' बन गया। अब तक वैष्णव धर्म में विष्णु की प्रधानता थी। अब दार्शनिकों ने उनको ब्रह्म की एक कला माना। ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) ब्रह्म की त्रिमूर्ति के रूप में पूजे जाने लगे। शिव को लेकर शैव संप्रदाय कदाचित् अनार्यकाल से ही चल रहे थे। ब्रह्मा के संप्रदायों के संबंध में हम अधिक नहीं जानते। यह स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म ने शैवों को मिलाने का प्रयत्न किया। विष्णुपुराण, शिवपुराण और पद्मपुराण में शिव-विष्णु-विद्वेष दूर करने का प्रयत्न स्पष्ट है। साथ ही विष्णु के २४ या अधिक अवतार मान कर जनता में प्रचलित प्रत्येक प्रकार की उपासना को वैष्णव धर्म का अंग मान लिया गया। वैष्णव धर्म की यह समाहार-शक्ति अद्भुत थी। इसके कारण वह शीघ्र ही भारतवर्ष का सब से महत्त्वपूर्ण धर्म बन गया। वास्तव में बौद्ध धर्म के स्वर्ण दिन उसी समय समाप्त हो गये जब मौर्यराज ब्रहद्रथ को शुंग सेना-

पति ने बध करा दिया (१८१ ई० पू०) । शुंग और कण्व ब्राह्मण वंश ने लगभग २०० वर्षों तक ब्राह्मण धर्म (वैष्णव-धर्म) के पुनरुत्थान के लिए अथक परिश्रम किया । इसके बाद महाराष्ट्र प्रदेश के आंध्रों ने बौद्ध धर्म को फिर पुनर्जीवित किया, परन्तु ब्राह्मणधर्म की नींव दृढ़तापूर्वक रखी जा चुकी थी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ७०० ई० के बाद बौद्धसंस्कार धीरे-धीरे दुर्बल होते गये और हिन्दू संस्कार दृढ़ होते गये । शुंगों ने यज्ञ-यागों, अश्वमेधों और मंदिरों की जो परंपरा चलाई थी वह कण्वों, आंध्रों, सातकर्णियों, गुप्तों और वाकाटक वंश के राजाओं द्वारा बराबर पुष्ट होती रही । ह्वेनच्आँग के वर्णनों (६०४ ई०—६६४ ई०) से पता चलता है कि हिन्दू भाव धीरे-धीरे प्रबल पड़ने लगे थे । बाणभट्ट की साक्षी पर हम कह सकते हैं कि सातवीं शताब्दी तक बौद्धों के प्रति आदर-भाव बना था, परन्तु शीघ्र ही बौद्ध धर्म में गुह्य और वाममार्ग एवं तंत्र ने प्रवेश किया और वह अनाचारमूलक बन गया । उसने जनता की सहानुभूति खो दी । १२ वीं शताब्दी के आरंभ में मगध और बंगाल के सिवा हिन्दुस्तान के सभी भागों से बौद्ध धर्म का लोप हो चुका था और उनकी जगह वैदिक धर्म ने ले ली थी ।

बौद्धों के बाद हिन्दू समाज के समाज मुख्यतः शैवों के हाथ में आ गया । ज्ञान पड़ता है, पहली शताब्दी ईसवी के बाद से

ही बौद्धमत में योगियों और तांत्रिकों के धर्म की बहुत सी बातें मिल गई थीं। बौद्ध सिद्धों में योग और तंत्र की साधना और विचारधारा का इतना सम्मिश्रण हो गया था कि 'सिद्धों' को 'नाथ' बनते हुए कुछ भी देर न लगी। पहले 'सिद्ध' जनता के आदर-पात्र थे, अब 'नाथ' जोगी जनता के आदर-पात्र होने लगे। साधारण जनता को दार्शनिक गुत्थियों से क्या! बाण के 'हर्ष-चरित' (६५७ ई० से पहले) में शिवजी के अवतार भैरवाचार्य का जो चित्र है उससे शैव-तापसों के संबंध में बहुत सी बातें जान पड़ती हैं। 'उसके साथ योगियों का एक जमघट था। वह तड़के उठकर स्नान करता, आठों नियत प्रकार से फूलों की भेंट चढ़ाता और हवन का प्रबंध करता था। धरती पर गऊ के ताज़े गोबर का चौका दिया जाता था। बाघम्बर पर तपस्वी बैठता था जिसके चारों ओर भस्म की एक मेंड़-सी बनी होती थी। तन ढाँकने और शीत से बचने के लिए वह एक काला ऊनी चोल पहनता था। अपने बालों को ऊपर की ओर बटोर कर गाँठ दे देता था। और उसकी जटाओं से माला की गोल-गोल मणिकाएँ लटकती दीखती थीं। अवस्था पचपन वर्ष के लगभग होगी। सिर के बाल कुछ सफ़ेद हो गये थे और चँदिया कहीं-कहीं से गंजी दीखती थीं। कान बालों से ढ़क रहे थे। मस्तक चौड़ा था और उस पर भस्म का तिलक विराज रहा था। कभी-कभी वह तेवरी चढ़ा लेता था। उसकी लंबी-लंबी आँखें पीलिमायुक्त थीं और उनके कोरों में लाल डोरे दिखाई

देते थे। उसकी नाक का सिरा गरुड़ पत्ती की चोंच की तरह मुड़ा हुआ था। दाँत गिरने लगे थे। परन्तु जो बच रहे थे वह उन्हीं भगवान शंकर की कलगी की तरह श्वेत थे जो निरंतर उसके हृत्कमल के सिंहासन पर विराज रहे थे। उसका होंठ रज़ा नीचे को लटका हुआ था। लम्बे-लम्बे कानों में बिल्लौरी मुद्राएँ शोभा दे रही थीं। एक बाँह में लौह का वलय पहन रखा था और जड़ी-बूटियों से निर्मित एक यंत्र बँधा हुआ था। दहिने हाथ में माला जपता रहता था। उसके वक्षस्थल पर लटकती हुई लंबी दाढ़ी मानों एक झाड़ू थी जो हृदय की वासनाओं के मल को साफ़ रखा करती थी। कोपीन पवित्र क्षौम का बना हुआ उज्ज्वल था। उसके पाँव के तलवे कोमल और लाल थे और वह निरंतर खड़ाऊँ पहने रहता था जो बिल्कुल श्वेत और पानी से धुली होती थी। उसके पास बाँस का एक दंड था जिसके सिरे पर लोहे का त्रिशूल लगा हुआ था। बातचीत बहुत कम और धीरे-धीरे करता था और साथ ही मुस्कुराता जाता था। उसके गंभीर विवेकवान् चेहरे पर दया और बुद्धि की झलक देख पड़ती थी। उसके उदार रूप से सत्य और पवित्रता, तितिक्षा और धृति और आध्यात्मिक आनंद टपकता था।' ('हर्षचरित', पृष्ठ २६३—२६४) बौद्धों से नेतृत्व छीनने वाले योगियों में सर्व प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ का नाम लिया जाता है। किंवदंतियों से पता चलता है कि वह पहले बौद्ध साधक थे, परंतु उनके शिष्य गोरखनाथ ने उन्हें बौद्ध साधना की गुह्य क्रियाओं से हटाया और

शुद्ध योग, ब्रह्मचर्य और अद्वैतवाद एवं शैव भक्ति के आधार पर एक नये योगमत का प्रवर्तक किया। मत्स्येन्द्र और गोरख के समय के संबंध में बड़ा मतभेद है। 'हिंदी कविता में योग-प्रवाह' नाम के अपने एक निबंध में डा० बड़थ्वाल ने विस्तृत रूप से इस विषय पर तर्क-वितर्क उपस्थित किया है : "यह बात तो श्रुति-परंपरा से भी प्रकट है कि नेपाल में गोरख-मछंदर आगमन शंकराचार्य के आने से बहुत पीछे हुआ। जिस समय वे लोग नैपाल गये थे उस समय वहाँ हिंदू रीति-रिवाजों का बहुत कुछ प्रचार हो गया था। कहते हैं कि आचार्य बंधुदत्त ने उस जनता को उनका पालन करते रहने का उपदेश दिया था। इससे पता चलता है कि मछंदर और गोरख यदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो वे शंकर के पीछे हुए, पहले नहीं। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जितने ग्रंथ मिलते हैं वे इस बात की पुष्टि करते हैं। उनके परिशीलन से पता चलता है कि गोरखनाथ जी ने अपने योगप्रधान मत की नींव शांकर अद्वैत वेदांत पर रखी थी :

"अभेद भेद भेदीली जोगी बदंत गोरष राई।'
'आत्मा-परिचै राखो गुरुदेव सुन्दर काया।'

उपर्युक्त वाक्य उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर आदि से अन्त तक बिखरे मिलते हैं। पाश्चात्य विद्वान् मेकडॉनल और कीथ के अनसार शंकर का जीवन-काल विक्रम संवत् ८४५ से

६०७ (७८८ ई०—८५० ई०) तक है; इसलिए गोरखनाथ का समय ६०७ (८५० ई०) के पीछे का होना चाहिये।' कई सिद्धांतों के आधार पर वे गोरखनाथ का समय सं० १०५७ (१००० ई०) के लगभग स्थापित करते हैं।

१००० ई० से १४०० ई० तक हिन्दू जनता का नेतृत्व मुख्यतः इन्हीं योगियों (नाथपंथियों) के हाथ में रहा। नैपाल, बिहार, राजस्थान, पंजाब, उतर-पश्चिम भारत और महाराष्ट्र इन योगियों के केन्द्र थे। शंकराचार्य और उनके वैरागियों के बाद यही योगी हिन्दूजाति की सबसे क्रियाशील मध्ययुगीन शक्ति थे। कबीर का समय १३६८ ई०—१५१८ ई० तक निश्चित हो सका है। उनके साहित्य में जोगियों (अवधूतों) का स्पष्ट उल्लेख है। कबीर स्वयं किसी भ्रष्ट 'जोगी' जाति से संबंधित थे। कबीर के अनेक पदों में योगियों का चित्रण है : 'वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है, नाद से धारा को खंडित नहीं करता, गगन-मंडल में बसता है और दुनिया की ओर देखता भी नहीं।' वह चैतन्य की चौकी पर विराजता है, आकाश पर चढ़ा हुआ भी आसन नहीं छोड़ता, महामधुर रस का पान करता रहता है और यद्यपि प्रगट रूप में वह कंथा में लिपटा रहता है पर वस्तुतः हृदय के दर्पण में वह सब कुछ देखता रहता है। निश्चित बैठा हुआ नासिका में २१ हज़ार ६ सौ धागों को पिरोया करता है। वह ब्रह्म-अग्नि में काया को जलाता है, त्रिकुटी के संगम में जागता है, सहज और शून्य

में लौ लगाये रहता है।"[१] यह स्पष्ट है कि अवधूतों (नाथों) की विचारधारा में तंत्रवाद और योगक्रिया का बड़ा भारी अंश है जो बौद्ध सहजयानियों, वज्रयानियों और कालचक्रायनों में भी मिलता है। परन्तु भेद भी बड़ा है। परन्तु कबीर ने जिस वाह्य वेश का वर्णन किया है, वह गोरखपंथी जोगियों पर ही पूरा उतरता है। 'यही लोग कान में छिद्र करके वह कुण्डल धारण करते हैं जिसे मुद्रा या दर्शन कहते हैं, यही दो-तीन अंगुल की काली सींग की छोटी सी सीटी गले में धारण करते हैं जिसे 'नाद' (शृंगीनाद) कहते हैं, और जो सेली नामक काले ऊनी धागों से गुँथा होता है। इनके हाथ में नारियल का एक खप्पर होता

९—कबीर : हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३-२४। मूल पद इस प्रकार है—

अबधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खण्डै धारा॥
बसै गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि आकास आसण नहीं छाड़ै पीवै महारस मीठाँ॥
परगट कंथा माँहै जोगी दिल में दरपन जोवै।
सहस इकीस छसौ धागा निहचल नाके पोवै॥
ब्रह्म-अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर सहज सुंनि ल्यो लागै॥

—क० ग्रं०, पद ६९

है। ये लोग गेरुआ वस्त्र और जटा धारण करते हैं, शरीर पर भभूत और ललाट पर त्रिपुण्ड लगाते हैं।' (वही, पृ० २६) इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी प्रदेश के धार्मिक जीवन का नेतृत्व लगभग १००० ई० तक बौद्धसिद्धों के हाथ में रहा। इसके बाद के ४०० वर्षों में इसका स्थान नाथपंथी जोगियों ने ले लिया। १४०० ई० के बाद समाज का धार्मिक नेतृत्व भक्तों के हाथ में चला गया। भक्तों की परपंरा में नामदेव (जन्म० १२७० ई०) और रामानंद (सं० १३५७ या सन् १३०० तक के लगभग) का नाम सबसे पहले आता है। रामानंद के गुरु स्वामी राघवा-नंद का एक छोटा-सा ग्रंथ 'सिद्धान्त-पंचमात्रा' प्राप्त है। इसमें योग और वैष्णव भक्ति का अद्भुत मिश्रण है। जान पड़ता है, १३ वीं शताब्दी में ही योगवाद और वैष्णववाद का मिश्रण आरंभ हुआ होगा। इस मिश्रण में लगभग १०० वर्ष लगे होंगे और कदाचित् रामानंद के व्यक्तित्व के माध्यम से ही यह मिश्रण हुआ होगा। रामानंद के व्यक्तित्व में निर्गुणवाद, योग और भक्ति का संपूर्ण सामंजस्य मिलता है।

साधारण जनता के जीवन को संपूर्ण चित्र खींचना तो कठिन है, परन्तु इस समय के साहित्य, शिलालेखों और वास्तुकला से हम थोड़ा बहुत अनुमान तो कर ही सकते हैं। 'बाण' और अमीर ख़ुसरो ने उज्जयिनी और दिल्ली की जनता का वर्णन किया है। 'बाण' हमारे आलोच्य काल की एक सीमा हैं, अमीर ख़ुसरो दूसरी सीमा हैं। इन वर्णनों से हम बीच के

काल की स्थिति का अनुमान कर सकते हैं। 'उज्जयिनी के निवासी बड़े प्रसन्नचित्त और सुखी थे। उन्हें अपनी सार्वजनिक वस्तुओं के नमूनों पर बड़ा गर्व था। वहाँ कुएँ, पुल, मंदिर, बाग, तड़ाग आदि थे। राजमार्गों पर पशुओं को पिलाने के लिए जलाशय बने हुए थे जो ऊपर से छाये हुए थे। धार्मिक विद्यार्थियों के लिए धर्मशाला और सर्वसाधारण के लिए उत्सवालय बने हुए थे। उज्जयिनी वालों के लिए समुद्र के उत्तम से उत्तम रत्न नगरी की ओर खिंचे चले आते थे। बाण भट्ट के अनोखे शब्दों में यह लोग यद्यपि वीर थे तथापि अत्यन्त शीलवान् मधुरभाषी थे तब भी सत्य का अंचल पकड़े रहते थे; सुघर और सुन्दर थे परन्तु पाप के मल से अस्पृश्य थे, अतिथि-सेवी थे परन्तु अतिथियों से भेंट पाने की इच्छा न रखते थे, धन और प्रेम के उपासक थे परन्तु न्यायशील। उन्हें ललित कलाओं का अत्यन्त अनुराग था। उनकी बातचीत सूक्तियों और सुकल्पनाओं से अलंकृत होती थी। पहिरावा शानदार और निर्दोष पहनते थे। वह विदेशी भाषाएँ भी जानते थे। कथा-कहानी, पवित्र इतिहास और पुराणों की कथा के रसिक थे, परंतु इसके साथ ही जुआड़ी भी पक्के थे। मैना और तोते बड़े शौक से पालते थे। हौदे से सजे हुए या बिना अम्बारी के हाथी बहुतायत से पाये जाते थे और घोड़े भी सभी जगह देखने में आते थे। बाण के इस शब्दचित्र का समर्थन उन चित्रों से भी होता है जो गुफाओं में पाये जाते हैं।' 'हर्ष

के काल में अधिकांश शिवजी की उपासना होती थी जिन्हें इस काल के नाटकों और उपन्यासों में मुख्य स्थान प्राप्त है। चौराहों पर मंदिर थे जिन पर श्वेत ध्वजाएँ फहराती थीं। प्रेम के देवता कामदेवजी की भी पूजा होती थी। उसकी ध्वजा पर मछली का चित्र होता था। वसन्त और शरत् में लोगों के व्यापक मंगलोत्सवों की चर्चा भी नाटकों में आती है। इन त्योहारों में प्रजा पर्याप्त रूप से स्वतंत्र थी और ख़ूब हल्ला-गुल्ला होता था जो वर्तमान होली के त्योहार से मिलता-जुलता है। घंटों की मनोहर ध्वनि सुनाई दिया करती थी और विशेष सूचनाएँ, जैसे राजा के शुभागमन और प्रस्थान की सूचना शंख-ध्वनि से दी जाती थी। वेदमंत्रों के उच्चारण के मनोहर सुरीले शब्द बहुत कानों में पहुँचते थे। अनेकों बाग-बाटिकाएँ भी थीं जो निरंतर चरस या डोलों से सिंचाती रहती थीं। कुओं पर पक्की जगतें होती थीं और प्रायः तहख़ाने भी होते थे। इन तहख़ानों में जाने के लिए सीढ़ियाँ भी होती थीं जैसी आजकल बावलियों में जाने के लिए पायी जाती हैं। चारों ओर नगरी से बाहर घने पेड़ों के अँधेरे झुंड थे। शिप्रा नदी जो चर्म्मस्वती की सहायक है, शहर के पास से होकर बहती थी और शहर के आसपास कमलों से ढ़की हुई अनेक झीलें बहार दिखाती थीं।[?] अजंता की गुफाओं के भित्ति-चित्रों और स्वेन-च्वाँग के वर्णनों से पता चलता है कि उस समय देश कला-कौशल और धन-धान्य से पूर्ण था यद्यपि राजपथ अधिक सुरक्षित नहीं थे।

इसका कारण यह था कि देश छोटे-छोटे राज्यों और जनपदों में बँटने लगा था और सार्वभौमिक सत्ता लगभग नष्ट हो रही थी। फिर भी देश की सांस्कृतिक समृद्धि के संबंध में कोई दो मत नहीं हो सकते। अजंता के चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश की समृद्धि की बात काल्पनिक नहीं थी। उनसे बाण भट्ट के शब्दचित्रों की बड़ी अच्छी व्याख्या होती है।

इस सांस्कृतिक चित्र की पुष्टि सन् १०३० ई० के लगभग मुसलिम दार्शनिक और गणितज्ञ अलबेरूनी के प्रामाणिक वर्णन से भी होती है। अलबेरूनी का वर्णन पूर्ण नहीं है। वह केवल पश्चिमी सीमांत के देशों से परिचित था। इस समय तक सिंध, पंजाब और समुद्रतट के आगे मुसलमानों का बहुत कम प्रवेश था। इस समय की संस्कृति के अध्ययन के अन्य आधार हैं राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' नाटिका (९०० ई०), सोमदेव का 'कथासरित्सागर' (१०७० ई०) एवं एलीफेन्टा और ऐलोरा की गुफाओं या चन्देल राजपूतों के मंदिरों की कला, चित्रकारी और वास्तुज्ञान। खजराहो के भग्नावशेष और पुरी का जगन्नाथजी का मंदिर (सन् ११५० ई० के लगभग) इसी समय से संबंधित हैं। ऋग्वेद के समय से लेकर हर्ष के समय तक भारत का धार्मिक और सांस्कृतिक नेतृत्व मुख्यतः उत्तरी भारत के हाथ में रहा। विश्वामित्र, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य, जनक, कृष्ण, राम, गौतम बुद्ध, अशोक, महावीर, असंग-वसुबंध—न जाने कितने नाम एक साथ याद आ जाते हैं।

हर्ष के समय तक दक्षिणी भारत के संबंध में हम अधिक नहीं जानते। आठवीं सदी के अंत और नवीं सदी के आदि में इस स्थिति में एक महान् परिवर्तन हुआ जिसने भारतीय संस्कृति पर बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव डाला। शंकराचार्य (८-९ वीं शती) द्वारा उत्तर भारत के विचारों और धर्म में महान्-परिवर्तन हो गया। 'शंकराचार्य ने उत्तरी और दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी सारे भारत का पर्यटन किया। इन यात्राओं से भारत के धार्मिक विचारों में बहुत कुछ समानता उत्पन्न हो गई। इसके सिवा बौद्ध मत के विरुद्ध जो युद्ध चल रहा था उसे बहुत दृढ़ता पहुँची और अनिष्ट साम्प्रदायिक झगड़े दूर करके एक विस्तृत धार्मिक दर्शन के द्वारा लोगों में एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न होने लगा। शंकराचार्य के बाद तो उत्तर भारत दक्षिण के आचार्यों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गया। १६ वीं शताब्दी तक दक्षिण के आचार्य उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण को प्रभावित करते रहे। वास्तव में ईसा की पहली शताब्दी से कुछ पहले दक्षिण में बड़े-बड़े राज्य स्थापित होने लगे थे। इन राज्यों ने आर्यों की संस्कृति को ग्रहण कर लिया और उसी का विकास किया। आंध्र (७१ पू० ई०—२१८ ई०) राज्य पहला महत्त्वपूर्ण दक्षिण राज्य था। पूर्वी मराठा प्रदेश इसका केन्द्र था और धान्यकटक और प्रतिष्ठान (पैठन) इसके सबसे प्रसद्धि नगर थे। ७१ पू० ई० में आंध्रों ने मगध को विजित कर लिया। इस समय मगध में कण्व राजा राज

कर रहे थे। पहली-दूसरी ईसा-शताब्दियों में उत्तर भारत हूणों से आतंकित रहा, परंतु आंध्र देश स्वतंत्र रह कर उन्नति करता रहा। आंध्र बौद्ध थे और धान्यकटक शीघ्र ही बौद्धों का महान् केन्द्र बन गया और दक्षिण में पल्लवों और चालुक्यों के राज्य स्थापित हुए। आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों का उदय हुआ। मान्यखेट उनकी राजधानी थी। ७५२ ई० में उन्होंने चालुक्यों पर एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त की। ११ वीं शताब्दी में कन्नौज भी उनके शासन में आ गया। यहाँ के राष्ट्रकूट राठौर नाम से प्रसिद्ध हुए। राष्ट्रकूट शैव और वैष्णव थे। दक्षिण का इतिहास मुख्यतः आंध्रों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पल्लवों, यादवों और कार्तिकेयों का इतिहास है। इस इतिहास की शृंखला अलाउद्दीन खिलजी की दक्षिण-विजय (१३१० ई०) तक चलती है। कार्तिकेय वंश १४२४ ई० तक राज करता रहा। खिलजी वंश के अंत के साथ दक्षिण में विजयनगर का ऐश्वर्यपूर्ण राज स्थापित हुआ। इसका समय १३३० ई० से १४४० ई० तक पहुँ-चता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकराचार्य के समय से बहुत पहले कदाचित् हर्ष के कुछ बाद ही भारतीय धर्म और संस्कृति का नेतृत्व दक्षिण को मिल गया। आपस्तंब (सूत्रकार), बोपदेव ('मुग्धबोध' के लेखक), हेमाद्रि (स्मृतिकार), भास्कराचार्य (ज्योतिषाचार्य), मल्लिनाथ (कालिदास के टीकाकार) आदि प्रसिद्ध वैयाकरण और स्मृतिकार दक्षिण से ही संबंधित हैं। शंकराचार्य (७८८ ई०—८२८ ई०), रामानुज (१०१७ ई०—

११३७ ई०) और माध्वाचार्य (१२१४—१२६४ ई०) दक्षिण के स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों में सुरक्षित हिंदू चिंतन को लेकर उत्तर भारत में आये और उसे नई प्रेरणा दी।

उत्तर भारत के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि १२०६ ई० तक वहाँ शैवों, शाक्तों और योगियों का राज था। १२०६ ई० से १५२६ ई० तक का समय उत्तर भारत में वैष्णवभक्तिप्रचार का समय है और इस काम में सबसे बड़ी सहायता रामानंद, नामदेव और वल्लभाचार्य ने दी। 'इस समय तक मुसलमानों का अधिकार भारत के पूरे विस्तार में जम चुका था। दिल्ली के बादशाहों का राज्य दृढ हो चुका था और उसका प्रभाव और अधिकार दूर-दूर तक फैल गया था। परंतु इस समय तक चिट्ठी-पत्री और आने-जाने के साधन ऐसे न थे कि कोई केन्द्रीय शासन इतने दूर-दूर के प्रान्तों पर, जो हर तरफ़ हज़ार-हज़ार मील से भी अधिक फैले हुए थे, यथेष्ट रूप से अपना सिक्का बैठा सके। इसके सिवा मुसलमान जो धार्मिक भावावेश में पड़ कर भारत में आ गये थे वह भी अपने सामाजिक जीवन में इतनी समानता पैदा न कर सके थे कि सब मिल कर किसी केन्द्रीय शासन से संबंध जोड़ लेते। भिन्न-भिन्न जातियों के मुसलमान जैसे तुर्क, पठान, ईरानी, अरब, मुग़ल और विविध वंशों के इस्लाम-मत स्वीकार करने वाले भारतीय अभी किसी संयुक्त शासन और समाज-नीति पर एकमत नहीं हुए थे जिससे वह एकता के साथ

किसी विस्तृत और दृढ़ केन्द्रीय शासन के रक्षक बन जाते। और फिर हिंदुओं से भी उनके संबंध अभी तक कुछ आंतरिक प्रेम के न थे। जहाँ तक शासन और विजय का संबंध है मुसलमानों के भारत को विजय करने से पहले राजपूत हिंदुओं की शेष सभी जातियों पर बड़प्पन प्राप्त कर चुके थे। मुसलमानों के आने के बाद भी राजपूतों के चरित्र और वीरता की नीति का विकास जारी रहा और कहा जा सकता है कि इस समय हिंदू आबादी की वीर श्रेणी यही थी। हिन्दुस्तान के हिन्दू विद्वान् और पंडित अब पीछे की श्रेणियों में आ गये थे परन्तु शासकवाद का प्रभाव उन पर भी पड़ रहा था। मुसलमान दरवेश और सूफ़ी देश भर में फैले हुए थे और उनका प्रभाव संबंध के कारण हिन्दुओं के विचार पर और देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर पड़ रहा था। संबंध के प्रभाव के कुछ चिह्न भक्ति के सिद्धान्तों में देख पड़ते हैं जो आधुनिक वैष्णव मत और शैव मत में प्रवेश कर गया था और फिर उन आन्दोलनों में भी दिखाई देते थे जो इन दोनों मतों के विरुद्ध खड़े किये गये थे। और जिनके कारण जाति-पाँति का विभेद और उसके असामाजिक अंग और भी दृढ़ और स्पष्ट हो गये और जातियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। अब रही सीधे प्रभाव पड़ने की बात। वह विविध भारतीय वंशों के समूह के मुसलमान मत में प्रविष्ट होने से प्रगट है और इस बात से भी कि इस

काल में विविध पंथ और मत-मतांतर चल पड़े और सौ-दो सौ वर्ष तक अपना प्रभाव फैलाते रहे। कबीर और गुरुनानक उन धार्मिक और सामाजिक मेल कराने वालों की लम्बी सूची में से दो सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण हैं जिन्होंने अभिनव भारत के लिए मार्ग बनाया।

इस प्रकार यह निश्चित है कि इस सारे काल (७०० ई०—१४०० ई०) में जन-जीवन अनेक स्रोतों में प्रवाहित हुआ। काल-प्रवाह में बदलते हुए ६-७ सौ वर्षों के जन-जीवन का क्रम-विकास दिखलाने का कोई भी साधन हमारे पास नहीं है। हम केवल कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की ओर ही इंगित कर सकते हैं। १२ वीं शताब्दी तक तो उत्तर और दक्षिण के जन-जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं था, परन्तु इसके बाद थोड़ा अंतर हो गया जान पड़ता है। १३ वीं और १४ वीं शताब्दी में दक्षिण उत्तर की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध था। उत्तर भारत की संस्कृति को मुसलमानों ने बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया था। लगभग २-३ शताब्दियों की उथल-पुथल के बाद समाज कहीं व्यवस्थित हो सका। १२०६ ई० से १५२६ तक के समय को हम हिंदू जाति के मध्ययुगीन नवीन संगठन का समय कह सकते हैं। इसी समय बिरादरियों की नवीन संस्था विकसित हुई और स्वरक्षा और हिंदुत्व का भाव जाग्रत हुआ। सच तो है कि आलोच्य-काल राज-नीतिक दृष्टि से उत्तर भारत के विशृंखल होने और फिर

सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र में पुनर्संगठित होने का इतिहास है। पौराणिक धर्म, भक्ति और एकेश्वरवाद (ब्रह्म) ने इस पुनर्संगठन की प्रतिक्रिया का आरंभ किया और बिरादरी की संस्थाओं के विकास और वर्णव्यवस्था के अनुशासन की कठोरता ने इसे पूरा किया। पहली शताब्दी ईसवी के लगभग शकों के कारण ऐसी ही परिस्थिति पहले भी उपस्थित हो गई थी। इस समय अनेक पुराणों की रचना हुई और पौराणिक इतिवृत्तों में शकों को स्थान दे दिया गया। इन्हीं पुराणों के द्वारा शकों पर और बाद में हूणों पर हिंदुओं ने विजय पाई। परन्तु शक धार्मिक दृष्टि से संगठित नहीं थे, उनके धार्मिक संस्कार बहुत अविकसित थे, इसलिए उन्हें हिन्दू-समाज में वृत्त में लाने की चेष्टा सफल हुई। शकों को देव-पुत्र बनाकर और उनके शक-द्वीप को विष्णु का क्षीरसागर लोक बनाकर हिंदुओं ने उन्हें जीत लिया। परन्तु मुसलमानों से इतनी आशा असंभव थी। उनमें धर्म-भाव विशेष था। कुरबानी (गोहत्या) और बुतशकनी (मूर्ति पूजा विरोध) दो ऐसे पत्थर थे जिन पर ऐक्य और समानता की लहरें टकरा-टकरा कर बिखर गईं। 'अल्लोहोपनिषद्' लिख कर किसी ने मुसलिम पैग़म्बर को भारतीय रूप देना चाहा था, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। बाद में नानक और कबीर के प्रयत्न भी असफल रहे और इस प्रकार हिन्दु जाति नई जाति और उसके धर्म से समन्वय न कर सकी। परन्तु प्रयत्न एकदम छूटे भी नहीं।

अन्य विदेशी जातियाँ शासन करने आई थीं—धर्मप्रचार की उनको क्षीण भी प्रेरणा नहीं थी। मुसलमान जहाँ शासन करने आये वहाँ इस्लाम की धार्मिक श्रेष्ठता, अल्लाह की सर्वोपरिता, पैगम्बर के दूतत्व और सामाजिक भक्तिभाव का संदेश लेकर आये। उनका धर्म इतना सीधा-साधा था कि प्रत्येक सदस्य उसके प्रचार में भाग ले सकता था। फिर इनके साथ सूफ़ी संत और पीर भी आये। उनका अपना एक प्रबल संगठन था जिसने हिंदुओं के लिए धर्म-परिवर्तन का मार्ग खोल दिया। तांती (तंतुवाय), जोगी, महायानी और हिंदू समाज के निम्न स्तर गाँव के गाँव और श्रेणी की श्रेणी मुसलमान बन गये। इतनी बड़ी उथल-पुथल कदाचित् संसार के इतिहास में नहीं मिलेगी। १२०६ ई० से १४०० ई० तक के समय को हम इसी उथल-पुथल और सामाजिक विशृंखलता का समय कह सकते हैं। ६५७ ई० से १२०६ ई० तक का सामाजिक इतिहास हमें रायबहादुर हीराचंद ओझा का 'मध्ययुगीन भारत का सांस्कृतिक विकास' नाम की महत्त्वपूर्ण पुस्तक में मिल जाता है। वह हमारा अपना इतिहास है। हमारी संस्थाएँ जड़ हो गई थीं परन्तु वे एकदम नष्ट नहीं हुई थीं। इसके बाद के आलोच्यकाल के जनजीवन के संबंध में हम अभी बहुत अधिक नहीं जानते। मुसलिम आक्रमण से भारतीय संस्कृति ने किस प्रकार टक्कर ली, यह एक महत्त्व-पूर्ण विषय है। इस विषय की कुंजी १२०६ ई० से १४०० ई० तक की जनता के हाथ में है।

इस समय समाज का नेतृत्व जोगियों (गोरख पंथियों) के हाथ में था। उन्होंने भारतीय संस्कृति की रचना का प्रयत्न अपने ढंग पर किया। राम-रहीम की एकता उन्होंने ही पहले-पहले घोषित की। सच तो यह है कि उन्होंने दोनों से ऊपर उठकर घोषित किया :

हम जोगी न रहें काहु के फंदे

परन्तु इससे समाज की पूर्णतः रक्षा संभव नहीं थी। इसी समय रामानन्द और नामदेव प्रभृति महापुरुष सामने आये और उन्होंने जनता को एक नई सांस्कृतिक दृष्टि दी। उन्होंने मूर्तिपूजा-निरपेक्ष, अहिंसा-प्रधान, प्रेममय भक्तिभाव का मार्ग निकाला, परन्तु साधना को सार्वभौम बनाने के लिए अवतारवाद भी स्वीकार किया। भक्तिवाद के संग पुराण आये और पुराणों के साथ अपनी भारतीय संस्कृति का मोह। इस प्रकार भक्ति की भावना ने हिंदू समाज को दृढ़ किया।

परिस्थिति को इसी रूप में देखना कदाचित् अधिक श्रेयस्कर रहेगा। भक्ति-आन्दोलन को केवल वैयक्तिक सुधारात्मक आन्दोलन या भावनात्मक उच्छ्‌वास के रूप में देखना उचित नहीं है। इस आन्दोलन की जड़ें हमारी पौराणिक संस्कृति में बहुत गहरी चली गई थीं। इस पौराणिक संस्कृति ने ही गुप्तों के युग में हमें कालिदास जैसा उत्कृष्ट कवि दिया। मध्ययुग में इस पौराणिक संस्कृति ने पुराण-कथाओं और पौराणिक

संस्कृति का तो उद्धार किया ही, परन्तु उसने भक्ति के रूप में समसामयिक समाज को एक नया जीवन-दर्शन भी दिया। मुसलमानी जीवन की उच्छृंखलता और मुग़लों की विलासिता के समकक्ष भक्ति-मार्ग ने अत्यंत उच्च नैतिक परन्तु भावात्मक जीवन की व्यवस्था की। इस तरह उसने हिंदू जनता को पतन के गर्त में गिरने से बचाया। मुग़ल दरबार, हिंदूराज्याश्रयों और कुछ धनी-मानी सामंतों के आश्रय में एक दूसरी श्रेणी का काव्य भक्तियुग में पलता रहा। यह काव्य शृंगार रस प्रधान था और इसके आदर्श ६०० ई० से १००० ई० का राजाश्रयी संस्कृत काव्य था। परन्तु इसको जनता से संबंधित करना ठीक नहीं होगा। जनता की भावनायें राम, कृष्ण, राधा, हनुमान और अन्य अनेक देवी-देवताओं और महावीरों के साथ थीं।

जो हो, यह निश्चित है ७०० ई० से १४०० ई० तक का समय मध्यदेश की संस्कृति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। १२०६ ई० के बाद लगभग १५०—२०० वर्ष तक इस प्रदेश की संस्कृति की बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की ओर से एक मिली-जुली समन्वयात्मक संस्कृति के निर्माण की चेष्टा हुई। यह चेष्टा पूर्णतयः सफल नहीं हुई। पौराणिक संस्कृति को पुनर्जीवित कर और भक्तिमार्ग को आविष्कृत कर हिंदू संस्कृति ने अपने लिए एक नये व्यूह की रचना कर ली जो उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक थी।

६—साहित्यिक अवस्था

(क) संस्कृत काव्य

१२०० ई० तक हिन्दू राज्यों में राजकाज और व्यवस्था-पत्रों में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता था। लोकभाषायें अपभ्रंश के रूप में चल रही थीं, परन्तु पठन-पाठन, अध्ययन, धार्मिक एवं दार्शनिक वादविवाद और विवेचना की भाषा संस्कृत ही थी। इसके बाद मुसलमानी राज्यों में फ़ारसी ने "राज-भाषा" का स्थान ले लिया। हिंदू राज्याश्रयों में भी संस्कृत बहुत दिनों तक नहीं चली। धीरे-धीरे अखिल भारतीय एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण नष्ट हो गया और स्थानीय विभाषायें (प्राकृतें या बोलियाँ) राजपत्रों में भी स्थान लेने लगीं। परन्तु इस काल के अंत (१४०० ई०) तक संस्कृत में रचना की परंपरा बराबर चलती रही। वास्तव में ७०० ई० से १४०० ई० तक काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र, धर्म, स्मृति और दर्शन के क्षेत्रों में संस्कृत भाषा का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ और ऐसे अनेक ग्रंथ उपस्थित हुए जो चिरकाल तक हिंदू जाति का गौरव रहेंगे।

इस समय के संस्कृत काव्य में प्रमुख हैं किरातार्जुन (भारवि, ७वीं शती), अमरुक-शतक (अमरुक) भट्टि काव्य (भट्टि), शिशुपाल-बध (माघ), नलोदय, राघो-पांडवीय (कविराज, ८०० ई०) पार्श्वाभ्युदय (आचार्य

जिनसेन, ६ वीं शती), गीतगोविंद (१२वीं शती, जयदेव), रामायण मंजरी (क्षेमेन्द्र), जानकी-हरण (कुमारदास), राघव नैषधी (हरदत्त), श्रीकंठचरित (मंख), नैषध चरित्र (हर्ष), नरनारायण आनंद काव्य (वस्तुपाल), हरिचरित चिंतामन (राजानक जयरथ), हरविजय महाकाव्य (राजानक रत्नाकर), नेमिनिर्वाण (वाग्भट्ट), द्विसंधान महाकाव्य (धनंजय), रामचरित, (संध्याकर नंदी) विक्रमांक देव चरित्र (वल्हण), नवसाहसांक चरित्र (पद्मगुप्त), द्वियाश्रय महाकाव्य (हेमचंद्र), पृथ्वीराज विजय (जयानक), कीर्तिकौमुदी (सोमदेव) और कल्हण की 'राजतरंगिणी'।

इन काव्यों के अतिरिक्त कुछ काव्यसंग्रह भी मिलते हैं। समसामयिक जनता की रुचि, मान्यताओं और मनोविज्ञान के समझने के लिए ये संग्रह महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें अधिक महत्त्वपूर्ण तीन संग्रह हैं—सुभाषितरत्नसिंधु (अमितगति, ८९३ ई०), सुभाषित शतावली (वल्लभदेव, ११वीं शती) और कवीन्द्र वचनसमुच्चय। अंतिम ग्रंथ का लेखक कोई बौद्ध है, परन्तु उसके नाम का पता नहीं चलता।

इन काव्यग्रंथों में कई हिंदी के परवर्ती काव्य पर प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं:

१—अमरुक-शतक : रीति-काव्य की सतसई-परंपरा और मुक्तक-पद्धति के विषय और अभिव्यंजनाशैली पर इसका प्रभाव लक्षित है। यह शृंगारिक ग्रंथ है।

२—भट्टि-काव्य—इसका लेखक भट्टि वल्लभीराज धीरसेन के आश्रय में रहता था। यह रस, अलंकार और छंद ग्रंथ है जिसमें रामकथा को रीति-पाठ के रूप में उपस्थित किया गया। केशव की 'रामचन्द्रिका' भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न है।

३—गीतिगोविन्दम्। सारे संस्कृतकाव्य में संगीत के तत्त्वों की प्रधानता है, परन्तु जयदेव के गीतिगोविन्दम् में संगीत की सर्वोच्च उत्कृष्टता मिलती है। शब्दशिल्प, संगीत-मर्मज्ञता, विलास और मधुरता के कारण यह ग्रंथ शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया होगा। इसमें जनता में प्रयुक्त रागों का ही उल्लेख मिलता है। १५वीं-१६वीं शताब्दी के पदसाहित्य पर इस ग्रंथ के संगीत और इसकी कला का अत्यंत व्यापक प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

४—चरित्रकाव्य। इस सारे युग में चरित्रकाव्य या वीरकाव्य के रूप में वे सब अनेक कृतियाँ आ जाती हैं जिन्हें केवल सामंतकाव्य के अंतर्गत रख सकते हैं। ऊपर हमने इनमें से अनेक का उल्लेख किया है, परन्तु 'रासा' और 'रासो' ग्रंथों से इनकी अपनी भिन्न शैली है। इन चरित्रों में से कुछ पौराणिक हैं, कुछ ऐतिहासिक।

५—सुभाषित। सुभाषितों में नीति, शृंगार, वैराग्य संबंधी अनेक सुन्दर उक्तिओं का संग्रह होता है। इन सुभाषितों ने हिंदी में कवि-कल्पनाओं का ढ़ेर लगा दिया। इसमें बहुत

कुछ उच्चकोटि का नहीं था, परन्तु जो था, वह अवश्य ही लोकप्रिय हो गया।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि १००० ई० तक संस्कृत काव्यशास्त्र में बराबर रचनायें उपस्थित होती रहीं। इन रचनाओं में कृत्रिमता और परंपरा का प्रभाव ही अधिक है। कला ने अनुभूति को दबा दिया है। परंतु 'गीतिगोविंदम्' जैसी मौलिक वस्तु भी है जिसने अगली शताब्दियों के लोक-भाषाकाव्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

काव्यशास्त्र और साहित्य-समीक्षासंबंधी अनेक ग्रंथ भी इस समय लिखे गये। हिंदी साहित्य की दृष्टि से ये बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। आरंभ से ही हिंदी कवियों को इन ग्रंथों की स्थापनाओं ने प्रभावित किया है। वास्तव में यह सारा युग टीका-युग कहा जा सकता है। क्या दर्शन के क्षेत्र में, क्या धर्म के क्षेत्र में, क्या साहित्य के क्षेत्र में, मौलिक प्रेरणा और अनुभूति के विशेष दर्शन नहीं होते; हाँ, वादविवाद, तर्क-वितर्क और विवेचना की प्रधानता है। रस, अलंकार और छंद के विषय में कई प्रकार की विशेष महत्त्वपूर्ण विवेचनाएँ इसी समय सामने आईं। मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', गोवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक', भामह का 'अलंकार शास्त्र', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', हेमचंद्र का 'काव्यानुशासन', वागभट्ट का 'काव्यानुशासन' और 'वागभट्ट अलंकार', उद्भट का 'काव्यालंकार-संग्रह', रुद्रट का 'काव्यसंग्रह',

भोज का 'सरस्वती-कंठाभरण', दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण', हेमचन्द का 'छंदानुशासन' और क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्ततिलक' ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रंथों की इस बड़ी संख्या से ही उस युग की विवेचनात्मक प्रतिभा का अनुमान हो जाता है। इन ग्रंथों ने साहित्य की विवेचना को बहुत आगे बढ़ाया, इसमें सन्देह नहीं। पिछले लगभग ५०० वर्षों में संस्कृत साहित्य के प्रत्येक अंग में एक विराट वाङ्मय का सृजन हो चुका था। कुछ विवेचनाग्रन्थ भी उपस्थित थे, परन्तु नई सामग्री के साथ नई विवेचना की आवश्यकता थी। आचार्यों ने इस बात को समझा। उनकी रचनाएँ इस बात का प्रमाण है कि १३ वीं शताब्दी तक देश की सांस्कृतिक धारा छिन्न-भिन्न नहीं हो पाई थी और प्राचीन काव्यों, नाटकों और शास्त्रों का अध्ययन उसी तरह चल रहा था।

चम्पू के क्षेत्र में तीन महत्त्वपूर्ण रचनायें सामने आईं। ये हैं 'नल-चम्पू' (त्रिविक्रमभट्ट, ६१५ ई०), यशतिलक (सोमदेव) और चम्पूरामायण (राजा भोज)।

काव्य के बाद अनुभूतिपूर्ण साहित्य का दूसरा प्रधान क्षेत्र नाटक है। इस क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हमें प्राप्त हुईं। महाराज शूद्रक का 'मृच्छकटिक', हर्ष के तीन नाटक 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द', भवभूति के 'मालती-माधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित', भट्टनारायण का 'वेणीसंहार', विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस',

राजशेखर के 'बालरामायण', 'बालमहाभारत' और 'वद्धशाल-भंजिका', दामोदर का 'हनुमन्नाटक' (८५० ई०), कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' (११०० ई०) अधिक महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं। अन्य नाटक हैं—अनर्घराघव (मुरारी), कर्ण सुन्दरी (वल्हण), किरातार्जुनीय, कर्पूरचरित, रुक्मिणी-परिणय, त्रिपुरदाह, हास्य-चूड़ामणि और समुद्र-मंथन (वत्सराज), हरकेलिनाटक (चौहानराज विग्रहराज), ललित विग्रहराज (सोमेश्वर) और पार्थ पराक्रम (परमार-राज धारावर्ष के भाई प्रह्लाद देव की रचना)। परन्तु ये सब तो कुछ मुख्य-मुख्य रचनायें हैं। इस समय लिखे नाटकों और काव्यों की रचनायें कई सहस्र तक पहुँचेंगी। देश खंड-खंड हो गया था। राजनैतिक शक्ति क्षीण हो गई थी। इसीसे उसकी रक्षा नहीं हो सकी। परन्तु अनेक राज्यों और परस्पर की स्पर्धा के कारण साहित्य को व्यापक रूप से आश्रय मिला। इसीसे कवियों, नाटककारों और आचार्यों की जितनी बड़ी संख्या इस युग में हैं उतनी पहले नहीं थी।

गद्यात्मक आख्यानकों और कथाओं के क्षेत्र में भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इस क्षेत्र में पंचतंत्र और गुणाढ्य की 'वृहत् कथा' पहले से ही उपस्थित थे। 'वृहत् कथा' पैशाची भाषा में थी। १०३७ ई० में क्षेमेंद्र ने 'वृहत्कथामंजरी' नाम से संस्कृत में इस ग्रंथ का अनुवाद किया। पंडित सोमदेव ने भी 'कथासरितसागर' के नाम से १०६७ और १०८१ ई०

के बीच में इसका अनुवाद किया। इस ग्रन्थ का तीसरा अनुवाद 'बृहत्कथाश्लोक संग्रह' के नाम से प्राप्त हुआ है। वैतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी और शुक-बहत्तरी भी लगभग इसी समय की रचनाएँ हैं। इसी समय ये कथाएँ भारत से विदेश में गईं और वहाँ नाना-रूपों में प्रसिद्ध हुईं। इन कथाओं के अतिरिक्त आख्यायिकाओं की भी रचना हुई। ये कवित्वप्रधान रचनाएँ हैं और भाषा-शैलीसंबंधी अनेक जटिलताएँ इनसे संबंधित हैं, परंतु समसामयिक सभ्यता और संस्कृति के संबंध में इनसे बहुत कुछ जाना जा सकता है। इस प्रकार की कुछ महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं दशकुमारचरित (दन्डी), वासवदत्ता (सुबंधु), हर्षचरित और कादंबरी (बाण), उदय सुन्दरी कथा (सुढ्ढल) और तिलकमंजरी (धनपाल)।

यह स्पष्ट है कि हमारे आलोच्यकाल के एक बहुत बड़े भाग में (७००—१२००) लगभग ५०० वर्ष तक संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङ्गमय की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बराबर सामने आती रहीं। संस्कृत ही राजभाषा थी। सांस्कृतिक और धार्मिक भाषा भी वही थी। दर्शन, स्मृति और नीतिसम्बन्धी विवेचना भी इसी भाषा में होती थी। बहुत पहले ही उसे प्रौढ़ता प्राप्त हो गई थी। इसलिये साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में बड़ी सरलता से उसका उपयोग हो सकता था।

संस्कृत साहित्य के साथ-साथ प्राकृत को भी ले लें। नाटकों में

प्राकृत का विशद प्रयोग मिलता है और राजाश्रयों में संस्कृत कवियों के साथ प्राकृत के कवियों का भी उल्लेख है। वैसे बुद्ध के समय से ही प्राकृत जनसाधारण में चल रही थी। बौद्ध ग्रंथों की भाषा पाली (मागध प्राकृत) ही है। अशोक के धर्म-लेखों की भाषा भी प्राकृत है। इसका सबसे पहला व्याकरण कात्यायन ने लिखा। अशोक के समय तक प्राकृत संस्कृत से बहुत भिन्न नहीं थी परन्तु फिर धीरे-धीरे दोनों के बीच में खाई पड़ने लगी। अशोक के शिलालेखों की भाषा में प्रांतीय भाषा की विभिन्नता के कारण अनेक रूप मिलते हैं। जान पड़ता है यह भेद बढ़ता गया। बाद में उत्तर भारत में अनेक प्राकृतें विकसित हो गईं। इनमें पाँच महत्त्वपूर्ण हैं—मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्रीय, पैशाची और अवन्तक। संस्कृत नाटकों में नीच वर्ण के पात्रों में इसी मागधी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। अभिज्ञान शाकुतलं, प्रबोध-चंद्रोदय, वेणीसंहार और ललित विग्रह नाटकों में भी इसका प्रयोग है। शौरसेनी और मागधी प्राकृतों के सम्मिश्रण से अर्धमागधी प्राकृत गढ़ी गई। जैन आगमों में इसी का प्रयोग है। 'पउमचरिउ' की भाषा यही अर्धमागधी है। शौरसेनी प्राकृत शूरसेन देश या मथुरा के आस-पास बोली जाती थी। इसका भी नाटकों में प्रयोग हुआ है। जैन दिगंबर संप्रदाय की कुछ धार्मिक रचनाएँ इस भाषा में मिलती हैं। महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग काव्य के क्षेत्र में व्यापक रूप से हुआ है। यह पश्चिमी हिंदी प्रदेश

और राजस्थान की प्राकृत जान पड़ती है। हाल (सप्तशती), प्रवरसेन (सेतुबंध), वाकपति राज (गौड वहू), राजशेखर (कर्पूरमंजरी) और हेमचन्द्र की कुछ रचनायें इसी प्राकृत में हैं। भोज के ग्रन्थों और उत्कीर्ण लेखों में भी इसी का प्रयोग है। जैन महाराष्ट्री नाम से इसके ही एक रूप का प्रयोग श्वेताम्बर जैनसंप्रदाय में हुआ है। पैशाची कश्मीर और उत्तर पश्चिम की प्राकृत थी। गुणाढ्य की 'वृहत् कथा' इसी भाषा में बतलाई जाती है। अब यह उपलब्ध नहीं है। आवन्तिक प्राकृत अवन्ति, मंदसौर आदि दक्षिणी प्रदेशों में चलती थी। मालव पंजाब के निवासी थे। जान पड़ता है पैशाची का कोई रूप ही मालवा में अवन्तिका बन गई क्योंकि सिकंदर के समय के बाद मालव अवंति में बस गए थे। पाचवीं शताब्दी में ही प्राकृत भाषाएँ महत्त्वपूर्ण हो गई थीं। इसीलिए जब हम वररुचि को 'प्राकृत-प्रकाश (प्राकृत व्याकरण) की रचना करते देखते हैं तो हमें आश्चर्य नहीं होता। १२०० ई० तक अनेक प्राकृत व्याकरण बन चुके थे। अंतिम व्याकरण 'सिद्ध हैम छंदानुशासन' (हेमचन्द) ने लिखा। हेमचन्द ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मान कर ही अपने व्याकरण की रचना की है। शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश को उन्होंने महाराष्ट्री से बहुत कुछ मिलता-जुलता माना है। परन्तु जहाँ प्राकृत उदाहरण संक्षेप में है, वहाँ अपभ्रंश का पूर्ण विस्तार है। इससे

स्पष्ट है कि १२०० ई० तक अपभ्रंश में अधिक रचना नहीं हुई और साहित्य के क्षेत्र में वह लोकप्रिय नहीं थी।

(ख) अपभ्रंश काव्य [जैनसाहित्य]

इस युग की एक प्रधान साहित्यिक धारा जैनों का अपभ्रंश काव्य है। जैन-साहित्य की धारा का संबंध पश्चिमी मध्यदेश से है। गुजरात, राजस्थान आदि इसके केन्द्र हैं। सन् १६२७ ई० की नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, में पं० चंद्रधर गुलेरीने 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक से एक लेखमाला प्रकाशित कराई और प्राप्त सामग्री की ओर ध्यान दिलाया। उन्होंने छः कवियों का उल्लेख किया था। बाद की खोजों, विशेषकर नाथूराम प्रेमी के उद्योग से, जैन-साहित्य पर अधिक प्रकाश पड़ा है।

जैन-साहित्य के लेखक जैन आचार्य हैं जो सभी संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत के लेखक हैं। उन्होंने मध्यकाल की धार्मिक चिंतना के जैन-रूप को हमारे सामने उपस्थित किया है। विषय की दृष्टि से जैन-साहित्य आंशिक रूप से साहित्यिक है। उसमें लेखक की दृष्टि काव्य की ओर नहीं है, धर्मप्रचार की ओर है। भाषा की दृष्टि से भी परिस्थिति संदिग्ध है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जैन-साहित्य की भाषा को अपभ्रंश माना है, परन्तु उन्होंने उसे अपने साहित्य के इतिहास में स्थान दिया है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने इस साहित्य का उल्लेख भी नहीं किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि वह इसकी भाषा को हिन्दी का

पुराना रूप नहीं मानते। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि जैन-साहित्य की सामग्री हिन्दी साहित्य के अंतर्गत नहीं आती, विषय और भाषा दोनों की दृष्टि से। डा० रामकुमार वर्मा जैन-साहित्य की भाषा को प्राचीन हिन्दी मानने की ओर अधिक झुके हुए दिखाई देते हैं। उनका कहना है—"अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी के प्राचीन रूप हमें इस समय की भाषा में मिलते हैं। इसमें विशेष कर नगर-अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है।" परन्तु हमारे मत में जहाँ विद्वानों का आग्रह जैन-साहित्य की भाषा को अपभ्रंश मानकर उसे हिन्दी के क्षेत्र के बाहर करने पर है वहाँ उन्हें यह भी स्मरण रखना होगा कि ऐसी दशा में सिद्ध, नाथ और डिंगल साहित्य का प्रारंभिक साहित्य बहुत कुछ अपभ्रंश की ओर ही झुक रहा है और वहाँ भी यही परिस्थिति दीख पड़ती है। इस साहित्य की विचारधारा का संबंध हिन्दी प्रदेश से है। यह विचारधारा पूर्वी हिंदी प्रदेश में जनमी परन्तु पूर्वी प्रदेश में बौद्धमत का आधिपत्य हो जाने के कारण यह पश्चिम और दक्षिण को हट गई।

अब तक जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं वे सब दिगम्बर संप्रदाय के हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय का कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। गुजराती में इस सम्प्रदाय का विशेष साहित्य सुरक्षित है। संभव है, यह इस कारण हो कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय हिंदी प्रदेश में अधिक बलशाली नहीं था। हो सकता है, खोज से इस

सम्प्रदाय के ग्रंथ भी प्राप्त हों। जैन-साहित्य की भाषा के संबंध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। इसमें मुख्यतः अपभ्रंश परन्तु उत्तर काल में पुरानी हिन्दी के रूप भी मिलते हैं। सारा साहित्य शांत रस के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है यद्यपि कहीं-कहीं अलंकार के रूप में ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र के साथ शृंगार रस के दर्शन भी हो जाते हैं। इस साहित्य में अनुवादित ग्रंथ ही अधिक हैं, स्वतंत्र कम। यह साहित्य मुक्तक और प्रबंध दोनों रूपों में हमारे सामने आया। मुक्तक छन्द उद्धरण के रूप में उपस्थित किये गये हैं। प्रबंधकाव्य प्रथमानुयोग (तीर्थङ्करों की जीवनियाँ), चरणानुयोग (श्रावकों का चित्रण), दृष्टांत कथाओं (जैन जातक) और ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र अथवा रासा के रूप में है। इस प्रकार के साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। यों तो सारा जैन-साहित्य भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम उसी में साहित्यिक भाषा को अपभ्रंश से हिंदी की ओर संक्रमण करते हुए देखते हैं।

जैन-साहित्य की धारा १० वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक चलती रही और उसने प्रचुर मात्रा में साहित्य उपस्थित किया। कोई-कोई विद्वान हेमचन्द्र (११ वीं-१२ वीं शताब्दी) को इस धारा का पहला लेखक मानते हैं। परन्तु वास्तव में जैन लेखकों की परम्परा को देवसेन आचार्य (१० वीं शताब्दी) तक पीछे ले जाया जा सकता है। १० वीं शताब्दी में देवसेनाचार्य (दव्व

सहाय पयास, श्रावकाचार और दर्शनसार) और महाकवि धवल (जैन हरिवंश पुराण), ११ वीं शताब्दी में महाकवि पुष्पदंत (महापुराण, नागकुमार चरित), धनपाल कवि भविष्यवत्त चरित्र), श्री चन्द्रमुनि, श्री जिन वल्लभसूरि (वृद्ध-नवकार), १२ वीं शताब्दी में योगचन्द्र मुनि (योगसार), हेमचन्द्र (सिद्ध हैम या सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन और कुमारपाल चरित), सोमप्रभाचार्य (सोमशतक) और १३ वीं शताब्दी में सोमप्रभसूरि (कुमारपाल प्रतिबोध), धर्मसूरि (जम्बूरासा, १२०६), विजयसेन सूरि (रेवत गिरि रासा, १२३१) और विजयचन्द सूरि (नेमिनाथ चउपई, १२३१) प्रसिद्ध जैन लेखक और कवि हो गये हैं। १४ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश ने बहुत कुछ पुरानी हिंदी का रूप धारण कर लिया था। उसमें फुटकल रचनाओं के साथ वीरगाथाएँ भी मिलने लगीं। इस समय की हिंदी को अपभ्रंश मिली पुरानी हिंदी कहना ठीक होगा। १४ वीं शताब्दी में मेरुतुगांचार्य ने 'प्रबंध चिंतामणि' की रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने प्राचीन राजाओं के आख्यान संग्रह किये हैं। इन आख्यानों के बीच-बीच में उनके सम्बन्ध में प्रचलित जनगीत (दोहे) हैं जिनसे हमें भाषा-परिस्थिति के सम्बन्ध में बहुत ज्ञान होता है। विशेषकर वे दोहे जो मुंज ने कहे हैं पुरानी हिंदी के ही नमूने कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रसिद्ध कवि और सूत्रकार शार्ङ्गधर (१३०० ई० के बाद) हैं। इनके दो मुख्य ग्रंथ शार्ङ्गधर-पद्धति

और प्राकृतारण हैं। यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने हम्मीर रासो नामक एक वीर काव्य की भी रचना की। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, परन्तु आचार्य शुक्ल जी को 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में छन्दों के उदाहरण-स्वरूप हम्मीर रासो के कुछ पद्य मिले हैं।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में रासाओं के जो उदाहरण दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि १२ वीं शताब्दी के अपभ्रंश और रासो की भाषा में बहुत भेद नहीं है—

ढ़ोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रतडी दडवड होइ विहाणु ॥
भल्ला हुआ जो मारिओ बहिणि महारो कन्तु ॥
लेज्जज्जंतु वर्दसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥

डिंगल कवियों की तरह जैन कवियों ने भी उपर्युक्त दोहों की भाषा की बराबर रक्षा करने का प्रयत्न किया है। अतएव बाद के आचार्यों की भाषा का रूप परम्पराबद्ध हो जाने के कारण तत्कालीन जनभाषा पर कोई प्रकाश नहीं डालता—

चिण चउविस पय नमेवि गुरु चरण नवेमि ॥
जम्बू स्वामिहिं तणूं चरिय भविउ निसुणेवि ॥
वारि सानिध सरसत्ति देवि जीयरम कहाणउ।
जम्बू स्वामिहिं (सु) गुहगहण संत्नेवि वरवाणउ ॥

(जम्बू स्वामी रासा, सं० १२६६, १२०६ ई०)

सोहग सुन्दरु घणलायन्नु, सुमरवि सामिउ साम लवन्नु।
सखियत राजल उत्तरिय, बार भास सुणि जिय वज्जरिय ॥

नेमि कुमर सुमरवि गिरनारि, सिद्धी राजल कन्न कुमारि ।।
श्रावणि सरवणि कडुए मेहु, गज्जइ विरहि रिझिज्जहु देहु ।।
(नेमिनाथ चउपई)

जायति पाछइ संपजइ, सा मति पहिली होइ ।।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विधन न वेढ़इ कोइ ।।
मुंजु भणइ मुणालवइ, जुव्वणु गयउ न झूरि ।
गइ सक्कर सयखंडथिय, तोइ स मीठी चूरि ।।
(प्रबंधचिंतामणि, १३०४ ई०)

इन उद्धरणों को रासो (पृथ्वीराजरासो, ११९३) की भाषा से मिलाइये :

हत्थ हत्थ सुज्झै न, मेघ उंभरि मंडि रज्जी ।
निसि निसीथ अतरो, भान उत्तारि सथ सज्जी ।।
बिज्ज बीर झलकंत, पवन पच्छिम दिसि बज्जै ।
मोर सोर पप्पीह, अवनि सक्रित घन गज्जै ।।
बंटी जु सिलह निसि सत्तमिलि, सधिय पंग दरबार दिसि ।
चामंडराय दाहर नन्नै, लरन लोह कउढ़े तिरसि ।।
पच्छै भौं संग्राम, अग्ग अपछर बिच्यारिय ।
पुछै रंभ मेनिका, अज्ज चित्त किमि भारिय ।।
तब उत्तर दिय फेरि, अज्ज पहुनाई आइय ।
रथ्थ बैठिऔ थान, सोज तह कंज न पाइय ।।
भर सुभर परे भारत्थ भिरि, ठाम-ठाम चुप जीत संधि ।
उथकीय पंथ हल्लै चल्यो, सुथिर सभौ देखिय नभ ।।

यह रासो की मूल भाषा नहीं। १५ वीं शताब्दी में रासो की भाषा का संस्कार कर दिया गया था और उसमें मूल भाषा के रूप में अनेक परिवर्तन हो गये थे, परन्तु इस उद्धरण से यह अनुमान किया जा सकता है कि जैन कवियों की अपभ्रंश से रासो की हिंदी बहुत भिन्न रही होगी। वास्तव में अपभ्रंश से हिंदी बनने की क्रिया एक अत्यंत लम्बे काल तक चलती रही है। इस लम्बे काल को हम १००० ई० से १४०० ई० तक मान सकते हैं। 'बीसलदेव रासो' (नल्ह, ११५५ ई०) में हमें खड़ी बोली हिंदी के अनेक रूप मिलते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' (चन्द, ११६३) में खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों के रूप मिलते हैं। इसका कारण यही है कि इन दोनों ग्रन्थों की रचना खड़ी बोली और ब्रजभाषा के क्षेत्रों में हुई थी और डिंगल (सामयिक साहित्यिक राजस्थानी अपभ्रंश) के साथ इन लोक-भाषाओं के प्रयोगों का आ जाना असंभव नहीं था। अमीर खुसरो (१२५३ – १३२५) की रचनाओं में भी ब्रज और खड़ी का मिश्रण मिलता है। यह मिश्रण लोकभाषाओं के रूप में इन दोनों भाषाओं के अस्तित्व की सूचना देता है। खुसरो की कुछ मुकरियाँ-पहेलियाँ आदि शुद्ध ब्रज और शुद्ध खड़ी में भी हैं। परंतु उनकी भाषा का रूप व्यवहार के कारण बहुत बदल गया है। भाषा प्रचार का एक मात्र साधन है। अतः सूफ़ियों ने अपने प्रचार के लिए जनता की लोकप्रिय भाषा को लिया। १४०० ई० तक मुलतान और लाहोर सफ़ियों के केन्द्र थे और इन्हीं केन्द्रों में प्रारंभिक

हिंदवो सूफ़ी साहित्य का जन्म हुआ। १३ वीं शताब्दी में लाहोर के मुसलमान कवि मासूद साद सलमा ने एक हिंदी दीवान (कविता-संग्रह) छोड़ा है, इसका उल्लेख मिलता है। लगभग २०० वर्षों तक एक नई ज़बान लाहोर में पनपी। मुसलमान इसे ही बोलते थे। इस मिश्रित भाषा में सिंधी, पंजाबी और अरबी-फ़ारसी का मिश्रण रहा होगा। जब ११९२ ई० में मुसलमानों ने चौहानों पर विजय प्राप्त कर ली तो दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली और ब्रजभाषा से इस मिश्रित भाषा का संपर्क हुआ। पूर्वी पंजाब की बाँगडू और हरियानी के पूर्व रूपों का भी प्रभाव पड़ा होगा। धीरे-धीरे भाषा का पंजाबीपन छूटा और खड़ी बोली का रंग सबसे अधिक चढ़ा। सैयद मुहम्मद गैसूदराज़ बन्दानवाज़ (मृ० १४२१ ई०), बाबा फरीद (१६०६ ई०), शाह मीरान जी (मृ० १४९१) प्रभृति सूफ़ियों के गद्य में पहली बार इस मिश्रित भाषा का व्यापक प्रयोग हुआ है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश से आधुनिक बोलियों के विकास की प्रक्रिया १००० ई० के लगभग शुरू हुई। पुष्पदंत (९५९ – ७२) का अपभ्रंश डिंगल और खड़ी बोली में विकसित हुआ तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी तरह स्वयंभू (७९० ई०) का अपभ्रंश ही कालांतर में जगनिक और विद्याधर और तदनंतर सूफ़ी कवियों की अवधी में विकसित हुआ होगा। ब्रजभाषा की कोई स्वतन्त्र रचना सूरदास (ज० १४७८ ई०) से पहले नहीं मिलती, परन्तु प्राचीन

डिंगल रचनाओं और मुसलमान सूफ़ियों की रचनाओं में ब्रज-भाषा के अनेक स्वतन्त्र रूप १००० ई० के बाद मिलने लगते हैं। इस प्रकार १००० ई० से १४०० ई० तक की काव्यसम्पत्ति हिंदी के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी स्वयं अपभ्रंश के लिये। यह भाषा के संक्रांति-काल की सम्पत्ति है, अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बड़ा है।

इस तर्क को बढ़ाये चले जाये तो यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि जैन कवियों के अपभ्रंश काव्य को हिंदी के विद्यार्थियों के पठन-पाठन की सामग्री बनाना आवश्यक है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्यधारा' में जिन जैन कवियों की रचनाओं को उद्धृत किया उनकी तालिका इस प्रकार है: स्वयंभू (७६० ई०), देवसेन (६६३ ई०), पुष्पदंत (६५६-७२), योगीन्द्र (१००० ई०), रामसिंह (१००० ई०), धनपाल (१००० ई०), जिनदत्तसूरि (१०७५—११५४), हेमचंद्र सूरि (११७६ ई०), हरिभद्र सूरि (११५६ ई०), शालिभद्र सूरि (११८४ ई०), सोमप्रभ (११६५ ई०), जिनपद्म सूरि (१२०० ई०), विनयचन्द्रसूरि (१२०० ई०), अंबदेव सूरि (१३१४ ई०) और राजशेखर सूरि (१३१४ ई०)। इस प्रकार हमें ७६० ई० से १३१४ ई० तक की भाषा की एक परम्परा ही ज्ञात हो जाती है। परन्तु यह समझ लेना होगा कि जैन साधुओं की अपभ्रंश एक वर्ग विशेष की अपभ्रंश है। उसमें लोकपरपरा नहीं, साहित्य-परंपरा ही अधिक सुरक्षित है।

अधिकांश कवियों का संबंध गुजरात से है जो हिंदी प्रदेश से दूर पड़ता है। इसकी भाषा गुर्जरी होगी। परन्तु जैन कवियों की अपभ्रंश अवधी से अधिक निकट जान पड़ती है। इसे पुरानी अवधी या कोसली कह सकते हैं। अपभ्रंश के अनेक रूप किसी समय देश में प्रचलित थे। हिंदी प्रदेश में जो अप-भ्रंशें प्रचलित थीं उनके नाम थे आवन्ती (मालवी), कोसली, मरुदेशी, अन्तर्वेदी, मागधी, पाँचाली (कन्नौज-बरेली), मध्य देशीया, पाश्चात्या (पछैयाँ)। कालांतर में इन अपभ्रंशों से मालवो, अवधी, राजस्थानी, कन्नौज, मगही, व्रज, बुन्देलखंडी और खड़ी बोली का जन्म हुआ। जैन अपभ्रंश में जैनप्राकृत की परम्परा ही विकसित हुई है। यह जैन प्राकृत कोसली और मागधी से बहुत कुछ अभिन्न है। अपभ्रंश का समय ६ वीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक माना जा सकता है। उस समय विभिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न अपभ्रंशें प्रच-लित थीं, परन्तु बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक द्राविड-भाषा-भाषी आंध्र, तामिल, केरल और कर्णाटक को छोड़ कर भारत के सभी प्रांतों की एक सम्मिलित भाषा भी थी। इस भाषा को कदाचित् 'महाराष्ट्री' अपभ्रंश कहा गया है और नाटकों में सामान्य अपभ्रंश भाषा के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। यह अपभ्रंश गुजरात से मगध और लाहोर से उड़ीसा तक राज-काज और सामान्य व्यवहार के लिए प्रयोग में आती थी। गुजरात सदैव हिंदी प्रदेश का एक अभिन्न अंग रहा है। इस

दृष्टिकोण से भी गुजरात का जैन साहित्य हिंदी साहित्य के अंतर्गत आ जाता है। जैन अपभ्रंश साहित्य में दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि कई सौ ऐसे नये-नये छन्दों की सृष्टि हुई है जिन्हें हिंदी कवियों ने बाद में अपनाया है। वास्तव में विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी और तुलसी को बहुत कुछ प्रेरणा इसी अपभ्रंश-साहित्य से प्राप्त हुई है। विद्यापति, कबीर और जायसी में हम अपभ्रंश भाषा के तत्त्वों की ही प्रमुखता पाते हैं। सूर और तुलसी ने इस अपभ्रंश की तद्भव परंपरा के स्थान में तत्समता को प्रधानता दी। यह १६ वीं शताब्दी की बात है। १६ वीं शताब्दी के बाद भाषा और साहित्य के क्षेत्र में हम संस्कृत भाषा और साहित्य की ओर ही देखने लगे, अपभ्रंश भाषा और उसके कवियों को हमने भुला दिया।

इस जैनकाव्यसाहित्य की विचारधारा भी हिंदी प्रदेश की विचारधारा है। उसका जन्म पूर्वी हिंदी प्रदेश में हुआ। इस दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है। जैन कवि शरीर को साक्षात् नरक समझता है। जन्म मरण (आवागमन) दुःख का सबसे बड़ा कारण है। गर्भवास से बड़ा दुःख भला और कौन होगा। यह संसार अत्यन्त तुच्छ है। उसकी चिंता करना व्यर्थ है। इस संसार के सारे संबंध स्वार्थ मात्र के संबंध हैं। यहाँ सुख तो प्रवंचना मात्र है, दुःख मेरु के समान भारी हैं—

विरहानल ज्वाल प्रलिप्त तनू। चिंता इव लागु विषण्ण मनू॥
साँचै संसार न अहै सुखू। साँचै गिरि मेरु समान दुखू॥

साँचै जर-जन्मा-मरण भवा। साँचै जीवित जलविंदु समा॥
कहँ घर कहँ परिजन बंधुजना। कहँ माय-बाप कहँ हित सजना॥
कहँ पुत्र-मित्र कहँ पुनि धरनी। कहँ भाय सहोदर कहँ बहिनी॥
फल जबै तबै बाँधव स्वजना। आवासै पादप जिमि शकुना॥

(स्वयंभू)

काया-नरक और संसार की वितृष्णा की बात हिंदी के संत कवियों में बार-बार आती है। इसी तरह संतों और भक्तों की वैष्णव-भावना जैन-कवियों की श्रोतिय भावना से भिन्न नहीं है :

सो श्रोत्रिय जो न दुष्ट मनई। सो श्रोत्रिय जो ना पशु हनई॥
सो श्रोत्रिय जो हृदयेहि शुची। सो श्रोत्रिय जो परमार्थरुची॥
सो श्रोत्रिय जो न मांस ग्रसई। सो श्रोत्रिय जो न सुजने भषई॥
सो श्रोत्रिय जो जन पथे थपई। सो श्रोत्रिय जो सापे तपई॥
सो श्रोत्रिय जो सन्तहँ नमई। सो श्रोत्रिय जो न मिथ्य बोलई॥
सो श्रोत्रिय जो न मद्य पिवइ। सो श्रोत्रिय जो वारै कुगती॥
सो श्रोत्रिय जो जिन देशितऊ। प्रज्ञा सत्किरियहिँ भूषितऊ॥

घत्ता।

जो तिल-कप्पासैं द्रव्य विशेषैं, हुतिय देवग्रह प्रीणई।
पशु-जीव न मारै मारत वारै, पर-आपन सम जानई॥

—उत्तरपुराण (पुष्पदंत)

नरसिंह मेहता के 'वैष्णव जन तो तेने कहिये' गीत के भाव

को इस भाव से मिलाइये, यह स्पष्ट हो जायेगा कि संतमत की एक परम्परा संतों से बहुत पहले से इस देश में चली आती थी। १० वीं शताब्दी में पुष्पदंत द्वारा 'संत' शब्द का प्रयोग इसका प्रमाण है। पुष्पदंत के समय में ब्रह्मवाद को लेकर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ चल रही थीं। 'आदिपुराण' में इन तर्कवादों को भी स्थान मिला है। पुष्पदंत कहते हैं :

की क्षण विनाशि को नित्य एक। की देहस्थ कर्महिँ मुक्त ॥
की निश्चेतन चेतन स्वरूप। की चतु-भूतहँ संयोग भूत ॥
की निर्गुण निष्कल निर्विकार। की कर्महँ कारक की अकार ॥
ईश्वर-वसेहिँ की रज-वशेहिँ। संसरै देव ! संसार केहिं ॥
परमाणु-मात्र की सर्वगामि। आत्मा कहेउं, मनु भुवन-स्वामि ॥

जान पड़ता है कि जीव-ब्रह्म के विषय में यह जिज्ञासा शांकर अद्वैत का फल है। शंकराचार्य के समय के संबंध में बड़ा मत-भेद है, परन्तु यह निश्चय है कि वह दसवीं शताब्दी से पहले हुए होंगे।

जान पड़ता है, इस समय जैन श्रावकों में अनाचार का प्रचार हो गया था। जिनदत्त सूरि (ग्यारहवीं सदी) ने लिखा है :

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी। सा लग्गइ सावयह वियारी ॥
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं। जंतिहि दिवसिहिँ धम्मह फिट्टहिँ ॥
(यौवनार्थ जो नाचै दारी। सो लागै श्रावकहिँ पियारी ॥
तेहि निमित्त श्रावक श्रुत फाडै। जाते दिवसे, धर्महिँ फोड़ै ॥)

श्रावक लोग नर्तकियों को प्रेम करने लगे थे। इससे बढ़ कर अनाचार की बात और क्या होगी ? इसी कवि ने 'काव्यस्वरूप-कुलक' में भविष्यवाणी भी की है : 'बारहवीं शताब्दी के प्रवेश होते ही संसार का सारा सुख नष्ट हो जायगा। धर्म की कोई बात भी नहीं पूछता। मनुष्य-जन्म के फल की प्राप्ति की किसी को भी इच्छा नहीं। सोते हैं, मोहनिद्रा से कोई जागता नहीं। जो जागता भी है, वह भी कल्याण-मार्ग से नहीं लगता। सब जन राग-द्वेष में लिपटे रहते हैं'—इत्यादि। इस प्रकार की बातें जैन अपभ्रंश काव्य में बार-बार मिलती हैं। वास्तव में जैन काव्य मूलतः निवृत्ति मार्ग का प्रशंसक है। उसकी बहुत सी बातें परवर्ती संतकाव्य में ग्रहण कर ली गई हैं। उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने जैनकथाओं के प्रसंग में समसामयिक सामंत-समाज का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। अधिकांश जैन कवि प्रसिद्ध साधु थे। प्रमुख राजदरबारों से उनका सम्बन्ध था। वे वीतरागी थे। परन्तु उन्होंने अपने समय के सारे हास-विलास और ऐश्वर्य को काव्य का रूप दिया है। अपभ्रंश काव्य की सारी अच्छी-बुरी परम्पराएँ उनके काव्य में मिल जाती हैं। नारी-सौन्दर्य, नखशिख, षट्-ऋतुवर्णन, विरहवर्णन इत्यादि के सभी प्रसंग इस काव्य में मिल जाते हैं जो बाद में रीतिकाव्य के प्रधान स्तंभ बने। इस-लिये हमारे रीतिकाव्य के सम्यक् अध्ययन के लिए अपभ्रंश काव्य का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। अवधी सूफी काव्य

और कथाकाव्य की परम्परा से तो वह सीधा-सीधा संबंधित है ही। इस प्रकार जैनकाव्य हिंदीकाव्य की ही एक पूर्व शृंखला सिद्ध होता है। स्वयंभू (७६० ई०) से लेकर राजशेखर सूरि (१३१४ ई०) तक हम जैनकाव्य की परम्परा को बराबर चलता पाते हैं। इस परम्परा में स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे महाकवि भी हैं जिन्हें हम किसी युग के किन्हीं दो महाकवियों के सामने रख सकते हैं। स्वयंभू की रामायण के ७०० वर्ष बाद तुलसीदास ने अपनी अवधी रामायण (रामचरितमानस) की रचना की। मानस भक्तिप्रधान ग्रंथ है, स्वयंभू की रामायण सामंती कथाकाव्य। यह एक बहुत बड़ा भेद है, परन्तु दोनों में अत्यन्त ऊँची कोटि का काव्य हमें मिलता है। स्वयंभू के संबंध में राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है : "स्वयंभू की भाषा का प्रवाह बिल्कुल स्वाभाविक है। उसने खामखवाह दुरूहता लाने की कहीं कोशिश नहीं की। पद्य-स्वर बड़े ही कर्ण-प्रिय हैं। शब्द बिल्कुल नये-तुले हैं, और रस-परिपाक तो बराबर ऊपर और-और उठता जाता है।" "स्वयंभू ने प्रकृति का बहुत गहरा अध्ययन किया है × × । समुद्र और कितने ही अन्य स्थलों, प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करने में वह अद्वितीय है। और सामंत समाज के वर्णन में उसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। किसी एक सुन्दरी के सौन्दर्य को जितनी अच्छी तरह उसने चित्रित किया है, वह तो किया ही है, लेकिन सुंदरियों के सामूहिक सौन्दर्य का वर्णन करने में उसने कमाल

कर दिया है। चित्रकार की भाँति कवि के सामने भी कोई साकार नमूना रहना चाहिए। स्वयंभू ने राष्ट्रकूटों के रनिवास और उनके आमोद-प्रमोद को नज़दीक से देखा था। वहाँ परदा बिल्कुल नहीं था, इसलिये और सुविधा थी। उसी सौन्दर्य को उसने रावण और अयोध्या के रनिवासों के सौन्दर्य के रूप में चित्रित किया है।" पुष्पदंत के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है: "पुष्पदंत ने विरह का वर्णन बड़ा सुन्दर किया है और ग़रीबी का भी। अमीरों के विलास को छोड़ कर तो वह महाकाव्य लिख ही नहीं सकता था, इसलिये वह तो ज़रूरी ही था; मगर सामंतों की संक्षिप्त किन्तु अति कठोर आलोचना की है। कुछ ही शताब्दियों पहले अपनी प्रजातंत्रीय स्वतन्त्रता से वंचित मगर अब भी जब-तब लड़ती रहने वाली यौधेय की भूमि का इतना आकर्षक वर्णन और अंत में उत्तार कुरु की धनी-ग़रीब-रहित दास-राजाशून्य दिव्य मानव वाली भूमि की भारी तारीफ़ बताती है कि पुष्पदंत का व्यक्तित्व किसी दूसरी तरह का था, जिसके लिए उस काल की परिस्थिति अनुकूल नहीं थी।" जैन कवियों और शास्त्रकारों में आचार्य हेमचन्द्र सूरि (१०८८—११९६) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने व्याकरण, छन्दोनुशासन और देशीनाममाला (कोष) के द्वारा अपभ्रंश की बड़ी सेवा की है। व्याकरण और छन्दोनुशासन में उन्होंने उदाहरण के तौर पर अपभ्रंश के बड़े सुन्दर-सुन्दर सैकड़ों पद्य उद्धृत किये हैं। स्वयंभू के छन्द-

ग्रंथ में पूर्ववर्ती अनेक अपभ्रंश कवियों के नाम हैं : चउमुहु (चतुर्मुख), धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव (आर्यदेव), गोइंद (गोविंद), सुद्धसील (शुद्धशील), जिणआस (जिनदास), विअड्ढ। इनमें से अधिकांश कवि जैन रहे होंगे। अब तक अपभ्रंश साहित्य अधिकांश में जैन कवियों ने ही लिखा है। स्वयंभू से हेमचन्द्र सूरि तक अपभ्रंश जैनकाव्य की परम्परा बराबर चलती रही, परन्तु १००० ई० के लगभग 'देशी भाषा' का प्रवर्तन भी आरम्भ हो गया। हेमचन्द्र के 'देशीनाममाला' (कोष) से इस बात की सिद्धि हो जाती है। जब भाषा में परिवर्तन हो जाता है, तभी इस तरह के कोष की आवश्यकता पड़ती है।

जो हो, यह निश्चित है कि अपभ्रंश की जनकविता प्राचीन हिंदी काव्य के नाते हिंदी के विद्वानों के सम्यक् अध्ययन और खोज की विषय रहेगी। अपभ्रंश का सबसे सुन्दर रूप हमें इन्हीं कवियों में मिलता है। अन्य अपभ्रंश कवियों का काव्य भी हमें हेमचन्द्र सूरि प्रभृति कवियों और शास्त्रकारों के माध्यम से ही प्राप्त होता है। हेमचन्द्र ने 'छन्दोनुशासन' में जो उद्धरण दिये हैं उनसे पता चलता है कि हाल की 'गाथासतसई' (प्राकृत) की परम्परा अपभ्रंश काव्य में अब तक चली आती थी। बिहारी और अन्य कवियों के दोहों में इसी परम्परा का विकास हुआ है। पपीहा के प्रति ये उक्तियाँ देखिये—

वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास।
तुह जलि महु पुण वल्लहइ, बिहुँ वि न पूरिअ आस॥
वप्पीहा कइँ बोल्लिएण, निग्घिण वार-इ-वार।
सायर भरिअइ विमल जलि, लहहि न एक्कइ धार॥

हे पपीहा! तू 'पिउ पिउ' पुकारता है। क्यों इस तरह हताश होकर रो रहा है। (मैं भी तो तेरे ही समान हूँ।) न जल तेरी आशा पूरी करता है, न मेरा वल्लभ (प्रिय) मेरी। उस पपीहा को क्या कहिये जो बारम्बार पुकारता तो रहता है, परन्तु समुद्र में भरे हुए विमल जल की एक बूंद भी स्वीकार नहीं करता।

विहारी का 'अली कली ही सों विंध्यो' दोहा प्रसिद्ध है। अब अपभ्रंश का यह दोहा देखिये :

भमरा! एत्थुवि लिंबडइ, के' वि दियहड़ा विलंबु।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु, फुल्लइ जाय कयंबु॥
(भ्रमर! ईंहै लिपटिया, किछु दीवसें विलंब।
घनपत्ता छाया-बहुल, फूलै जब्ब कदंब॥)

हे भौंरे! तू इसी से लिपटा हुआ है। अभी तो इसके फूलने में कुछ दिनों की देर है। (वह दिन दूर है) जब घने पत्तों की छाया होगी और यह कदंब फूलों से भर जायगा। नायिका ने दूती को प्रियतम के पास भेजा है। प्रियतम ने संदेशा भेजा कि वह नहीं आ रहा। इस पर दूती उदास हो गई। नायिका को संदेह हुआ। वह व्यंग करती है—

जइ न सु आवइ दुइ ! घरु, काइँ अहो-मुहु तुज्झ।
वयणु जु खंडइ तउ सहिए, सो पिउ होइ न मज्झु ॥
(यदि न सो आवै दूति ! घर, काँह अधोमुख तोर।
वचन न खंडै तव सखी, सो पिउ होइ न मोर ॥)

इस प्रकार प्रेम, विलास और वाग्चांतुरी की न जाने कितनी फुलझड़ियाँ अपभ्रंश काव्य में भरी पड़ी हैं। रीतिकाव्य के कुछ श्रेष्ठ कवियों ने इन फुलझड़ियों से अपने काव्य को अलंकृत किया तो कुछ बुरा नहीं किया।

हेमचन्द्र ने वीररस की कविता के भी कुछ उदाहरण अपने छन्द-ग्रन्थ में दिये हैं। परवर्ती वीरकाव्य के बीजांकुर इन अवतरणों में पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। पति युद्ध में मारा गया, परन्तु वीर पत्नी की आँख में आँसू नहीं है। वह कहती है—

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि ! महारा कंतु।
लज्जेज्जंतु वयंसियहु, जइ भंग्गा घरु एन्त ॥

अच्छा हुआ, बहिन जो मेरा पति मारा गया। भाग कर घर लौट आता तो मेरी लज्जा का क्या ठिकाना होता ! पति द्वार पर आया है। युद्ध से लौटा है। पत्नी को संदेह होता है, कहीं युद्ध से भाग तो नहीं आया। वह सखी से कहती है—

जइ भागा पारक्कड़ा, तो सहि ! मज्झु पियेण।
अह भग्गा अम्हहँ तणा, तो तेँ मारिअ देण ॥

हे सखी, जो परस्त्रीपति (अन्य वीर) भाग गया हो तो यह पराक्रमशील मेरा पति मुझे प्रिय होगा। जो मेरा पति भाग आया हो तो उसे मार डालना। उसे मुझसे भेंट करने मत देना। यह उस समय की वीरभावना है जब युद्ध और आत्म-सम्मान पर्यायवाची शब्द थे। जब प्रत्येक माता-पिता की जिह्वा पर ये शब्द होते थे—

पुत्तों जाएँ कवण गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा वप्पी की भूँहडी, चपिज्जइ अवरेण॥

(ऐसे पुत्र के जन्म से क्या लाभ, मरने से क्या हानि, जिसके बाप की भूमि अन्य ने दबा ली।) उस समय युद्ध ही व्यवसाय था। पत्नी कहती —

खग्ग विसाहिउ जहिँ लहहु, पिय ! तहिँ देसहिं जाहुँ।
रण-दुब्भिक्खे भग्गइ, विणु जुज्झेन क्लाहुँ॥

—'हे प्रिय, जिस देश में खड्ग का व्यवसाय चलता हो, उस देश में चलो। यहाँ तो बिना लड़े ही सेना दुर्भिक्ष में मारी जायगी। परन्तु इस वीरभाव के साथ शृंगारभाव का भी सुन्दर सम्मिश्रण इस वीरकाव्य में मिलेगा। नायिका कहती है—

अम्मि ! पओहर वज्ज या, निच्चु जे संमुह थंति।
महुं कंत हो समरंगणइँ, गय-घड़ भज्जिउ जंति॥

—हे मा, देखो मेरे कंत का पराक्रम। वह युद्धक्षेत्र से गज-मुंड भाग रहे हैं। ये मेरे वज्र पयोधर तो थे नहीं जो प्रिय के सम्मुख डटे रहते !

भाषा-शैली का बड़ा सुन्दर भावव्यंजक रूप हमें इस अपभ्रंश काव्य में मिल जाता है। वर्षारात्रि का वर्णन है—

हिअइ खुडुक्कइ गोरड़ी, गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा-रत्ति पवासुअहँ, विसमा संकडु एहु॥

—प्रवास की वर्षा भरी रात्रि में यह विषम संकट आ उपस्थित हुआ। गगन में मेघ गरज रहे हैं और हृदय में गोरटी (गोरी प्रिया) की याद। यहाँ पहली पंक्ति में नाद-साम्य के द्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति की है, वह अभूतपूर्व है।

जैन अपभ्रंश काव्य के अतिरिक्त भी अपभ्रंश काव्य की रचना हिंदी प्रदेश में हुई होगी। सिद्धों की कविता की भाषा अपभ्रंश ही है। परन्तु अपभ्रंश का लौकिक काव्य अब अप्राप्य-सा है। इसका कारण यह है कि वह सुरक्षित नहीं रह सका। धर्मकाव्य बड़ी सतर्कता से सुरक्षित रखा जाता है। लौकिक काव्य या तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है या परवर्ती भाषा का रूप ग्रहण कर लेता है। अपभ्रंश के साथ ही 'देसिल बचना' (देशी भाषा) भी विकसित हो रही थी। धीरे-धीरे यह देशी भाषा ही जनता की धार्मिक, साँस्कृतिक और आदान-प्रदान की भाषा बन गई। अपभ्रंश सारे हिंदी प्रदेश में पूर्णतयः स्वीकृत भी नहीं हुई थी। ६००—१००० ई० के लगभग राजस्थान के राजपूत राज्यों ने उसे राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। इससे उसकी लोकप्रियता बढ़ी। पूर्ववर्ती काल में विद्वान् अपभ्रंश को हेय समझते थे। धीरे २ उन्होंने उससे

समझौता कर लिया और बाद को उसको शिष्ट जनों की भाषा भी मान लिया। परन्तु ये राजपूत राजाश्रय अधिक दिन तक चल नहीं सके। १२०० ई० के लगभग इनकी परंपरा टूट गई और अपभ्रंश का साहित्यिक विकास रुक गया। अगली दो शताब्दियों में नई भाषाओं ने उसका स्थान ले लिया।

२

हिंदी का आदि काव्य

(क) सिद्धों की कविता : सरहपा और अन्य सिद्ध कवि

सिद्ध-साहित्य का उद्घाटन अभी १५ वर्ष पहले त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने किया है। उनकी खोजों से पता चलता है कि सिद्ध कवि ७०० ई० में वर्तमान थे। सिद्ध-धारा १२०० ई० तक पूर्ण बल के साथ चलती रही। इस धारा में योग देने वाले ८४ सिद्धों के नाम इस प्रकार उल्लखित मिलते हैं—लूहिपा, लीलापा, विरूपा, डौंभिपा, शवरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, विरूपा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कएहपा, कर्णारिपा, थगनपा, नारीपा, शीलपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, आजोगिपा, कालपा, धोम्भीपा, कंकणपा, कमरिपा, डोंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भल्लइपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इंद्रभूति, जालंधरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपकपा,

भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चंवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलापा, (योगिनी), कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, उध-रिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), समुद्रपा, भलिपा। इनमें सरह (सरहपाद या सरहा या सरोजवज्र), शवरि, लूहि, दारिक, वज्रघंटा, जालंधर कण्हपा (कन्हपा) और शांतिपा मुख्य हैं।

सिद्धों का संबंध नालंदा और विक्रमशिला के बौद्ध शिक्षा केन्द्रों से है। ये लोग वज्रसत्व के उपासक थे और इनका साहित्य धार्मिक साहित्य के अंतर्गत आता है। सिद्ध साहित्य मगही में है जो मागधी अपभ्रंश से निकली है। सिद्धों के समय में यह पूर्वी विहार की जनता की भाषा थी। सिद्धों ने प्रचार-कार्य को सामने रखते हुए इसी का उपयोग किया। भोटिया भाषा का एक संग्रह-ग्रंथ 'तंजुर' है। आज हमें जो सिद्ध कविताएँ मिलती हैं, वे इसी भाषा में अनुवाद और प्रतिलिपि के रूप में मिली हैं। इन रचनाओं में साहित्यिकता की मात्रा बहुत कम है। इस खोज के अनुसार हिंदी के प्रथम कवि-लेखक सरहा या सरहपा माने जा सकते हैं जिनका समय राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ७६६ ई० है। समय की दृष्टि से हिंदी-साहित्य की समस्त धाराओं में सिद्ध-साहित्य-धारा सब से प्राचीन है।

समस्या यह है कि आदि युग में जो सिद्ध-साहित्य लिखा

गया वह हिंदी के अंतर्गत है या नहीं। मंत्रयान और वज्रयान की सामग्री अभी पूर्णतः उपलब्ध नहीं हुई है। यह सामग्री ४०० ई० से ८०० ई० तक और ८०० ई० से १२०० ई० तक की है या नहीं, इसकी परीक्षा नहीं हो सकी है। इस ऐतिहासिक कठिनाई के अतिरिक्त दो और कठिनाइयाँ साहित्य-संबंधी हैं। पहली कठिनाई भाषा-संबंधी है। जो उद्धरण उपस्थित किये गये हैं उनकी परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि वे हिंदी के प्राचीन रूप न होकर अपभ्रंश के प्राचीन रूप हैं। यह मागधी अपभ्रंश से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। इनमें संयुक्ताक्षरों का विशेष प्रयोग मिलता है और व्याकरण के रूपों में संयोगात्मकता है। दूसरी कठिनाई भाव-सम्बन्धी है। सिद्ध-साहित्य की रचनाओं में साहित्य के मूल तत्त्व लालित्य (साहित्यिकता) की मात्रा बहुत कम है। वह एकदम धार्मिक साहित्य है। यह अवश्य है कि हमारे साहित्य में धार्मिक साहित्य की प्रधानता है, परन्तु सूर-तुलसी-कबीर आदि का काव्य धार्मिक साहित्य होते हुए भी ललित साहित्य के अंतर्गत आ जाता है। वहाँ भी किसी-किसी कवि के सन्बन्ध में यह कठिनाई अवश्य पड़ती है। परन्तु यहाँ सारे सिद्ध साहित्य के सम्बन्ध में यह कठिनाई उपस्थित है। वह साहित्य है भी ? यदि है तो भाषा की दृष्टि से वह हिंदी के अंतर्गत आता है या अपभ्रंश के ? जब तक अतिरिक्त सामग्री प्राप्त नहीं होती, तब तक ये दोनों प्रश्न बने ही रहेंगे।

उत्तरकालीन बौद्धधर्म में मंत्रयान नाम का एक सम्प्रदाय स्थापित हुआ था। इसका समय ४०० ई० से ७०० ई० तक है। इसमें योग और तंत्र दोनों का समावेश किया गया है। इसके केन्द्र मगध, बंगाल, नैपाल की तराई और पूर्वी हिंदी प्रदेश थे। यह मध्यमार्ग का अनुसरण करता था। न कृच्छ साधना-तप, न भोगवाद। मंत्रयान का ही परिवर्तित रूप या उसका उत्तराधिकारी कहिये बज्रयान है। यह एक प्रकार का बाममार्ग है। मंत्रयान में ही हम मंत्रयोग आदि से परिचित हो जाते हैं। परन्तु इनका विशेष विस्तार बज्रयान में ही मिलता है। मंत्रयान और वज्रयान से सम्बन्ध रखने वाले अनेक सिद्ध हो गये हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वज्रयान, सहजयान, और तंत्रयान महायान की अंतिम शाखाएँ थीं।

वज्रयान में अन्तःसाधना की ओर विशेष बल दिया जाता था। वह अन्तःसाधना बहुत कुछ हठयोग की साधनाओं से मिलती-जुलती है परन्तु उसमें संयम का स्थान इतना नहीं है। वास्तव में वह वामाचार को स्वीकार करती है। हठयोग की तरह वह भी घट (शरीर) को महत्त्व देती है और उसी में निर्वाण (मोक्ष) के महासुख (महासुह) को प्राप्त करने का दावा करती है। इस महासुख के प्राप्त करने पर साधक आवागमन से छुटकारा पा जाता है। वज्रयानी योगमार्गीय बौद्धों में बौद्ध पर ईश्वरत्व की भावना का आरोपण किया गया है। इस प्रकार वज्रयानी सगुणवाद के निकट हैं, परन्तु

साधना के लिये वे निर्गुणवाद को ही स्वीकार करते हैं। सरहपा का कहना है—

जहि मन पवन न सञ्चरइ
रवि-ससि नाह पवेस,
तहि वट चित्त विसाम करु
सरहे करिअ उवेस

यह शून्य देश (सुन्न) है। जहाँ पहुँच कर साधक महासुख की प्राप्ति करता है। इस देश में पहुँचने का मार्ग इड़ा (गंगा) और पिंगला (यमुना) के बीच की सुषुम्ना नाड़ी है।

परन्तु जहाँ पतंजलि का योग (जिससे वज्रयान प्रभावित जान पड़ता है) दक्षिण (ऋजु) मार्ग से चलता है, वहाँ वज्रयान वाममार्ग को प्रश्रय देता है—

उजु रे उजु छड़ि मा लेहु रे बंक।
निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥
(सरह)

और पंचमकारों (१ मानिक २ मदिरा ३ मच्छ ४ मांस ५ मैथुन) के सेवन को साधक के लिये आवश्यक समझता है। साधनाप्राप्त महासुख की अवस्था को स्थिर करने के लिये वारुणी-सेवन को स्वीकार किया। सिद्ध विरूपा ने कहा—

सहजे थिर करि वारुणि साध

गृहिणी के साथ कामकेलि को मंत्र-तंत्र से ऊँचा माना गया है—

एक्क ण किज्जइ मंत्र ण तंत।
णिअ घरणी लइ केलि करंत॥
णिअ घर घरिणी जाब ण मज्जइ।
ताब कि पंचवर्ण विहरिज्जइ॥
(कण्हपा)

निव्बाण का महासुह सहवास के सुख के द्वारा अनुभव एवं पुष्ट किया जाता है। परनारियों विशेषकर नीची जाति की नारियों (डोमिनी, रजकी आदि) को लेकर मद्यपान द्वारा उत्तेजित इंद्रियों के साथ काम-शास्त्र द्वारा प्रतिष्ठित अनेक आसवों का उपभोग करते हुए साधक महासुख की प्राप्ति करे—

नगर बहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोड़ जाउ सो ब्राह्म नाड़िया।
आलो डोंबि ! तोए सम करिब म सांग
(कण्हपा)

गंगा जउँना माझे रे बहइ नाई।
तहि बुड़िलि मातंगि पोइया लीले पार करेइ॥
बाहुत डोंबि, बाहलों डोंबी बाट त भइल उछारा॥
सद्गुरु पाञ पए जाइब पुणु जिणउर॥

साधन-मार्ग में माता, सास, बहिन, पुत्री आदि भी वर्जनीय नहीं समझी जाती थीं। परवर्ती काल में जो परकीया की उपासना चली और जिसने बंगाल की राधा की कल्पना को भी विकृत कर दिया, उसका मूल भी वज्रमार्गीय सिद्धों में ही

मिलता है। सिद्धों की कविता में हम अभिसार के गीत पाते हैं और सास-ननंद की निंदा सुनते हैं—

राग देस मोह लाइअ छार।
परम मोख लवए मुत्तिहार॥
मरिअ सासु नणंद घरे शाली।
माअ मारिया, कण्ह, भइअ कपाली॥

अनहद्नाद की प्राप्ति का भी उपदेश है—

अनह डमरु वाजइ वीर नादे

गुरु का बड़ा महत्त्व है—

काआ नावड़ि मन करि आल। सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥

परन्तु प्रतीक अर्थात् स्त्रीपुरुष के आलिंगन-सुख को वास्तविक रूप में ग्रहण करने (जिमि लोण विलिज्जइ पाणि एहि तिमि घरणी लह चित्त) और कामिक सुख को आध्यात्मिक सुख मान लेने एवं गुह्य की प्रतिष्ठा के कारण वज्रयान कदाचित् अपने समय में ही दूषित एवं निंद्य रहा होगा। इसी से साधना को छिपाने की प्रवृत्ति चली और प्रतीकों का प्रयोग बहुतायत से हुआ। इसके अतिरिक्त उलटवाँसियों का भी जन्म हुआ जैसे—

बेंग संसार वाड़हिल जाम्ब।
दुहिल दूध कि बेंटे समाअ॥
बलद षिआएल गविआ बाँझे
पिय दुहिए एतिना साँझे॥

जान पड़ता है, बहुत समय तक यह साधनापद्धति खुले रूप से जन-समाज के सामने न आ सकी होगी और इसीलिये इसे छिपाने की आवश्यकता समझी गई और इसके लिए "संध्याभाषा" का प्रयोग हुआ एवं मिथ्या रहस्यवाद की सृष्टि हुई।

सिद्ध-साहित्य की धारा जहाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह हमारे साहित्य की आदि धारा है, वहाँ वह परवर्ती-साहित्य-धाराओं और मध्ययुग की धार्मिक चिंता के अध्ययन के लिये भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस धारा के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी साहित्य की मूल शक्ति हिन्दीप्रदेश की जनता की धार्मिक भावना रही है। पहले यह भावना शून्य और फिर निर्गुण ब्रह्म की ओर उन्मुख रही, परन्तु धीरे-धीरे इसकी विरोधी पश्चिमी हिंदी-प्रदेश में प्रगट रूप से बहने वाली सगुण-वैष्णवधारा ने महत्ता प्राप्त कर ली और प्राचीन शास्त्रों और धर्मग्रंथों का सहारा लेकर एक नये प्रकार के साहित्य की सृष्टि की जिसके आश्रय रामकृष्ण थे। यह भी पता चलता है कि संत-धारा की तरह सिद्ध-धारा का रूप भी बड़ा व्यापक था और उसमें अधिकतः निम्नवर्ग के लोग सम्मिलित थे यद्यपि सरहपा जैसे ब्राह्मण, डोंभिपा जैसे क्षत्री भी उसमें दीक्षित थे। शून्यवाद के प्रचार और अन्तस्साधना की अभिव्यक्ति के कारण सिद्ध-साहित्य में प्रतीकों का

प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ और परवर्ती नाथ और संत-साहित्य ने अनेक प्रतीक इसी से लिये।

यही नहीं, सिद्धों ने ही पहली बार आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट करने के लिये प्रकृति के व्यापारों का सहारा लिया। संत-साहित्य में संत अपने भीतर अमृत के बादल बरसते देखता है। उसका हृदय किसी विशेष साधना की सफलता पर बसन्त बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत-साहित्य में अन्तस्साधना को प्राकृतिक व्यापारों की परिभाषा में प्रगट करने की जो चाल थी वह सिद्धों से आती हुई एक प्राचीन परंपरा पर आश्रत थी। इसके अतिरिक्त दोहा-चौपाई और रागों में बँधे हुए पदों की वह परंपरा जो कबीर, तुलसी और कृष्ण-कवियों के काव्य में प्रस्फुटित हुई है, पीछे चलकर सिद्ध कवियों पर ही जा रुकती है। सिद्ध-साहित्य में हमारे परिचित भैरवी, पट-मंजरी, कामोद, राग-रागनियाँ और हमारे अपरिचित द्वेशाख, रामक्री, गवड़ा, वराड़ा, मल्लारी, वज्रगीतिका, शबरी और देवकी जैसी अनेक राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है।

कालक्रम से सिद्धों की कविता सबसे पहले आती है। सरहपा (७६० ई०) हमारे सबसे पहले सिद्ध कवि हैं। इनके अनेक ग्रन्थ मिले हैं। इन ग्रंथों से उनकी प्रगतिशीलता और उनके विचारों का परिचय मिलता है। सिद्ध कवि वर्ण-भेद और ब्राह्मणों की सर्वोपरिता नहीं मानते। वह क्षपणकों

(संन्यासियों) की निंदा करते हैं। धर्म के सारे वाह्याचार उन्हें पसंद नहीं। मंत्र और देवता उनके लिए बेकार हैं। ब्राह्मणों के विरुद्ध सरहपा कहते हैं—'ब्राह्मण भी उसका भेद नहीं जानते। चारों वेद उन्होंने व्यर्थ पढ़े। माटी-पानी-कुश लेकर मंत्र पढ़ते हैं। घर में बैठे अग्नि होमा करते हैं। कड़ुये धुयें में आँख दुखाना व्यर्थ है। हंस (गुरु) उपदेश के बिना वेष मात्र एकदंडी, त्रिदंडी, भगुआ हुआ तो क्या ? ये जगहित को वाह्य मिथ्याचारों में भूल जाते हैं। धर्म-अधर्म इनके लिए सब समान। इनका आचरण यह कि बराबर छार लपेटे रहते हैं। सिर पर जटा-भार। घर के एक कोने में दीप जलाकर घंटा बजाते हैं। आँख बन्द कर आसन लगा कान में खुसपुस-सा कुछ मंद-मंद कहते हैं।[1] नंगे होने से मुक्ति होती तो कुत्ते-सियार मुक्त क्यों नहीं हो

१—ब्रह्मणहि ण जाणन्त हि भेउ। एँवइ पढिअइ ए चउबेउ ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त। घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त ॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमें। अक्खि डहाविअ कडुएँ धूयें ॥
एकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसें। विणुआ होइँअइ हंस उएसें।
मिच्छेहाँ जग वाहिअ भुल्लें। धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्लें ॥
अइरिएहिँ उद्दूलिअ छारे। सीस सु वहिअए जड़ भारे ॥
घरही बइसी दीवा जाली। कोणहिं बइसी घण्डा चाली ॥
अक्खि णिवेसी आसण बन्धी। कण्णेहिं खासखुसाइ जण धन्धी।

जाते। पिच्छि (चोटी) धारण करने से मोक्ष हो तो मोर के भी तो चामर है।[२] तत्त्वरहित काया को तपाना उन्हें पसंद नहीं। चरम सत्ता की प्राप्ति जिसका लक्ष्य है, उसे ध्यान धारणा से क्या ? दीप-नैवेद्य, मंत्र-तंत्र उसके लिए व्यर्थ है। तपोवन जाकर या तीर्थ-स्थान से उसे क्या लाभ होगा ?[३] फिर साधक क्या करे ? सिद्धों का संदेश क्या है ?

सिद्धों की साधना सहजमार्ग की साधना है। ध्यान-धारणा मुद्रा, मंत्र, तंत्र सब व्यर्थ हैं। वह तो ध्यानरहित है, फिर ध्यान किसका ? जो अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन कौन करेगा ? भव-मुद्राओं में तो सारा जगत बह गया।[४] अपने स्वभाव (अंतर्वृत्ति) की साधना किसी ने न की। न मंत्र से कुछ आता-जाता है, न तंत्र से, न ध्यान-धारणा से। रे मूढ़, यह सब विभ्रम के कारण हैं। निर्मल चित्त को ध्यान में

२—यदि नंगाये होइ मुक्ति, तो शुनक-शृगालहि······
पिच्छि गहे देखेउ जो मोक्ष, तो मोरहु चमरहुँ

३—जो जसु जेण होइ सन्तुट्ठो। मोक्ख कि लब्भइ झाण पविट्ठो।
कितन्ह दीवेँ किँ तहणेवेज्जेँ। किन्तह किज्जइ संतह सेब्बे॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाई। मोक्ख किलब्भइ पाणी न्हाई॥

४—झाड़-रहिअ की कीअह झाणेँ। जो अवाअ तहि काह बखाणेँ॥
भव-मुद्दे सअलहि जग बहिअ। णिअ सहाव णउ केण, वि साहिउ॥

मत खेंचो ।[५] सिद्धों का साधन तो सहज है। खाते-पीते, सुख-विहार में, नित्य कर्तव्यों के बीच उसकी साधना हो सकती है।[६] जब मन पूर्ण रूप से निर्मल हो जाय, उसके सारे विकार शून्य हो जायें, तन के मोह के सारे बंधन टूट जाये, सब कुछ समरस हो जाये, न कोई शूद्र है न ब्राह्मण, जब ऐसी अनुभूति हो तब सिद्धधर्म की प्राप्ति हो।[७]

जान पड़ता है सरहपा आदि सिद्धों ने योग आदि कठिन तप-साधना का विरोध किया। हीनयान का काया-कष्ट उन्हें अप्रिय था। चित्त को अपने मौलिक स्वभाव (राग) से हटाना ही उनका लक्ष्य था।[८] और सब साधन उनके लिए टेढ़े थे। उन्होंने सहज साधना का ऋजुमार्ग पकड़ा। यह मन को वीतराग बनाकर स्थितप्रज्ञता प्राप्त

५—मंत तंत ण धेअ ण धारण। सब्ब वि रे बढ़! विब्भम कारण ॥
असमल चित्त म झाणें खरडह। सुह अच्छंत म अप्पणु झगड़ह ॥
६—खाअन्ते पिअन्ते सुहहिं रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का' वि भरन्ते ॥
अइस धम्म सिज्झइ परलोअह। णाह पाए दलीउ भअलोअह ॥
७—सरह भणइ! बढ़! जाणहु चंगे। चित्त रूअ संसारह भंगे ॥
णिअ मण सब्बे सोहिअ जब्बे। गुरु-गुण हिअए णइसइ तब्बे ॥
एवं मणे मुणि सरहे गाहिउ। तंत मंत णउ एक' विं चाहिउ ॥
८—नाद न बिन्दु न रवि-शशि-मंडल। चित्ता राग स्वभावे मुंचल ॥
ऋजु रे ऋजु छांडि ना लेहु बंक। नियरे बोधि न जाहु रे लंक ॥

करने का मार्ग था।[९] उपनिषद् के ऋषियों की तरह उन्होंने कहा—

हाथेइ कंकण मा लेहुँ दर्पण, अपणे आपां बूझहु निअ मण।
(हाथेइ कंकण ना लेहु दर्पण। अपने आपा बूझहु निज मन) इस मन की साधना का सरहपा ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—'माया नाव है, मन खेने वाला। सद्गुरु का उपदेश पतवार। हे नाविक, चित्त को स्थिर कर। और किसी उपाय से पार नहीं जा सकता। हे नाविक, गुणों से इस नौका को खेंच और सहज से मिला जहाँ पहुँच कर न आना है, न जाना। मार्ग में बड़ा भय है। संसार-समुद्र के थपेड़ों से सब कम्पायमान है। तेज स्रोत में बहा कर इस नाव को कूल पर ले जा। सरहपा कहते हैं गगन में यह नाव अन्त में समा जाती है।[१०] काया में मन की अवस्थिति

९—काया-नावड़ी मन केडुवाल। सद्गुरे वचने धरु मतवार॥
चित्तैं थिर करु धरु रे नाई। अन्य उपाये पार न जाई॥
नौवहि नौका टानअ गुणे। निर्मलि सहजे जाउ ण आणे॥
बाटत मअ खान्ट बी बलआ। भव-उल्लौले सब्ब वि बलिआ॥
कूल लई खरे सोन्ते उजाअ। सरहा भणइ गणऎ समाअ॥

१०—एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थ से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चंद दिवाअरु॥
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइँ भमइ परिट्ठओ॥
देहा सरिसअ तित्थ, मइँ सुइ अण्ण ण दिट्ठओ॥

के कारण सरहपा देह को बाधा नहीं मानते। वह कहते हैं—यहीं (इसी देह में) गंगा-जमुना हैं, यहीं गंगासागर; यहीं प्रयाग-वाराणसी, यहीं सूर्य-चन्द्र। क्षेत्रों में घूमा, पीठ-उपपीठ में घूमा, परंतु देह सदृश तीर्थ मैंने कहीं नहीं देखा। काया-तीर्थ में कुल-वर्ण कुछ नहीं रह जाता। ब्रह्मा-विष्णु और त्रिलोक इसी क्षेत्र में समाये हैं। जैसे सब बाहर हैं, वैसे सब अंतर में हैं। चौदह भुवनों का स्थान भीतर भी निरंतर रहता है। शरीर में जो अशरीरी छिपा हुआ है, उसे जानकर बंधन से छूटा जाता है।[११]

सरहपा भव-निर्वाण, कर्म-अकर्म इत्यादि दार्शनिक वाद-विवादों में नहीं पड़ना चाहते। वह रसायनवादी नहीं हैं। जो जन्म-मरण को भिन्न मानता हो, वह स्वर्ण-रसायन की आकांक्षा करे। जन्म से कर्म हैं या कर्म से जन्म है, यह सब उनके लिए अचिंत्य विषय हैं।[१२] इस संसार को वे तुलसी की तरह अद्भुत मानते हैं। जिस प्रकार जल का बिंब जल से भिन्न नहीं हैं, उस प्रकार यह जग शून्य से अभिन्न है।[१३] इस प्रकार अद्वैतवाद उन्हें मान्य जान पड़ता है। शंकर ने शून्य के स्थान

११—जिमि बाहर तिमि अभ्यंतर। चौदह भुवने थितउ निरंतर।
असरिर काहे सरीरहि लुक्को। जो तहि जाणइ सो तहि मुक्को।

१२—जाये काम कि कामे जाम। सरह भणइ अचिंत सो धाम॥

१३—अण्ण तरंग कि अण्ण जलु, भव-सम खसम सरूअ॥

पर ब्रह्म-मात्र रख दिया है। सरहपा इस शून्य को बुद्ध भी कहते हैं। सरहपा ने इस शून्य की अनुभूति को निर्वाण-प्राप्ति कहा है। वास्तव में यह निस्तरंग, निर्गुण, निष्कलंक की अनुभूति है। इसे पाना सरल नहीं है। यह अनुभूति

१ स्वसंवेद्य या स्वकसंवित्ती है

२ अद्वय स्थिति है (नोन जिमी पानिहीं विलिज्जइ)

३ इससे जिस आनंद की प्राप्ति होती है, वह कहने की चीज़ नहीं है। न गुरु उसे बता सकता है, न शिष्य उसे पूछ सकता है।

४ इस देह में ही उसकी अनुभूति प्राप्त हो सकती है (देहहिं बुद्ध बंसत न जानैं)

५ इस अनुभूति के प्राप्त होने पर आवागमन जाता रहता है।

६ इसके बाद मन विषयों की ओर नहीं जाता। केवल शून्य में विचरता रहता है। जैसे जहाज़ का पक्षी। संसार के सारे रहस्यवादियों ने इस प्रकार की चरम सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति के वर्णन किये हैं।

शून्य की यह साधना लगभग उसी तरह की रहस्यवादी साधना थी जिस तरह कबीर की साधना। साधारण लोकजीवन से इस साधना का मेल होना कठिन था। इसी से इसमें अनेक प्रकार की विचित्रता थी। सिद्ध विचित्र भेष-भूषा बनाये रहते। उनके खान-पान भी अद्भुत रहते। प्रत्येक सिद्ध ने अपनी

साधना के लिए किसी प्रतीक को चुन लिया था। कालांतर में यह प्रतीक निरर्थक वस्तु मात्र रह गया। प्रयाग के 'संग्रहालय' में ८४ सिद्धों के चित्र अंकित हैं। इससे इनकी विचित्र 'रहनि' पर प्रकाश पड़ता है। वह युग चमत्कारों का युग था। इसीलिए प्रत्येक सिद्ध का अनेक चमत्कारों से संबंध हो गया। आज हम इन सिद्धसाधकों का ठीक-ठीक महत्त्व नहीं जानते। परन्तु शंकराचार्य और उनके मायावाद की पृष्ठभूमि में रखने से उनकी महत्ता प्रगट होती है। वास्तव में शंकराचार्य ने वही कहा है जो इन सिद्धों ने कहा। बुद्ध शंकर के ब्रह्म बन गये। शून्यवाद ब्रह्मवाद हो गया। अंतर केवल इतना है। यह स्पष्ट है कि सिद्धों की भावना औपनैषदिक भावना से मिलती-जुलती है। मध्ययुग के निर्गुण काव्य में जिस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं उसका मूल स्रोत सिद्धों का काव्य ही जान पड़ता है।

सिद्धों के प्रति साधारण धारणा यह है कि उन्होंने व्यभिचार का प्रचार किया और पंचमकारों को प्रमुखता देकर वाम-मार्ग को प्रश्रय दिया। जहाँ तक पंचमकारों का संबंध है, यह स्पष्ट है कि उनका प्रयोग प्रतीक के रूप में हुआ है। रति-भाव का वर्णन भी रहस्यवादियों की परंपरा के अनुरूप प्रतीक-रूप में ही है। धीरे-धीरे सिद्धसाधना में प्रतीकों की बाढ़ आ गई। सिद्धों की एक अपनी ही भाषा बन गई। इसे संध्या भाषा कहा गया है। गोरखनाथ और कबीर में जिन उलटबाँसियों के गोरखधंधे हम सुलझाते हैं उनका श्रीगणेश इन्हीं सिद्धों के

काव्य से होता है। भुसुकपा (शांतिदेव, ८०० ई०) कहते हैं—

निशि अँधियारी मूसा करै सँचारा।
अमृतभक्ष्य मूसा करै अहारा॥
मारु रे जोगिया ! मूसा पवना। जासे टूटै अवना-गवना॥

यहाँ पवन (श्वास-प्रश्वास) मूसा है। सिद्ध शांतिदेव योग की कुंडलिनी की साधना को स्वीकार कर रहे हैं, यह स्पष्ट है। सरहपा ने कुंडलिनी-योग को अधिक महत्त्व नहीं दिया, परन्तु धीरे-धीरे कुंडलिनी की सारी साधना सिद्धकाव्य में स्थान पा गई। इस साधना के प्रतीकों से परवर्ती सिद्धसाहित्य भरा पड़ा है। 'माया'-रूपी हरिनी को बध करने का उल्लेख भी हम बार-बार पाते हैं। भुसुकपा कहते हैं —

यदि तुम भूसुकु अहेरे जइबा, मरिहो पाँच जना॥
नलिनी-बन पइठन्ते, होइहो एक मना॥
जीवित न हनिहा मरल न हनिहा।
न बिनु माँस भूसुक पदुम बन पइठिहा॥
माया-जाल पसारी बधिहा माया-हरिनी।
सद्गुरु बोधे बुझि रे कासु (एहु) कहनी॥

गंगा-यमुना के मध्य (सुषुम्ना के बीच) चलने का भी आग्रह दिखाई पड़ता है—

गंगा-यमुना माँझे चलै नाई।
तहँ बूड़ल मातंगी पुतिया लीलैं पार करेई॥
(डोम्बिपा, ८४० ई०)

डोम्बी (सुरति = चित्त-एकाग्रता) के गीत गाये जाते हैं—

नगर-बाहिरे डोम्बी तोहर कुटिका ।
छुइ-छुइ जाइ सो वाभन लड़िका ॥
अरे डोम्बी तोरे साथ करब न संग ।
निर्घृण काण्ह कपाल-जोगि जंग ॥
एकउ पहुम चौंसठ पाँखुरी ।
तहँ चढ़ि नाचै डोम्बि वापुरी ॥
(कण्हपा ८४०)

कालांतर में सिद्धों में वाममार्ग का प्रवेश हो गया। प्रतीक भुला दिये गये। निम्न जाति की स्त्रियों को लेकर काम-साधना को धार्मिक रूप दिया गया। १००० ई० तक आते-आते सिद्ध मत पर्याप्त मात्रा में विकृत हो चुका था। धर्म में जहाँ गुह्य (गोपन) की भावना आई, वहाँ अंत में यही होता है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मूल रूप में सिद्ध मत वामाचार से अभिन्न था। सच तो यह है कि सिद्धों ने महायान को अत्यंत सहज, अत्यंत स्वाभाविक बना दिया था। यह मंत्र तंत्रवाद से भिन्न, केवल-मात्र आत्मशुद्धि पर निर्भर उस समय का लोकमत था। देह में बुद्ध (निब्बाण = शून्य) की प्राप्ति की कुंडलिनी की साधना भी इन सिद्धों को स्वीकृत थी। परन्तु उनके बुद्ध निर्गुण ब्रह्म से कम-अधिक कुछ भी नहीं हैं। इन सिद्धों ने शंकर के मायावाद के लिए भूमि तैयार की। आज कई शताब्दियों बाद भी मायावाद पर साधारण जनता की आस्था है—यह सिद्धों के कारण ही

है। वही इस मायावाद के आदि प्रवर्तक थे। उन्होंने जिन उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया, वह शंकर जैसे प्रकांड विद्वानों द्वारा प्रयुक्त हुईं। निश्चित है कि अद्वैतवाद के पीछे सहज के उपासक सिद्धों के चिंतन की कई शताब्दियाँ हैं।

सिद्धों की कविता में जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, वह है उनका रहस्यवाद। वैसे तो रहस्यवादसंबंधी साहित्य लगभग सभी सिद्ध कवियों में मिलेगा, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं सरहपा (७६० ई०), शबरपा (७८० ई०), भुसुकपा (८००), लुईपा (८३० ई०), विरूपा (८३०), डोम्बिपा (८४० ई०), दारिकपा (८४० ई०), गुंडरीपा (८४० ई०), टेंटणपा (८५० ई०), महीपा (८७० ई०), भादेपा (८७० ई०), धामपा (८७० ई०), तिलोपा (९५०, ई०) और शांतिपा (१००० ई०)। इस प्रकार हम रहस्यवाद की इस धारा को ७५० ई० से १००० ई० तक अविच्छिन्न रूप से चलता पाते हैं। इस रहस्यवादी साधना का लक्ष्य है निब्बाण (निर्वाण) का महासुख। जिस अनिर्वचनीय आनंद में साधक की मुक्ति है, उसे सरहपा ने धम्म-महासुह (धर्म-महासुख) और सहजामिअ (सहजामृत) कहा है। उनका कहना है कि यह सहजामृत सारे संसार को आप्लावित किये है, यह गूंगे का गुड़ है। जो इसे जान जाता है, वह निर्द्वन्द हो जाता है। साधना की चरम सीमा यही है कि साधक इस महान् सुख में इस तरह प्रविष्ट हो जाय जैसे नमक पानी में घुल जाता है। इस 'महासुह' (महासुख) की

प्राप्ति के लिए सरहपा 'सहजमार्ग' का आयोजन करते हैं। वे कहते हैं—

मंत्र न तंत्र न ध्येय न धारण। सर्वहु मूढ़ रे ! विभ्रम कारण (मंत्र-तंत्र, ध्यान-धारणा, ये सब भ्रम उपजाते हैं। इसके लिये तो अपने आपको जानना है।) सरहपा कहते हैं—

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ
अन्धाँ अन्ध कढ़ाव तिम, वेण्ण वि कूप पडेइ
[जब लौं आप न जानिये, तब लौं सिख न करेइ
अन्धा काढ़े अंध तिमि दोउहिं कूप पड़ेइ]

रहस्यवाद की सारी धाराओं में गुरु का महत्त्व तो है परन्तु विशेष बल शिष्य की अंतर्साधना पर ही दिया गया है। फिर भी गुरु की आवश्यकता तो है ही। इसी से सरहपा का कथन है—

काअ नावडि खान्टि मणु केडुआल। सद्गुरे वअणे धर पतवाल
चीअ थिर करि धाहु रे भाई। अन्य उपाये पार न जाई

(यह काया ही नाव है, मन पतवार है। गुरु के वचन से शिष्य हाथ में पतवार लेता है। चित्त स्थिर होने पर ही नाव का संचालन संभव है। अन्य किसी उपाय से पार जाना संभव नहीं है। ये बौद्ध रहस्यवादी कवि हठयोग की कठिन साधना को उपादेय नहीं मानते। इसी से उन्होंने 'नाद, विंदु, रविशशि-मण्डल' इत्यादि की भर्त्सना करके चित्त की सहज भाव की

साधना को अधिक श्रेय दिया है। हठयोग को वे 'बंक' (बाम) मार्ग कहते हैं, उनके लिये 'सहज साधना ऋजु' मार्ग है—

नाद न बिंदु न रविशशिमंडल। चित्ता राग स्वभावे मुञ्चल
ऋजु रे ऋजु छाड़ि ना लेहु बंक। नियरे बोधि त जाहु रे लंक
हाथेहू कंकण ना लेहु दर्पण। अपने आपा बूझहु निज मन
पारे बारे बारे सो' रह सादई। दुर्जन संगे अवसर जाई
बाम दहिन सो खाल-विखाला। सरह भनै बाँप ऋजु बारे भइला

([उस रहस्यवादी अनुभव में] न नाद जान पड़ता है, न बिंदु, न रवि शशि-मण्डल। चित्त राग से मुक्त हो जाता है। यही सीधा मार्ग है। इसे ही पकड़ो। दूर लंका जाने की कोई आवश्यकता नहीं। पास देह के भीतर ही इसका अनुभव संभव है। हाथ के दर्पण की भी आवश्यकता इसमें नहीं. इतना स्वसंवेद्य यह अनुभव है। अपने मन में ही उसकी प्रतिच्छवि पड़ती है। इस आत्मदर्शन के सीधे मार्ग से पार जाना होता है। अन्य मार्ग साधकों के मार्ग नहीं। इनसे व्यर्थ का समय नष्ट होता है। सरह कहते हैं, सीधे मार्ग से चलो, बायें-दाहने जाने में भय है।) रहस्यवादी गूढ़ चिंतन में उलझना नहीं चाहता। वह तो सार तत्त्व को पकड़ लेता है। यह सहजमार्ग सारतत्त्व ही है। जन्म-मरण जैसे प्रश्नों पर वह विचार ही नहीं करता—

अपने रचि-रचि भवनिर्वाणा। मिथ्यै लोक बँधावै अपना॥
मैं ना जानहुँ अचिन्त्य योगी। जन्म-मरण भव कैसन होई॥

जैसो जन्म मरणहु तैसो । जीवन मरणे नाहिं विशेषो ॥
जो यह जन्म-मरण वी शंका । सो कर स्वर्ण रसायन कांछा ॥
सो सचराचर त्रिदिश भ्रमन्ति । ते अजरामर किमि ना होन्ति ॥
जन्महिं कर्म कि कर्महिं जन्म । सरह भनैं अचिंत सो धर्म ॥

(अपने मन में ही अनेक प्रकार के भावों अर्थात् संसारों का बंधन गढ़ता है । लोक मिथ्या में बँध गया है । हे योगी, जब उस अज्ञात की बात ही अचिंतन्य है, तो जन्म-मरण कैसा, संसार कैसा ? जैसा जन्म, वैसा मरण । दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं । जिन्हें इनके अभेदत्व में विश्वास ही नहीं, वह 'रसायन' सीख कर स्वर्ण की आकांक्षा करते हैं । वे तीनों दिशाओं में घूमते रहते हैं । वे अजर-अमर कैसे हो सकते हैं । जन्म से कर्मों के बध बनते हैं, या कर्मों से जन्म होता है, 'सरह' के लिए यह अचिंत्य है ।) सिद्धों ने जहाँ दर्शनवाद को अनुपयोगी बताया, पाखंडों का खंडन किया, वहाँ उन्होंने आसक्ति और त्याग के बीच का एक मार्ग भी खोज निकाला । "जो योगी विषय-रस का रमण तो करता है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं होता, जैसे पद्म-पत्र पानी में भीगता नहीं, ऐसा योगी ही मूल को समझता है । जिसकी आँखें निर्निमेष (ध्यानयुक्त) हैं, चित्त निरोध में और मन पवन में स्थित है, उसका काल क्या करेगा ? जिसने आवागमन (जन्म-मरण) के चक्र को खंडित नहीं किया, जो यह नहीं जानता कि बुद्ध का निवास देह में है, वह निर्लज्ज है यदि अपने को पंडित कहता है—

विषय रमन्त न विषय विलंपै। पदुम हरय ना पानी भीजै ॥
ऐसेहि योगी मूल बुझन्तो। विषय बहे न विषय रमन्तो ॥
अनिमिष लोचन चित्त निरोधे। पवन निरोधै श्री गुरु बोधे ॥
पवन बहै सो निश्चल जब्बै। योगी काल करै कि रे तब्बै ॥
पंडित सकल शास्त्र वक्खानै। देहहिं बुद्ध बसंत न जानै ॥
अवना-गमन न तेहिं विखंडित। तोपि निलज्ज भणै हौं पंडित ॥

सरहपा की अनेक युक्तियाँ निर्गुण संत की युक्तियों से मेल खाती हैं। उनका 'शून्य' ही संतों का 'सुन्नमहल' है। आदर्श साधक है वह जो

विषय विसुद्धै ना रमै, केवल शून्य चरेइ
उंडिया बोहित-काक-जिमि, पलटिअ तहंहि पड़ेइ

इस 'शून्य' में अवस्थित होकर मन जिस स्थिति को प्राप्त होता है, उसका वर्णन सरहपा ने यों किया है—

जहँवाँ चित्ता विस्फुरै, तहँवै नाहिं स्वरूप
अन्य तरंग कि अन्य जल, भव-सम ख-सम स्वरूप

जल और तरंग जिस तरह एक तत्त्व हैं, सृष्टि और आकाश तत्त्व जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार साधक के मन और 'बुद्ध' 'शून्य' अथवा परोक्ष सत्ता की यही अभिन्न दशा होती है। यही हिंदू दार्शनिकों की "अद्वैतस्थिति" है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सिद्धों की साधना रहस्यमूलक अद्वैतभाव की साधना थी। बुद्ध, शून्य या ब्रह्म या

कबीर के 'राम' में नाम-भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। अद्वैतस्थिति में पहुँच कर साधक की जो अनिर्वचनीय सौख्य की दशा होती है, उसका वर्णन सब जगह एक ही प्रकार का है। दारिकपा (८४० ई०) के एक पद से वज्रयानी रहस्य-वाद की कुछ मूल प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है—

शून्य करुणा अभिन्न काय-वाक्-चित्ते
बिलसै दारिक गगन तें पारिमकूले
अलख लखै चित्ता महासुखे
बिलसै दारिक गगन तैं पारिमकूले
की तोर मंत्रे की तोर तंत्रे की तोर बखाने
आप पईठा महासुख लीले दुलंख परम निवाणे
दुःख-सुख एक मकरी-मक्षौ इन्द्रजाली
स्वर-परापर न चीहै दारिक सकल अनुत्तर मानी

मनसा-वचसा-कर्मसा करुणा और शून्य का अहर्निशि विलास साधक को प्रज्ञापारमिता अथवा बुद्ध तक ले जाता है। यह प्रज्ञापारमिता या बुद्ध साकार नहीं है। साधक के भीतर ही इनकी अवस्थिति है। वे 'अलख' (निर्गुण) हैं। इसी अलक्ष्य या निर्गुण की साधना में साधक अपने चित्त में महासुख की प्राप्ति कर लेता है, तो परम निर्वाण की भी उसे चाह नहीं रहती। वह साधन-निरापेक्ष हो जाता है। तंत्र-मंत्र-ध्यान-धारणा सब उसके लिये अनुपादेय हो जाते हैं। सिद्ध गुंडरिपा

(८४० ई०) इस सिद्ध-स्थिति को 'जोगिनी' कहकर इसके लिए बिलखते हैं—

तिमड़ा चाँपि जोगिन दे अँक्वारी। कमल कुलिश घोंटि करहु वियाली
जोगिनी तोहि बिनु क्षणहु न जीयों। तव मुख चूमि कमलरस पीवौं

(जोगिनी को हृदय से लगा कर अँकवारी देना चहता हूँ। न सहज साधन चाहिये, न कठोर कृच्छ्र तप। हे जोगिनी, मैं एक क्षण भी तेरे बिना नहीं रह सकता। मैं भ्रमरवत् तेरे कमलवत् मुख का रसपान करना चाहता हूँ।) यह कमल-कुलिश का संकेत साधना की सहजावस्था की ओर है। सहजमार्ग के संबंध में कण्हपा (८४० ई०) कहते हैं—

निस्तरंग सब सहज रूप, सकल कलुष-विरहिए
पाप-पुण्य-रहित किछु नाहि, काण्हे फुर कहिए
बाहर निकालिय शून्याशून्य प्रविष्ट
शून्याशून्य दोउ मध्ये, मूढ़ा! किछुअ न दृष्ट
सहज एक पर अहै तहँ फुर काण्ह पटि-जानैं
शास्त्रागम बहु पढ़ै सुनै मूढ़! किछुअ न जानै
अधौ न जाइ ऊर्ध्व न जाइ। द्वैतरहित तासु निश्चल ठाइ॥
भनै काण्ह मन कैसहु न फूटै। निश्चल पवन धरनी घरे बाटै॥

× × ×

सहजे निश्चल जेहिं किय, समरस निज मन-राग
सिद्धा सो पुनि तत्क्षणे, न जरामरणहँ भाग

(सहज-रूप सागर तरंग-रहित है, वहाँ जरा भी कलुष नहीं है।

कण्हपा कहता है – पापपुण्यरहित कुछ भी नहीं है। तू शून्य में प्रवेश करना चाहता है, परंतु शून्याशून्य के बीच में जो 'सहज' मार्ग है, उसे तू नहीं देखता। इस सहजशून्य की साधना को कण्हपा ही जानता है। हे मूढ़! शास्त्रागम के पढ़ने से इस संबंध में क्या जाना जा सकता है? न ऊर्ध्व जाना है, न अधः-गमन है। द्वैतरहित उस साधक की स्थिति है। तब मन निश्चल होकर अपने को ही देखने लगता है। जिसने अपना मन सहज-समरस किया है, वह सिद्ध है, उसे जन्म-मरण की बाधा नहीं।) वास्तव में शंकराद्वैत की अनेक मान्यताएँ सिद्धों के काव्य में मिल जाती हैं। बौद्धों का 'निर्वाण' ही अद्वैतवादियों का 'ब्रह्म' बन गया है। कण्हपा कहते हैं—

निश्चल निर्विकल्प निर्विकार
उदय-अस्तमन-रहित सुसार
ऐसो सो निर्वाण भनिज्जै
जहँ मन-मानस कछुअ न किज्जै

(वह निश्चल है, निर्विकल्प है, निर्विकार है; उदय-अस्त उसे नहीं। जो ऐसा है, उसे ही निर्वाण कहा जा सकता है। वहाँ तक पहुँच कर मन को कुछ करना नहीं रह जाता, वह निष्क्रिय बन जाता है।)

सिद्ध रहस्यवादीधारा १००० ई० तक बलवती रूप से चलती दिखलाई देती है। उसमें अनेक नई बातों का समावेश

हो गया है, परंतु मूल भावनाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। तिलोपा (६६० ई०) और शांतिपा (१००० ई०) की रचनाओं से इस कथन की पुष्टि होती है। तिलोपा तीर्थ-देव-सेवा को व्यर्थ बताते हैं—

तीर्थ तपोवन न करहु सेवा। देह शुची न होवै पापा ॥
ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर देवा। बोधिसत्व ना काहु रे सेवा ॥
देव न पूजहु तीर्थ न जावा। देव पूजतें मोक्ष न पावा ॥
बुद्ध अराधहु अ-विकल चित्ते। भव-निर्वाण न करहु स्थित्वे ॥

यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव और बोधिसत्व की पूजा का स्पष्ट उल्लेख है। कवि इनसे ऊपर उठ कर 'बुद्ध' की आराधना का उपदेश देता है। यह बुद्ध बोधिसत्व से बड़े हैं। वे निर्गुण, 'राम' या शांकराद्वैत के 'ब्रह्मपर' के साम्यवाची हैं। इन्हें ही तिलोपा ने अन्य स्थान पर 'शून्य निरंजन' कहा है। जिस प्रकार 'ब्रह्मास्मि' कहता हुआ वेदांती जीव-ब्रह्म की अद्वैत-स्थिति का अनुभव करता था, उसी प्रकार तिलोपा कहते हैं—

हौं जग हौं बुद्ध हौं निरंजन। हौं अ-मनसिकार भवभंजन ॥
मन भगवान ख-सम भगवती। दिवारात्रि सरजे रहई ॥

× × ×

हौं शून्य जग शून्य त्रिभुवन शून्य
निर्मल सहजे न पाप न पुण्य

हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग में उपनिषदों के समय से रहस्यवाद

की एक धारा चली आ रही थी। कालांतर में इस धारा में योग, शाक्त और कापालिक अनेक रहस्यवादी धाराओं का योग हुआ। महायान में इन सब धाराओं की अनेक प्रवृत्तियों का मिश्रण स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इस मिश्रण के फल-स्वरूप मंत्रयान और वज्रयान की स्थापना हुई। 'बुद्ध' बोधि-सत्व से ऊपर हो गये। काया (देह) में उनका निवास माना जाने लगा। देहवासी बुद्ध के अपनी (स्वकीय) अनुभूति द्वारा प्राप्त करना इस साधना का ध्येय था। जीवब्रह्म की अद्वैतस्थिति की प्राप्ति होने पर 'निर्वाण' या 'महासुख' इस साधना का लक्ष्य था। इस रहस्यवादी साधना की अनेक बातें आज बुद्धिगम्य नहीं। उसके प्रतीकों की आज कोई परम्परा शेष नहीं रह गई। परंतु इसका ऐतिहासिक महत्त्व आज भी बड़ा है। नाथ और निरंजन धारा के रूप में हम इसी धारा को चलता पाते हैं। निरंजन भावधारा बौद्ध रहस्यवादी धारा के अधिक निकट है। नाथधारा पर शैवाद्वैत, हठयोग और उपनिषदों के आत्मवाद का अधिक प्रभाव है। उपनिषदों का नया रूपांतर हमें विशेष रूप से संत-धारा में मिलता है।

(ख) 'नाथों' की कविता—जोगेसुरी बाणी

सिद्धपंथ के वामाचारों की प्रतिक्रिया के रूप में उसी के अंतर्गत एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा जान पड़ता है जिसने उसमें सुधार की चेष्टा की। कदाचित् यह सुधारकवर्ग सफल नहीं हुआ, अतः उसने सिद्धों से संबंध-विच्छेद कर लिया और शैव-

वत का अनुयायी हो गया। इस प्रकार नागपंथ या नाथपंथ का जन्म हुआ जो विचारधारा की दृष्टि से हिंदूधर्म के भीतर आता है।

नाथ-पंथ के आदि गुरु आदिनाथ अर्थात् भागवान शंकर माने जाते हैं परन्तु लौकिकरूप से इसके प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ-(मछंदरनाथ) थे। यद्यपि इस पंथ को ठीक-ठीक स्वरूप देने का श्रेय उनके शिष्य गोरखनाथ को ही होगा। एक धारणा यह है कि गोरखनाथ ने ही वज्रयान में विशेष सुधार किया। उन्होंने वेद-विहित असंयत वामाचारों को निंद्य बताया और शंकराद्वैत और पतंजलि के योग का आश्रय लिया। ८४ सिद्धों में गोरखनाथ का भी स्थान है। गोरखनाथ ने बुद्ध के स्थान पर शिव को रखा और हठयोग के द्वारा उनकी प्राप्ति संभव कही। परन्तु वह शिव के साथ शक्ति की भावना को अलग नहीं कर सके, इसलिये उन्हें भी शृंगार को प्रतीक बना कर उपस्थित करना पड़ा। परन्तु फिर भी उनका पंथ दक्षिण-मार्ग पर चलता था और शास्त्रसम्मत था।

नाथपंथ का अध्ययन करने पर वह सिद्धपंथ की परंपरा ही जान पड़ता है। परन्तु उनका रूप बौद्धमत से मिलता-जुलता रहने पर भी शैव ही अधिक है। कथा प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे, बाद में शैव हो गये। नाथपंथ १० वीं-११ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी के अन्त तक प्रमुख रहा यद्यपि मुसलमान लेखक नाथों (जोगियों) का अस्तित्व बलख़-बुख़ारा

तक बतलाते हैं और सारे भारत में दंतथाओं, लोकगीतों, मठों और टीलों के रूप में इनके अवशेष चिह्न मिलते हैं।

गोरखनाथ सिद्ध-संप्रदाय के अन्तर्गत योगधारा के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इनकी निश्चित तिथि का निर्देश विवादग्रस्त है।[14] यही नहीं, वह किस शताब्दी में हुए, इस विषय में भी मतभेद कम नहीं है। डा० बड़थ्वाल[15] इनका समय ११ वीं शताब्दी मानते हैं, डा० मोहनसिंह ६-१०[16] वीं और डा० रामकुमार वर्मा[17] १३ वीं शताब्दी का मध्य भाग। जार्ज डबल्यू ब्रिग्ज़ का कहना है कि गोरखनाथ का समय १००० ई० से पीछे रहा होगा,[18] कदाचित् वे ११ वीं शताब्दी में रहे हों। अधिकांश विद्वान् १२ वीं शताब्दी मानकर इन मतों में सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहते हैं। एक मत यह भी है कि गोरखनाथ का समय ८ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक कहीं होगा क्योंकि इसी बीच में बौद्धमत

१४—गोरखनाथ का समय ('हिन्दुस्तानी, जनवरी, १६३०)

१५—दि निर्गुन स्कूल ऑव हिंदी पोइटरी, पृ० २३६

१६—गोरखनाथ एंड मेडिवल मिस्टिसिज़्म, पृ० २१

१७—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३५

१८—'गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज़' (जार्ज डबल्यू ब्रिग्ज़) पृ० २५० । ब्रिग्ज़ ने परंपराओं और रूढ़ कथाओं के विस्तृत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है।

की अवनति और शैवमत की उन्नति हुई।[१९] यह निश्चित है कि १४०० ई० के पहले ये वर्तमान थे। इस विषय में प्रायः सभी विद्वान् निर्विवाद हैं।

गोरखनाथ के जन्मस्थान के संबंध में भी बड़ा मतभेद है। मि० ब्रिग्ज़ उनका जन्मस्थान पूर्व बंगाल मानते हैं[२०] परन्तु जनश्रुतियाँ नैपाल और गोरखपुर[२१] को यह श्रेय देती हैं। वैसे वे भारत के प्रत्येक स्थान में कभी न कभी पहुँचे मालूम होते हैं। वास्तव में नाथपंथी बड़े पर्यटनशील थे। वह जहाँ गये, वहाँ अलौकिक चमत्कारों की गाथाएँ लेते गये। उन्होंने ही संत-विचारधारा की भूमिका तैयार की।

१९—शंकराचार्य का समय ७८८ ई०—८५० ई० है। इन्होंने ही बौद्धमत के ऊपर शैवमत की दार्शनिक महत्ता स्थापित की। शैवों और बौद्धों का विरोध दक्षिण में एक शताब्दी पहले ही आरंभ हो गया था। वहाँ से यह उत्तर में आया।

२०— ब्रिग्ज़, पृ० २५०

२१— डा० एस० के० चटर्जी, Mr. C. R. stulpnagel, सर-जार्ज ग्रियर्सन और टेसीटरी गोरखनाथ का जन्मस्थान पंजाब के किसी स्थान पर मानते हैं (डा० मोहनसिंह की पुस्तक देखिए, पृ० २२)। डा० मोहनसिंह ने रावलपिंडी जिले के एक गाँव गोरखपुर का उल्लेख किया है। वे स्वयम् गोरख का जन्मस्थान पेशावर के आसपास मानते हैं (वही, पृ० वही)।

गोरखनाथ ने पच्चीस संस्कृत ग्रंथ और तीन भाषाग्रंथ लिखे। संस्कृत ग्रंथों में 'गोरक्षशतक' विशेष महत्त्वपूर्ण है। भाषा-ग्रंथों में केवल एक ही उपलब्ध हुआ है। यही एक प्रकाशित ग्रंथ है। इस ग्रंथ का निर्माणकाल आचार्य शुक्ल जी ने १३५० लिखा है किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है कि लिपिकाल १७६८ है। इससे पूर्व की लिखी पुस्तकें उन्हें नहीं मिलीं। डा० मोहनसिंह ने १७०१ की पोथी के आधार पर इस ग्रंथ का संपादन किया है। समस्या यह है कि यह उपलब्ध सामग्री मूल है अथवा मौखिक रूप से हम तक आई है। इस विचार से भाव और विषय की दृष्टि से गोरखनाथ के ग्रंथों की परिस्थिति बहुत संदिग्ध और भ्रामक है। इन ग्रंथों की भाषा पंजाबी, राजस्थानी और पूर्वी मिली प्राचीन खड़ी बोली है। इसे हिन्दवी कहा जा सकता है। कुछ लोग इसे संतभाषा भी कहते हैं। मिश्रबन्धुओं ने इनकी भाषा के उद्धरण दिये हैं, परन्तु ये उद्धरण संदिग्ध हैं। इनके आधार पर उन्होंने गोरखनाथ को हिंदी का प्रथम गद्य-लेखक कहा है। यह अपर्याप्त प्रमाणों के होते हुए अनुचित है। गोरखनाथ के सिद्धान्तों के विषय में भी मतभेद है। राहुल जी का मत है कि वह मंत्रयान (वज्रयान?) शाखा के ही एक आचार्य थे।[२२] कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने बौद्ध-विचार-

---

२२—मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध (गंगा का पुरातत्त्वांक, पृ० २२१)

धारा का शैव-विचारधारा से योग स्थापित किया। मि० ब्रिग्ज़ का कहना है—'जान पड़ता है कि गोरखनाथ आरम्भ में वज्रा-यण बौद्ध थे, जिन्हें मत्स्येन्द्रनाथ ने शैवमत में दीक्षित किया।"[२३] डा० मोहनसिंह के अनुसार गोरखनाथ के विचार उपनिषद् के अधिक निकट हैं। सहज समाधि के द्वारा शब्द अथवा ज्योति की प्राप्ति उनका लक्ष्य है। वे उन्हें अवधूत या योगी कहते हैं।[२४] यह मतभेद स्वाभाविक है क्योंकि गोरखनाथ के सब ग्रंथ हमारे सामने नहीं हैं। जो हैं, वे भी संदिग्ध हैं।

नाथपंथ के आदि प्रवर्तक आदिनाथ (शिव) हैं। इनके शिष्य मत्स्येन्द्र हैं। इनके कितने ही शिष्य हुए जिन्होंने अपनी विद्वता और व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा योग के नये नाथ संप्रदाय रूप को सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित किया। इनमें सबसे प्रधान गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) थे। गोरखनाथ के भी अनेक शिष्य थे जिनमें बालानाथ, हालीकपाव (हाड़िपा) या जालन्धरनाथ, मालीपाव, मैनावती और गाहिनीनाथ मुख्य हैं। यह मयनावती बंगाल के प्रसिद्ध राजा गोपीचन्द्र की माता थीं। जालन्धरनाथ के सबसे प्रसिद्ध शिष्य राजा भरथरी (भर्तृहरि) हुए। गाहिनीनाथ के शिष्य ज्ञान नाथ (ज्ञानेश्वर) थे जिनका समय १३ वीं शताब्दी है।

२३—ब्रिग्ज़, पृ० २२६

२४—गोरखनाथ एंड मेडिवल मिस्टिसिज़्म, पृ० २५-३०

नाथपंथ का हठयोग

नाथ-पंथ में हठयोग को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। साथ ही उसमें सिद्धों के 'सुन्न' और अनहद नाद का भी महत्त्व था। 'सुन्न' (शून्य) का महत्त्व महायान में भी कम नहीं था। वज्रयानियों ने सुन्न को ही विश्व का मूल तत्त्व माना। नाथपंथ में भी 'निरञ्जन', 'अखिल निरञ्जन', 'अलख निरञ्जन', 'सुन्न' आदि नामों से उसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा।

पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए लिखा है—'योग: कर्मसु कोशलम्'। इससे पता चलता है कि पतंजलि के समय में योग कर्ममार्ग का साधन माना जाता था और उसका महत्त्व इतना हो गया था कि उन्हें उसके लिये एक साधन-पद्धति की योजना करनी पड़ी। भगवान कृष्ण की भगवत् गीता में योग एक स्वतंत्र मार्ग है। यद्यपि गीता में योग को शास्त्र-सम्मत कहा गया है, तदपि गीता का प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म की स्थापना है। इस प्रकार गीता में कर्मकाण्ड को परिष्कृत किया गया है। उसमें भक्तियोग की भी महत्ता है। परन्तु जिस योग से हमारा संबंध है वह सन् ई० की दूसरी शताब्दी के लगभग हठयोग और तंत्राचार के रूप में प्रकाशित हुआ।

हठयोग मूलतः देह-शुद्धि की क्रिया थी, अतः हम उसे राजयोग की भूमिका कह सकते हैं जो जोगी का उद्देश्य था। हठयोग में देह-शुद्धि की ६ क्रियाएँ थीं—(१) धौति (२) बस्ति

(३) नेति (४) त्राटक (५) नौलि (६) कपाल-भीति। इन क्रियाओं को षटकर्म भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त देह की दृढ़ता के लिए आसन और मुद्राएँ और शारीरिक धीरता के लिये प्रत्याहार। देहशुद्धि के बाद प्रणायाम-द्वारा लघुत प्राप्त करके मन को स्थिर किया जाता था। ध्यान और समाधि योग की अंतिम क्रियाएँ थीं जिनका फल क्रमशः आत्म-प्रत्यक्ष और निर्लेपता थी।

परन्तु साधक का उद्देश्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसका उद्देश्य कुण्डलिनी को जाग्रत और ऊर्ध्वमुख (उद्‌बुद्ध) करना है। योग-साधकों ने दृश्यमान जगत् के दो भाग किये हैं—सम्पूर्ण सृष्टि (समष्टि) और व्यक्ति (व्यष्टि)। उनके अनुसार व्यष्टि समष्टि का ही लघुरूप है। इसे यों भी कहते हैं—पिंड में अंड है, अथवा घट में ब्रह्मांड है। इन साधकों ने कहा कि संपूर्ण सृष्टि में एक शक्ति परिव्याप्त है। इसे उन्होंने 'महाकुण्डलिनी' कहा। यही शक्ति सीमित रूप में व्यक्ति में भी प्रकाशित हुई है। इसका नाम कुण्डलिनी है। वास्तव में दोनों शक्तियों में प्रकार का भेद नहीं, मात्रा का भेद है।

सभी जीवों में दो शक्तियाँ होती हैं, कुण्डलिनी शक्ति और प्राणशक्ति। साधारण अवस्थाओं (जागृति, सुषुप्ति और स्वप्न) में मनुष्य प्राण-शक्ति से परिचालित होता हुआ जीवित रहता है। प्राण इड़ा (इंगला) और पिंगला

नाम की दो नाड़ियों में होकर बारी-बारी चलता है। इसी से जीवन संभव है। परन्तु साधना में योगी को देह की भीतर अन्य सुप्त शक्तियाँ भी परिचालित करनी होती हैं।

देह की प्रधान शक्ति कुण्डलिनी है। साधारण मनुष्यों में यह सुप्तावस्था में रहती है, परन्तु योगी इसे संचालित करता है एवं अपनी साधना का यंत्र बनाता है। कुण्डलिनी का निवास-स्थान अग्निचक्र है। यह त्रिकोण के रूप में होता है। इस त्रिकोण में स्थित स्वयंभू लिंग से कुण्डलिनी लिपटी रहती है। यह सर्प की भाँति है। इसके तीन बलय या वृत्त हैं। साधारण दशा में इसका मुख नीचे रहता है अर्थात् यह अधोमुखी है। अग्निचक्र के ऊपर चार दलों का एक कमल है। इसे मूलधार चक्र कहते हैं। फिर नाभी के पास मणिपुर चक्र है जिसके दस दल हैं। इन दोनों चक्रों के बीच में छः दल वाले कमल के रूप में स्वाधिष्ठान चक्र है। हृदय के पास अनिरुद्ध चक्र है जिसमें १२ दल हैं। कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है। इसमें १६ दल हैं। इसके ऊपर भ्रूमध्य में दो दल वाला आज्ञा-चक्र है। ये षट चक्र हुए। सब से ऊपर मस्तिष्क में शून्य चक्र (सहस्रार) है। इसमें एक सहस्र दल हैं। षट् कमल सुषुम्ना पर अवस्थित हैं। सुषुम्ना के भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भीतर ब्रह्मनाड़ी है। कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वमूल और गतिशील हो जाती है तो ब्रह्म नाड़ी में होकर ऊपर उठती है और सहस्रार तक पहुँचती है।

योग की अनेक साधनाएँ इसी कुण्डलिनी के जगाने के हेतु हैं। कुण्डलिनी जागृत (उद्बुद्ध) होकर जब ऊपर उठती है तो उससे विस्फोट उत्पन्न होता है। इसे नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। प्रकाश का व्यक्तरूप महाविंदु है। यह विन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसे ही पारिभाषिक रूप में सूर्य, चंद्र और अग्नि एवं ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा गया है।

गोरखनाथ के हठयोग के सिद्धांत ऊपर दिए हुए सिद्धांतों से थोड़ा भिन्न हैं। यहाँ हम उनके ग्रन्थ गोरक्षशतक का आश्रय लेंगे। गोरखनाथ के अनुसार योग के छः अंग हैं—(१) आसन (२) प्राण-संवरोध (३) प्रत्याहार (४) धारणा (५) ध्यान (६) समाधि। असंख्य आसनों में ८४ आसन श्रेष्ठ हैं। उनमें भी दो सिद्धासन और कमलासन श्रेष्ठतम हैं। इन आसनों का उद्देश्य शरीर की शक्तियों का संग्रह और नियमन है। इस शरीर में छः चक्र हैं, १६ आधार, ३ लाख नाड़ियाँ, ५ व्योम, ६ द्वार और ५ आधिदेवता। चक्र पद्म के रूप में हैं। गुदा-स्थान पर आधारचक्र नाम का चतुर्दल पद्म है। इसके ऊपर स्वाधिष्ठान नाम का षट्दल पद्म है। दोनों के बीच में योनिस्थान या कामरूप है। नाभि के स्थान पर मणिपुर नाम का दस दल पद्म है। इसी प्रकार हृदय में द्वादश दल पद्म, कंठ में षोडशदल पद्म, भ्रुवों के मध्य में द्वि-दल पद्म और शीर्षस्थान पर सहस्रदल पद्म (सहस्रार) है।

नाड़ियाँ द्विसप्तीहः (७२०००) हैं। इनमें मुख्य ७२ हैं। इनमें दस अधिक प्रमुख हैं। प्रत्येक नाड़ी एक द्वार से संबंधित है। ये नाड़ियाँ हैं इड़ा, पिंगला, हस्तिजिह्वा, पूष, यशस्विनी, अल्पबुषा, कुहुश, शंखिनी, सुषुम्ना और गांधारी। अंतिम दो नाड़ियाँ इस संख्या को १२ बना देती हैं।

योग का प्रधान संबंध श्वास-प्रश्वास से है। वायु १० हैं—प्रान, अपान, समान, उदान, व्यान, कूर्म, कर्क, देवदत्त और धनञ्जय। इनमें से पहली पाँच अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ऊपर की पाँच नाड़ियों में भी प्राण और अपान अधिक प्रमुख हैं। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना प्राण की वाहक हैं। उनके देवता क्रमशः चन्द्र, सूर्य और अग्नि हैं। अंतिम पाँच प्रकार की वायु समस्त नाड़ियों के मार्ग से चलती है। प्राण और अपान में परस्पर आकर्षण चलता रहता है। प्राण अपान को खींचता है, अपान प्राण को। जीव प्राण और अपान के वश में है। वह इस आकर्षण के कारण स्थिर होकर बैठ नहीं पाता, इड़ा और पिंगला में बराबर उतरता-चढ़ता रहता है। उसे शांति नहीं मिलती। योग के द्वारा प्राण और अपान में संयोग (मेल) स्थापित किया जाता है।

जीव निरन्तर 'हंस'-मंत्र का जाप करता रहता है। 'ह' के साथ जीव प्राण के रूप में बाहर जाता है और 'स' के साथ फिर शरीर में प्रवेश करता है। गायत्री (अजपा)

मोक्षदायिनी है और कुण्डलिनी में संभूत रहती है। कुण्डलिनी शक्ति-कुंड के ऊपर स्थित है। इसके ८ चक्र होते हैं (अष्टधा)। यह ब्रह्मद्वार (सुषुम्ना का निम्न सिरा) को अपने मुँह से आच्छादित किये सुप्तावस्था में रहती है। बुद्धि (अग्नि) और कुण्डलिनी (प्राण) के योग से मनस् जाग्रत होता है और सुषुम्ना में होकर इस प्रकार ऊपर की ओर खिंचता है जिस प्रकार सूची में गुण। अग्नि के योग के कारण कुण्डलिनी या मनस् शक्ति जाग्रत होती है और सूर्य की भाँति सुषुम्ना से ऊपर उठती है।

मुक्ति-आकांक्षी योगी को महामुद्रा, नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा) उड्डीयान जलंधर और मूलबंध नाम की मुद्राएँ जाननी चाहिये। हठयोग का ध्यान मंत्र (बीजम्) ओम् है। भूः, भुवः, स्वः, लोक और सोम, सूर्य, अग्नि देवता इसी में स्थित हैं। क्रिया, इच्छा, ज्ञान (ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी शक्तियाँ) भी इसी में सन्निहित हैं। यही ओम् परम ज्योति है। सोम और सूर्य का ध्यान करते हुए योगी को बायें नासिका-रंध्र से प्राण को भीतर खींचना चाहिये और दक्षिण नासिकारंध्र से बाहर फेंकना। फिर प्राण को दक्षिण नासिकारंध्र से भीतर खींचना चाहिये और बायें नासिकारंध्र से बाहर निकालना। इस प्रकार तीन मास तक करने से योगी की नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं जिसका फल यह होता है कि वह प्राण को इच्छानुसार धारण कर सकता है। वायु प्रदीप्त हो जाती है, (अनहद)-नाद अभि-

व्यक्त होता है और शरीर समस्त रोगों से मुक्त होकर आरोग्य को प्राप्त होता है।

योग-पंथ में गुरु का बड़ा महत्त्व है। बात यह है कि योग की साधना-पद्धति इतनी जटिल है कि साधक के लिये बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। थोड़ी-सी भूल-चूक होने पर योगी पथभ्रष्ट हो सकता है, संभव है कि विकलितांग हो जाय। इसीलिये सद्‌गुरु की आवश्यकता है। वास्तव में गुरु का महत्त्व इससे बहुत पहले सिद्धपंथ में ही स्थापित हो चुका था।

परंतु गोरखनाथ का हठयोग ईश्वर-प्राप्ति का एक मात्र साधन नहीं था। वह ईश्वर-प्राप्ति में सहायक केवल एक साधन था। जहाँ तक खोज से पता चला है, गोरखनाथ ने भक्ति को अवश्य प्रश्रय दिया था (Vide, Hindusthan Review, Vol LXXII, P 312)। कदाचित् वही मुख्य साधन था, अन्य उसके आश्रित थे। कष्टसाध्य हठयोग के आसनों, मुद्राओं आदि का वर्णन करते हुए भी अनेक स्थान पर योग-साहित्य में ऐसे कथन मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि उन्होंने देह-कष्ट को प्रधानता नहीं दी गई होगी—

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत
दृढ़ करि राषि आपना चीत

(गोरखनाथ)

थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी
दहूँ पषा की संधि विचारै ते को विरला जोगी

(जालंधरनाथ)

चरपट चीर चक्र मन कंथा,
चित्त जमाऊँ करना;
ऐसी करनी करो रे अवधू,
ज्यूँ बहुरि न होई भरना

(चरपटनाथ)

जान पड़ता है, नागपंथी हठयोग को मन की एकाग्रता की उपलब्धि के लिए पहली सीढ़ी मानते थे, परन्तु वे उसी को सब कुछ नहीं समझते थे। उन्होंने योग (हठयोग) की निष्फलता के संबंध में भी कहा है—

आसण पवन उपद्रव करै।
निसिदिन आरंभ पचि पचि मरै॥

(गोरखनाथ)

सच तो यह है, योगधारा संतधारा की तरह ही वाह्य साधनों की ओर से हट कर अंतः-शुद्धि की ओर दृष्टि करती है। संतों की तरह गोरखनाथ भी कहते हैं—

हबकि न बोलिवा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं
गरब न करिवा सहजैं रहिबा भणंत गोरख रावं

इस अंतः-शुद्धि में हठयोग जहाँ तक सहायक हो, वहीं तक

संग्रह योग्य है। इस अंतः-शुद्धि की चरम अवस्था भक्ति की प्राप्ति है।

चरपट ने गोरख के योग को "आत्मयोग" कहा है। कुछ विद्वान् इसे 'नादानुसंधान' अथवा 'सुरत शब्द-योग' भी कहते हैं। परवर्ती संत-साहित्य में भी योग को 'सुरत', 'शब्द' आदि सेसंबंधित पाते हैं। जान पड़ता है कि यह संबंध पहले-पहल गोरखनाथ द्वारा ही स्थापित हुआ। स्पष्ट है कि इस प्रकार के योग में मन की साधना ही प्रधान है, देह की साधना या हठ-योग की आवश्यकता केवल इतनी ही समझी गई है कि उसके द्वारा साधना का माध्यम मन नियंत्रण में रखा जा सके और इंद्रियाँ संयमित रहें। विश्लेषण करने पर गोरखनाथ का योग उपनिषदों के राजयोग से बहुत दूर नहीं पड़ता। उसके साधने के लिए जननेंद्रिय का दमन अधिक आवश्यक नहीं। जननें-द्रिय के दमन के लिए भी कष्ट-कृच्छ्र साधनों की अपेक्षा 'अजपाजाप' को ही अधिक श्रेय मिला है। सिद्धों के योग में तांत्रिक साधनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था, परंतु गोरखपंथियों के योग में उसे किंचित भी स्थान प्राप्त नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साधना क्रमशः अधिक सरल होती आ रही है और इस "सहजीकरण" की प्रक्रिया में गोरखनाथ और उनके पंथ ने भी योग दिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, योग-काव्यधारा के प्रवर्तक गोरखनाथ थे। गोरखनाथ स्वयं कहते हैं—

आओ माई धरि धरि जाओ, गोरख बाल भरि भरि खाओ
झरै न पारा बाजे नाद, ससिहर सूर न बाद बिबाद
पवन गोटिका रहणि अकास, महिथल अंतर गगन कबिलास
पयाल नी डीबी सुन्नि चढ़ाई, कथत गोरखनाथ मछीन्द्र बताई

परंतु यहाँ 'मछीन्द्र बताई' केवल गुरु-श्रद्धा मात्र से अनुप्रणित है। जन-कथाओं में मछीन्द्र मोहग्रस्त हो गये हैं, शिष्य गोरख नाथ ने ही उन्हें उबारा है। उनके बाद उनकी शिष्यपरम्परा में योग-विषयक रचना बराबर होती रही। 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक अपने एक निबंध में डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने जलंधरनाथ, घोड़ाचोली, चौरंगीनाथ, कणेरी पाव (पाद) और चुणकरनाथ नाम के गोरख के समकालीन योगियों की रचनाओं से उदाहरण दिये हैं। इतिहास इनके विषय में चुप है। चरपटनाथ का समय १२८०—१३३० के लगभग माना जाता है। बालानाथ और देवलनाथ पंजाब से संबंधित हैं जहाँ बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है। इनके अंनतर धूँधलीमल आते हैं जिनका समय १४०० के लगभग है। इनके शिष्य ग़रीबनाथ का समय १४४२ है। यह योग-काव्यधारा कबीर के समय में तथा उनके पश्चात् भी चलती रही। कबीर के साहित्य में योगियों के अनेक निर्देश हैं और हमें पृथ्वीनाथ की रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें कबीर का उल्लेख भूतकालिक क्रिया में किया गया है।

इन योगियों के काव्य को परवर्त्ती संतकाव्य से मिलाने पर

यह स्पष्ट हो जाता है कि योगधारा धीरे-धीरे निर्गुण संत-धारा में विलीन हो गई। यह बात गोरखनाथ के इस पद को संतों के साहित्य से मिलाने पर स्पष्ट हो जायगी—

अनत न भरमो सिधा काइआं मधे सार। रहाउ।
बोलते का खोज करना। जीवते ही उलटि मरना। सहिज ही आकास चरना। काहे जम का डंड भरना उतर परना पार ॥ १ ॥

महल की जब खबरि पाई, सोध लीने आन बाई
मइआ परचा मिटि धाई, बिना मूरति द्रिसटि आई
अलख अगम अपार ॥ २ ॥

सिखर भीतरि नाद बाजै, जरा मिरत उपाधि भाजै।
सुनि सो धुनि डोरी लागै, ततु सबदु झुणकार ॥
बिखै दीन जगति बासी, अगमु गडु बसिउ संनिआसी।
भणै गोरख सुनहु उदासी, चेतिआ निरंकारि ॥ ४ ॥

'गोरखबोध' के अध्ययन से यह साम्य और भी अधिक स्पष्ट होगा—

गोरखनाथ—कुण मुखि बैसे कुण मुखि चले। कुण मुखि बोलै कुणि मुखि मिलै। कैसे बाला देही में रहै। सत-गुरु होइ सु पूछ्या कहै ॥

मछेन्द्रनाथ—सुरति मुखि बैसे सुरति मुखि चलै। सुरति मुखि बोलै सुरति मुखि मिलै। निरति सुरति लै त्रीभै रहै। ऐसा विचार मछंद्र कहै ॥ ६२ ॥

गो० कौण सबद कौण सुरति । कौण सो निरति कौण सो बंध । दुवध्या मेटिर कैसे रहै, सतगुरु होई सु बुझया कहै ॥ ६३ ॥

म० शब्द अनहद सुरति सुचित । निरति निरालंभ लागै बंध । दुवध्या मेटिर एकै रहै, ऐसा विचार मछंद्र कहै ॥६४॥

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा कि संतों ने उन्हीं पारिभाषिक शब्दों (सतगुरु, निरति, सुरति, सबद, दुविधा, अनहद आदि) का प्रयोग किया है जिनका गोरखपंथियों के साहित्य में प्रचुर प्रयोग मिलता है। साधारणतः नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल भावनाओं में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। "गोरखबोध" में मत्स्येन्द्रनाथ का यह कथन—

संतोष आसण विचार सु ज्ञान ।
काया तजि करि धरिये ध्यान ॥
गुरुमुखि अवगति का सुख लहै ।
ऐसा विचार मछंद्र कहै ॥ ६८ ॥

संतों के पदों में अनेक बार सुन पड़ता है।

जैन अपभ्रंश-काव्य और सिद्धों की भाषा और विचारधारा के सम्बन्ध में चाहे कितना ही मतभेद हो, परन्तु गोरखनाथ और नाथसंप्रदाय के अन्य गुरुओं की वाणी गोरखवाणी अवश्य ही पूर्वी हिंदी है जिसका समय १००० ई० से १४०० ई० तक हो सकता है। यह नाथकाव्य भाषा और भाव दोनों ने निर्गुण भक्तकवियों के

काव्य का पूर्वरूप जान पड़ता है। कबीर ने अपनी भाषा के लिए लिखा है—

'मेरी भाषा पूरबी'

उस पूर्वी भाषा और 'गोरखबाणी' (प्रकाशित, १६४३) में बहुत साम्य है।

नाथों की कविता सिद्धों की कविता की तरह धार्मिक कविता के भीतर आती है। सिद्ध, नाथ, निरंजन, संत और वर्तमान काल के राधास्वामी और दयालस्वामी एक ही परम्परा का उत्तरोत्तर परिवर्तित रूप है। निर्गुण उपासना की एक धारा १००० ई० से हमारे समय तक हमारे काव्य में बराबर प्रकाशित होती आ रही है। उसका जन्म गोरखपुर और बिहार के उत्तरी भाग (नैपाल की तराई) में हुआ और पूर्व मध्ययुग (१४००—१६००) में कबीर, दादू, नानक और उनसे प्रभावित शिष्यों और संतों के काव्य में यह परम्परा विशेष बलवती रही। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में गोरखपुर, काशी, मध्य-भारत, राजस्थान और पूर्वी पंजाब—ये भू-भाग इसके प्रधान केन्द्र थे। इन्हीं से संतकाव्य हमें प्राप्त हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि एक विशेष काव्यपरम्परा और विचारधारा का निरूपण हमें करना पड़ रहा है।

नाथ-काव्य के सबसे प्रसिद्ध कवि स्वयं गोरखनाथ हैं। उन्हीं की वाणी को हम प्रतिनिधि वाणी के रूप में ले सकते हैं।

गोरखनाथ ब्रह्मवादी थे, परन्तु वे उपनिषदों के ब्रह्म की कल्पना से भी ऊपर उठ कर कहते हैं—

बस्ती न सुन्यं सुन्यं न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महिं बालक बोलै नाँव धरहुगे कैसा ॥१॥

(परमतत्त्व तक किसी की पहुँच नहीं है। यह इंद्रियों का विषय नहीं है। वह ऐसा है कि न हम उसे बस्ती कह सकते हैं, और न शून्य। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है और न यह कि वह कुछ नहीं है। वह भाव और अभाव, सत् और असत् दोनों से परे है।)

बाहरि न भीतरि नेडा न दूर। खोजत रहे ब्रह्मा और सूर।
सेत फटकमनि हीरैं बाधा। इहि परमारथ श्री गोरख साधा ॥

(परब्रह्म आत्मतत्त्व न बाहर है, न भीतर; न निकट, न दूर। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते ही रह गये। श्वेत स्फटिक वाणी को हीरे ने बेध लिया अर्थात् आत्मा के रहस्य का भेदन कर ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया। इसी परमार्थ के लिए गोरख-नाथ ने साधना सिद्ध की)

प्यंडै होइ तौ मरै न कोई, ब्रह्मांडै देखै सब लोई
प्यंड ब्रह्मंड निरन्तर बास, भणंत गोरख मछन्द्र का दास

(यदि शरीर में परमात्मा होता तो कोई मरता ही नहीं। यदि ब्रह्मांड में होता तो हर कोई उसे देखता। जैसे ब्रह्मांड की सब चीजें दिखाई देती हैं, वैसे ही वह भी दिखाई देता है। मत्स्येन्द्र

का शिष्य (सेवक) गोरख कहता है कि वह पिंड और ब्रह्मांड दोनों से परे है ॥ ७०४ ॥

हिंदू आषैं राम को मुसलमान खुदाइ ।
जोगी आषैं अलष को, तहाँ राम अछैं न खुदाइ ॥

(हिंदू कहते हैं राम है, मुसलमान कहते हैं खुदा है । किंतु जोगी जिस अलक्ष्य का आराधना करते हैं, वहाँ न राम है, न खुदा)

हिंदू ध्यावैं देहुरा मुसलमान मसीत
जोगी ध्यावैं परम पद जहाँ देहुरा न मसीत

(हिंदू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में, परंतु योगी परमपद का ध्यान करता है, जहाँ न देवालय है, न मसजिद ६४)

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथ शांकराद्वैती हैं । परंतु वह "अद्वैत" को केवल ज्ञान का विषय नहीं मानते । वे कहते हैं—

बिरला जाणंति भेदानि भेद, बिरला जाणंति दोइ पष छेद ॥

(अभेद के भेद को, अद्वैत के रहस्य को बिरले ही जानते हैं, द्वैत के पक्ष का खंडन किसी बिरले को ही आता है ६६)

इस अद्वैतसत्ता को इसका अनुभव किये (स्वंसंवेद्य हुए) बिना पाया नहीं जाता । पर इस प्रकार का अनुभव तो सहज नहीं है । यही संप्रदाय-भेद युक्त हो जाता है ।

'गोरखवाणी' में अलक्ष्य (अभेद, ब्रह्म) तक पहुँचने के कई मार्ग हैं –

(१) कुंडलिनी-साधना के द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच कर अनहद की नाद सुनना और इससे ब्रह्मानुभूति प्राप्त करना

(२) व्यक्त और अव्यक्तरूप –सविकल्प और निर्विकल्प समाधि-द्वारा हंस-स्वरूप आत्मा का ज्ञान या कैवल्यानुभूति

(३) अजपा जाप (४६)

कैवल्यपद के अनुभवों का गोरखनाथ ने विस्तारपूर्ण स्पष्ट वर्णन किया है। उस अवस्था में मन की परिस्थिति, आत्मा के आनंद और शुद्ध चित्तावृत्ति को वे बार-बार प्रगट करते हैं—

दरपन माहिं दरसन देष्या, नीर निरंतर झाईं
आपा महिं आपा प्रगट्या, लखै तो दूर न जाई ॥

(ग्यानतिलक)

(जिसने दर्पण में दर्शन देखा हो, अर्थात् अपने आप परब्रह्म निरंजन को सक्षात्कार किया हो—वैसे ही जैसे जल में किसी वस्तु का निरंतर प्रतिबिंब पड़ता रहता हो, और अपने ही में जिसका आत्मा प्रगट हुआ हो, उसे इधर-उधर कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो स्थिरता प्राप्त कर लेता है)

सरप मरै बाँबी उठि नाचै, कर बिंनु डँरू बाजैं।
कहै नाथ जौ यहि विधि जीते, पिंड पड़ै तो सतगुरु लाजैं ॥

(वही, ४)

(जिसकी कुंडलिनी या शक्ति शिव में समा गई हो, माया मर गई हो, उसका शरीर योगामृत के पान से संजीवित होकर आनन्द से नाच उठता है, इत्यादि)

गोरखनाथ योग को मानते हैं। यह योग पतंजलि के राज-योग से भिन्न है, परन्तु हठयोग भी पूर्णतः नहीं है, यद्यपि उसमें षट्चक्र और आसनों का स्पष्ट विधान है। इस योग का प्रारम्भिक सिद्धांत है—पिंड में ब्रह्मांड की अनुभूति, शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति।

गोरख कहते हैं—

तूँबी में तिरलोक समाणां, तिरवेणी रवि चंदा।
बूझौ हौ कोई ब्रह्म गियानी, अनहद नाद अभंगा॥

(तूंबी यह शरीर है, इसी में त्रैलोक्य समाया हुआ है, इसी पिंड में यह ब्रह्मांड है। त्रिवेणी (त्रिकुटी) सूर्य और चन्द्र सब इसी में हैं। इसी में अजस्र रूप से अनहद नाद भी हो रहा है। कोई ब्रह्म- ज्ञानी ही इसे समझे।)

योगपद्धति में इला, पिंगला और सषुम्ना नाड़ियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इड़ा नाड़ी को चंद्र कहते हैं, पिंगला को भानु और सुषुम्ना को सरस्वती या वाणी। ये ही तीनों मूल स्थान या ब्रह्मरंध्र तक पहुँचते हैं। मूलस्थ कुंडलिनी का परिचय सहस्रारस्थ शिव से होना ही ब्रह्मानुभूति है। योगी को प्राण वायु को उलट कर छहों चक्रों को बेधना चाहिये। इस प्रक्रिया (साधना) को गोरख ने 'मीन का मारग' कहा है। मछली

नदी की धारा के विरुद्ध चल लेती है, परंतु मछली किस मार्ग से गई है, पानी के नीचे इस बात का पता कोई नहीं लगा सकता। योग का मार्ग भी इसी प्रकार गुप्त है। इसीलिए उसे 'मीन का मारग' कहा है।

गोरख कहते हैं—

सिधक संकेत बूझिलै सूरा, गगन अस्थांनि बाहले तूरा
मीन के मारग रोपी लै भाणां, उलट्या फूल कली मैं आणां

(हे साधक, सिद्ध के संकेत को समझो। शून्य स्थान में तुरी का अनहद-नाद बजाओ। चन्द्र के विरोधी भानु को मीन के मार्ग पर लगाओ अर्थात् योगशक्ति से चंद्रमा के सम्मुख करो जिससे अमृत का रसास्वादन हो।)

परंतु गोरख हठयोगसाधन के भेद-प्रभेद को वर्जित मानते हैं। वे कहते हैं—शरीर में इतनी नाड़ियाँ, इतने कोठे हैं, आदि-आदि अष्टांग योग का सब बाह्य ज्ञान झूठा है। वास्तविक केवल आभ्यंतर अनुभूति है। सुषुम्ना के द्वारा ताली पर कुंजी करे अर्थात् ब्रह्मरंध्र का ध्यान करे और जिह्वा को उलट कर तालु-मूल में रखे जिससे सहस्रार-स्थित चन्द्र से स्रवित होने वाले अमृत का आस्वादन होगा (नव नाड़ी बहोतरि कोठा। एक अष्टांग सब झूठा ॥ कूँची ताली सुषमन करै। उलटि जिभ्या ले तालू धरे ॥)

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर—

पंडित ग्यान करौ क्या झूझि। औरे लेहु परमपद बूझि ॥

आसन पवन उपद्रव करैं। निसिदिन आरंभ पचि पचि मरैं॥
उनमन जोगी दसवै द्वार। नाद व्यंद ले धूं धूं कार॥
दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरष षोजी औरे वाट॥

(हे खंडित ज्ञानियो, तुम बाहरी बातों, आरंभ की साधना में ही पच-पच क्यों मरते हो। परमपद इनसे भिन्न है। सूक्ष्म ज्ञान के बिना आसन और प्राणायाम उपद्रव करते हैं। योगी दशम द्वार अर्थात् ब्रह्मरंध्र में समाधिस्थ होता है और वहाँ अनहद नाद सुनता है किन्तु गोरख ने और ही बाट से परब्रह्म की खोज की है।)

यह सूक्ष्म ज्ञान है परमतत्त्व का चिंतन या अध्यात्म-चिंतन। इस प्रकार स्पष्ट है कि गोरखनाथ योग की साधना में केवल कुछ सरल साधनों को ही ग्रहण करते हैं और उन्हें भी प्रारंभिक अवस्था में ही मान्य समझते हैं। वे मूलतः ब्रह्म-चिंता को ही साधना मानते हैं। यही अंतिम साधना है। षट्-चक्रभेद, समाधि और अजपा नीचे की अवस्थाएँ हैं—

मनसा मेरी व्यौपार बंधौ, पवन पुरिष उतपनां।
जाग्यौ जोगी अध्यात्म लागै, कायां पाटण मैं जानां॥
इकबीस सहस परसा आदू, पवन पुरिष जपमाली।
इला पंगुला सुषमान नारी, अहनिसि बहै प्रनाली॥
षटसां षोड़ि कवल पल धारा, तहाँ बसै ब्रह्मचारी।
हंस पवन ज फूलन पैठा, नौ सै नदी पनिहारी॥
गंगा तीर पतीरा अबधू, फिरि फिरि वणिजां कीजै।
अरध बहंता उरधा लीजै, रवि सस मेला कीजै॥

चंद्र सूर दोऊ गगन विधूला, भइला घोर अधार'।
पंच वाहक जब न्यद्रा पौख्या, प्रगट्या पैलि पगार'॥
काया कंथा मन जोगोरा, सतगुरु मुझे लवाया।
भणंत गोरखनाथ रूडा राषौ, नगरी चोर भलाया ॥९६

(हे मेरी मनसा! तुम अपना व्यापार बाँधो। प्राण-पुरुष उत्पन्न हो गया है। अर्थात् मन और पवन का संयोग संभव हो गया है। जागा हुआ जोगी अध्यात्म में लग गया है। उसे इस शरीर-रूपी नगर में प्रवेश करना है। बाहर आती-जाती साँस ही जपमाला है। इला, पिंगला और सुषुम्ना की नलियों में पवन बराबर बहता रहता है। स्वाधिष्ठान और विशुद्ध आदि चक्रों में ब्रह्मचारी अथवा आत्मा का निवास है। नौ सौ नदियाँ अथवा संपूर्ण नाड़ी-जाल पनिहारिन होकर पुष्टिकर्तृ प्राण-धारा से हंस अर्थात् जीवात्मा का सिंचन करती है जिससे आत्मा-रूपी बेलि पुष्पित हो जाती है और इला के किनारे शीतलतादायक ज्ञान उत्पन्न होता है जिसका फिर-फिर वाणिज्य करना चाहिये। नीचे बहती हुई अमृत की धारा को ऊपर ले आओ। × × मन जोगी है और काया उसकी गुदड़ी। यह रहस्य मुझे गुरु ने बताया। गोरखनाथ कहते हैं कि इस रहस्य को सुरक्षित रखो, नगरी में चोर छूटे हुए हैं। षड्-रिपु इस रहस्य के अनुभव में बाधा डालेंगे।) इस साधन में 'ऊंकार', "अजपा", "नाद-साधना" का मुख्य स्थान है। यह मन की साधना है। गोरख जानते हैं—

मन मोरे मन मेरे मन तारै मन तिरै
मन जै अस्थिर होइ तृभुवन मरै
मन आदि मन अनंत मधे सार
मन हीं तै छूटै, दादू विषय विकार

इसलिये वह 'जपमाली' की बात कहते हैं—

अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौं, जाप जप्यां फल होई
अगम जाप जपीला गोरख, चीन्हत बिरला कोई

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगी की साधना आभ्यंतर साधना है। इसमें जो प्रधान है, वह यही साधना है जो गुरु-मुख से प्रेरित होती है। बाद के निर्गुण संतों में भी यही आभ्यं-तर साधना लक्ष्य है। परंतु वह शुद्ध ज्ञान, ब्रह्मज्ञान को अनिवार्य मानते हैं। यहाँ ज्ञान प्रथम सीढ़ी नहीं है, साधना ही सब कुछ है। दूसरे, निर्गुण मतों में भक्ति और सूफी प्रेम धाराओं का भी काफ़ी मिश्रण हो गया है। योगी की साधना मन की साधना है, हृदय की साधना नहीं। निर्गुण संतों ने हृदय की साधना पर ही अधिक बल दिया है। योगी जिसे 'ब्रह्म', 'शिव' आदि कहते हैं, वही संतों का निर्गुण है जो मन, वाणी और बुद्धि के परे है, जो सब प्रकार अगम्य है, परन्तु योगी यहीं समाप्त कर देता है, कबीर आदि संत आगे बढ़कर भक्ति से उस तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। इसीलिए परवर्ती संतों की 'लव' (हृदय की भक्तिमय साधना) की कल्पना नई चीज़ नहीं है। संतों ने योगमार्ग की परिभाषाओं और प्रतीकों

और कुछ अंशों में कुंडलिनी जगाने की साधना को अपना लिया है, परंतु उसकी साधना में उसका इतना भी स्थान नहीं है, जितना योगी गोरखनाथ की साधना-पद्धति में। वास्तव में अनेक पदों में कबीर ने 'जोगी' को संबोधन कर षट्चक्रभेद और आसनादि साधनों का विरोध किया है और योग को वाह्य साधना की जगह आभ्यंतर साधना बनाने की चेष्टा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण भावधारा धीरे-धीरे अधिक भीतर पैठ रही है और "निर्गुण भक्ति" में आकर उसमें हृदय-मन की सर्वोच्च स्थिति का समाहार हो जाता है। हाँ, भाषा, अभिव्यंजना, प्रतीकवाद, सामाजिक भेद-भाव और वाह्याडंबरों का विरोध, तीर्थव्रत आदि से विरक्ति, हिन्दू-मुसलमान से ऊपर उठने की बात दोनों में एक-सी हैं। पिछली दो बातें युग के साथ अधिक स्पष्ट हुई हैं। योगी राजा होते हैं। स्त्री कोई भी वर्ण। योगी संतों में से अधिकांश निम्न वर्ण के थे या जाति-वहिष्कृत। मंदिरों में इनका प्रवेश निषिद्ध था। उच्चवर्ण इन्हें हेय समझता था। इसलिये वर्ग-युद्ध भी उनमें सुनाई पड़ने लगा था। कबीर ब्राह्मणों को पुकार कर कहते हैं—

जो तू बाभन बाभिनि जाया।
और मार्ग तू काहे न आया॥

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि मुसलमानों के मंदिरों को तोड़ने के कारण या उनके मत के प्रभाव से संतकाव्य में

एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई। वास्तव में योगियों का ब्रह्मवाद ही बाद का निर्गुणवाद हो गया है। सर्व उपास्यतत्त्व की एकता योग-तत्त्व की एकता योग-पंथ में भी घोषित हुई है। हाँ, कबीर का स्वर अधिक स्पष्ट और बली है।

योगी और संत दोनों साधना में व्यक्तिवाद को मानते हैं। व्यक्ति के दुर्गुणों और निर्बलताओं का परिहार और उसकी जीवन-व्यवस्था की श्रेष्ठता ही उसे कैवल्यपद तक पहुँचाती है। अतः आध्यात्मिक जीवन के लिए विशेष संदेश दोनों में मिलेगा—

गोरख कहते हैं

नौ लख पातरि आगै नाचैं, पीछें सहज अषाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी सेलै, तब अंतरि बसै भंडारा॥

(इसमें कहा है कि भोग्य पदार्थों के सम्मुख रहते हुए भी उनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये)

शूद्र-अशूद्र का भेद-भाव नहीं—

वैसन्दर मुष्टिं ब्रह्म जो होते, सूद्र पढ़ाऊं वानीं

(योगाग्नि में जो होम कर दे, ऐसे शूद्र को भी वाणी पढ़ाता हूँ, शिष्य बनाता हूँ)

इस योग-मार्ग में विंदु के संयम या ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्त्व है। कबीर आदि की तरह गोरख भी स्त्री को आध्यात्मिक जीवन के लिए विष मानते हैं। वे कहते हैं—

रांडी तज्यां न षसिमां जीवै, पुरुष तज्यां नहिं नारी ।
कहै नाथ ये दोन्यू बिनसे, धोषा की असवारी ।।

(स्त्री को छोड़ कर पुरुष नहीं जी सकता। और पुरुष को छोड़ कर स्त्री नहीं जीती। इसी प्रकार धोके की सवारी पर सवार होकर दोनों नष्ट हो जाते हैं।)

वे फिर कहते हैं—

विंद और भग बाघणि और
बिन दाताँ जग खाया

(बिंदु का साफल्य और बात है, कायैषण नहीं। भग बाघिन तो बिना दाँतों के दुनिया को खाती है।) प्रसिद्ध है गुरु मत्स्येन्द्र नाथ सिंहल द्वीप की भिक्षुणियों के फेर में पड़ गये थे। गोरख ने ही उन्हें उबारा। वे कहते हैं—

रूपे रूपे कुरूपे गुरुदेव, बाघनी भोले भोले
जिन जननी संसार दिषाया, ताकों ले सूते सोले
गुरु खोजो गुरुदेव गुरु षोजो, बदंत गोरख ऐसा
मुषते होइ तुम्हें वंधनि पडिय, ये जोगे है कैसा
चाम ही चाम धसंता गुरुदेव दिन-दिन छीजै काया
होठ कंठ तालु का सोषी काढ़ि मिजालू खाया
दीपक, जोति, पतंग गुरुदेव, ऐसी भग की छाया
बूढ़े होइ तुम्हें राज कमाया नां तजी मोह माया
बदंत गोरखनाथ सुनहु मछंदर तुम्ह ईश्वर के पूता
ब्रह्म भंरता जो नर राषै, सो बोलौ अवधूता (पृ० १४४)

(रूप-रूप में और कुरूप में, हे गुरुदेव, उस बाघनी का निवास है। जिस जननी से उत्पत्ति हुई है, उसी को लेकर तुम सोते हो। हे गुरुदेव, यह कैसा योग रहा, तुम तो मुक्त थे, तुम कैसे बन्धन में पड़ गये। हे गुरुदेव, गुरु खोजो गुरु! नारी-संसर्ग से तुम दिन प्रति-दिन अपनी काया क्षीण कर रहे हो। इस सर्पिणी ने होंठ, कंठ और तालू के अमृतरस का शोषण कर मस्तिष्क का मेद भी खा लिया। यह भग की छाया ही ऐसी आकर्षक है। दीपक जोति पर जिस तरह पतंग आकर्षित होता है, उसी प्रकार मनुष्य इसमें रम जाता है। हे गुरु, बूढ़े होकर तुम्हें राजसुख भोगने की यह क्या सूझी? यह मोह-माया तुमसे छोड़ी नहीं गई!)

गोरख की भावना ही नहीं, भाषा और रूपकों का भी बाद में प्रयोग हुआ है। कबीर और जायसी उनके ऋणी हैं। गोरख ने कायागढ़ी का वर्णन किया है और उस पर विजय के साधन बताए हैं—

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहाँ जोवौ जोवै ऊजू द्वारं
अरध अरध बजार मड्या है, गोरख कहै विचारं ॥ टेक ॥
हरि प्राणं पातिसाह, साहं विचार कार्जी
पंच तत्त ते उ जह द्वार मन दोउ हाती घोड़ा
गिनांन ते अषै भंडारं ॥१॥

काया हमारै सहर बोलिए, मन बोलिए हुजदारं
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोरे न झंकै द्वारं

तीन सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सौलह सरिप ले षाई
नव दरवाजा प्रगट दीखै, दसवाँ लख्या न जाई ॥
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै, परम जोति दुइ दीपक लाई।
काम क्रोध दोइ गरदनि मारिले, ऐसी अदल पतिसाही,

बावै आदम चलाई

तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा,

सियां भगति ह्वै पाई

आदिनाथ नाती मछिन्द्र नाथ पूता

काया नगरी गोरख बसाई ॥

कायागढ़ भीतरि तौ लख पाई, जंत्र फिरै गढ़ लिया न जाई
ऊँचे नीचे परबत झिलमिलि खाई, कोठरी का पाणी पूरण गढ़ जाई
इहां नहीं उहां नहीं त्रिकुटी मंझारी, सहज सुनि मैं रहनि हमारी
आदिनाथ नाती मछिन्द्र पूता जीति ले गोरख अवधूता

कदाचित् 'कायागढ़' की इसी कल्पना ने जायसी के 'गढ़छेक-वर्णन' को प्रभावित किया है।

संत-साहित्य की कई भावनाएँ गोरखपंथ में पहली बार प्रकाश में आती हैं जैसे

(१) दया—'दयाबोध' (गोरखवानी)

जोगारंभ की याही वांणी। सब घरि नाथ एकै करि जाणी ॥
जोगारंभ हिरदा मैं मांड़ौ। दया उपावौ जूती छाड़ौ ॥

नागां पावां जे नर यूवां । ताका कारज पहली हूवा ।।
आप सवारथ घालौ धूईं । ता मैं चीटी केती मूई ।।

(२) सूर का युद्ध

झूझति सूरा बूझंति पूरा अमर पद ध्यावंत गुरु ग्यान बंका ।
दल को मारि जंजाल को जीति ले, निर्भय होइ मेटिले मन की संका ।।
अझूझि झूझि लै पैठ दरिया । मूल बिन वृष अमीरस झरिया ।।
तन-मन लैकरि शिवपुर गैला । ग्यान गुरु जोगि संसार मेला ।।

(३) निर्गुण आरती

नाथ निरंजन आरती साजै । गुरु के सबदूं झालरि बाजैं ।।
अनहद नाद गगन मैं गाजै । परम जोति तहाँ आप बिराजै ।।
दीपक जोति अखंडत बाती । परमजोति जगै दिनराती ।।
सकल भवन उजियारा होई । देव निरंजन और न कोई ।।
अनत कला जाकै पार न पावै । संष मृदंग धुनि बेनि बजावे ।।
स्वाति बूंद ले कलस बदाऊं । निरति सुरति ले पुहुप चढ़ाऊँ ।।
निज तत नाव अमूरति मूरति । सब देवा सिरि उदवुदि सूरति ।।
आदिनाथ नाती मछेन्द्र के पूता । आरति करै गोरख अवधूता ।।

(४) निर्गुण ब्रह्म (अणघडीया देवा)

तुझि पर वारी हो अणघडीया देवा ।
थड़ी मूरति कू सब कोई सेवकै, ताहि न जार्‌यौ सेवा ।।
तू अविनासी आदू कहिए, मोहि भरोसा पड़िया ।।
सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनहूँ नहीं घड़िया ।।
(इसी से आगे निर्गुणवाद का विकास हुआ)

(५) प्रतीकवाद और 'उलटबाँसियां'

बांधौ-बांधौ बछरा पीओ पीओ खीर। कलि अजरामर होइ सरीर॥
आकास की धेनु बछा जाया। ता धेनु के पूछ न पाया॥
बारह बछा सोलह गाई। धेन दुहावत रेनि विहाई॥
अचरा न चरै धेनु कटरा न खाई। पंच ग्वालिया कौं मारण धाई
याही धेनु का दूध जो मीठा। पीवैं गोरखनाथ गगन पईठा॥

(बछड़ा=मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य जो अमृत का शोषण करता रहता है; दूध = अमृत जो सहस्रार से चूता है। यह धेनु ब्रह्मानुभूति या समाधि भ्रुकुटी या ब्रह्मरंध्र में रहती है। बारह बछड़ा = बारह कला वाला सूर्य; सोलह गाय = सोलह कला वाला चंद्रमा)

चीटी केरा नेत्र में गज्येन्द्र समाइला
गावड़ी के मुख मै बाघला विवाइला
बारस बरसै बंझ ब्याई हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिन्द्र का पूता

(चींटी की आँखों में गजेन्द्र समा जाता है अर्थात् सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप समा गया। गाय के मुँह में बाघिन ब्याहता है अर्थात् इसी भौतिक जीवन में उसको नाश करने वाला आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। धार्मिक जीवन 'बंझा'-जीवन है। इसी में साधना के उपरांत ज्ञान-उत्पत्ति 'बांझ का विवाइना' है। जब ज्ञानोदय हो जाता है, तब माया शक्तिहीन हो जाती है, यही उसके हाथ-पाँव का टूटना है।)

(६) गुरु की महत्ता

गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला
गुरु बिन ग्यान न पायला वे भाइला

अन्य रहस्यमार्गों की भाँति गोरखनाथ के योग-मार्ग में भी गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक साधनों ने 'निगुरे' को सदा ही अवहेलनीय माना है। गोरखनाथ भी कहते हैं—'किसी गम्भीर गुरु का आश्रय खोजो, गम्भीर अर्थात् तत्त्वज्ञानी। निगुरे रहने में कल्याण नहीं है। हे भाई, गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति असंभव है।' उपनिषदों के समय से मध्ययुग के संतों के समय तक साधकों ने जिज्ञासुओं के लिए बारबार गुरु की महत्ता की घोषणा की है। एक दूसरे स्थान पर गोरख कहते हैं—'एक ही सूत्र से नाना रूप बने हुए हैं जो बहुत प्रकार से देखने में आते हैं। गोरखनाथ गुणरहित माया का यह वर्णन करते हैं। सद्गुरु ही ऐसी माया का विवेक करा सकता है—'भणंत गोरषि त्रिगुणी माया सतगुरु होइ लषावै।' माया के इंद्रजाल से मुक्ति पाने के लिए गुरु-ज्ञान ही सबसे बड़ा अस्त्र है।

(७) 'कलाली, 'प्याला', 'मद' आदि में उच्च उन्मनावस्था की भावानुभूति का द्यौतन है। बाद के संतों में इसके साहित्य का, इस प्रतीक का खूब प्रचार हुआ। संत-साहित्य में यही प्रतीक परंपरा से प्राप्त हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत-साहित्य को नाथ-साहित्य से ही अपने लगभग सभी विषय मिल गये। उन्मन-

अवस्था की प्राप्ति, षटचक्रभेदन और शतशः प्रतीक जिनका इस साधना से संबंध है—यही नहीं, भाषा-शैली, वही शब्द, वही राग (पद)। वही साखी। गोरखनाथ की वाणी में अनेक सहज रूपक ग्राम्य-जीवन और कृषि से लिए गए हैं। संतों ने भी अपने ही चारों ओर से रूपक इकट्ठे किये।

इनके अतिरिक्त संतों और योगियों के जीवन का आदर्श (रहणि) भी एक ही है। गोरख कहते हैं—

शील धृत संतोष वृत, छिपा दया व्रत दान।
ये पांचों व्रत जो गहै, सोइ साध सुजान॥

और भी—

एक बरत गुरु पुनि लहै सेवा। दूजा व्रत संतोष सेवा
तीजा व्रत दया चित रहै। चौथा व्रत ब्रह्म कौ लहै
इक व्रत जो इन्द्री गहै। दूजा व्रत राममुष कहै॥
तीजा व्रत मिथ्या नहीं आषै। चौथा व्रत दया मनि राखै॥
सांचों व्रत कहे ये चारी। जिस भाव सो लेहु विचारी॥

यही नहीं, गोरख वाणी में भक्त के ३२ लक्षण भी कहे गये हैं—

ग्यान पारछ्या—निरलोभी, निहचज, निखासीक, निहिसबद
बिचार पारछ्यो—निरमोही, निरबंध, निसंक, निरबांन
बयेक पारछ्यो—सरबंजी, सावधान, सति, सारग्रही
संतोष पारछ्यो—अजाचीक, अबांछीक, अमानीक अस्थिर
निरबल पारछया—निहितरंग, निहपरपंच, निरदुंदी, निरलेप
सहज पारछ्या—सुमती, सुहदी, सीतल, सुखदाई

सील पारछ्या—सुचि, संजम, सति, श्रोता
सुंनि पारछ्या—ल्यौ, लषि, ध्यान, समाधि
एती अष्टांग जोग पारछ्या, भगति का लछिन ।
सिधा पाई साधिकां पाई, जे जन उतरे पार ॥

बाद के संत-साहित्य में इसी सूत्र को हम आगे विकसित पाते हैं।

गोरख-मत में एक बात ऐसी है जो भारतीय धर्म के इतिहास में विचित्र हैं। गोरख बालक को आदर्श मानते हैं। उसकी आत्मनिर्लेपता पाना ही योगी का ध्येय है। गोरख ने पूर्ण योगी को बालक ही कहा है। "गोरख गोपालं" "गोरख बालं', इसी भावना की प्रतिध्वनि है। संभव है गोपाल कृष्ण की पूजा-प्रतिष्ठा से इसका कोई संबंध निकल सके।

रामानंद के ऊपर नाथ-संप्रदाय का गहरा प्रभाव था। उनके नाम से 'ग्यान-तिलक' नाम की एक रचना मिलती है जो नाथों के साम्प्रदायिक शब्दों में ही लिखी गई है। बज्रयानी सिद्धों की धारा का आरंभ ८ वीं शताब्दी में हुआ है और भोटिया-साहित्य की सहायता से १२ वीं शताब्दी तक हम इस धारा का इतिहास निरूपित कर सकते हैं। बाद की तीन शताब्दियों में योग (नाथ) साहित्य में यही भावधारा विकसित हो रही थी। कबीर रामानन्द के द्वारा जहाँ एक ओर योगधारा से संबंधित हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हीं के द्वारा भक्तिधारा से। जोगेसुरी वानी ११०० के लगभग

से मिलने लगती है। कबीर के समय में योग-पंथ काफ़ी प्रबल था। जायसी के समय तक बालाजी का टीला (पंजाब) योगियों का प्रधान केन्द्र था। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी तक योगधारा चलती रही। यद्यपि योगी बाद में भी रहे और उनके अखाड़े और योगपीठ आज भी वर्तमान हैं, परन्तु बाद में उनका साहित्य न मात्रा में अधिक है, न प्रभाव में। कबीर से जिस संत-साहित्य का आरंभ हुआ वह आज तक किसी न किसी रूप में चला आता है। १८ वीं शताब्दी तक संत-धारा प्रबल रूप में मिलती है। ६ वीं शताब्दी में गोपीचन्द्र, भरथरी, मयनावती, मछीन्द्र, हाड़िपा, जलंधर, चर्पट, चौरंगी आदि लोक-प्रसिद्ध योगियों को आधार बनाकर 'गान' और कहानियों की रचना हुई है। मछीन्द्र नाथ का कामरूप वास, सिंहल में उनकी परीक्षा, मयनावती रानी की कथा अब भी प्रसिद्ध हैं। "हिंदी साहित्य के इतिहास में गुरु गोरखनाथ और उनके पंथवालों की रचनाओं का एक विशेष महत्त्व का स्थान प्राप्त है। इनके पदों व सबदियों की रचना का समय बौद्ध सिद्धों के प्राचीन दोहों और चर्यागीतियों के प्रायः पीछे तथा संतों के शब्दों एवं साखियों के बहुत पीछे आता है। तदनुसार यदि आज तक की इन सभी उपलब्ध रचनाओं का एक साथ तुलनात्मक अध्ययन कर उस पर विचार किया जाय तो इनके विषय, भाषा, व रचना-शैली में एक विचित्र साम्य दीख पड़ेगा और जान पड़ेगा कि लगभग एक ही प्रकार की विचारधारा

व परम्परा का क्रमिक विकास बहुत काल तक निरन्तर होता गया। उदाहरण के लिए मन-मारण या आत्मशुद्धि, सहज भाव या सहजानुमति, विडम्बना विरोध की स्पष्टवादित की झलक दीच्तित को न लगे। तथा रूपकों और उलट-बाँसियों के द्वारा उपदेशों व सिद्धांतों के स्पष्टीकरण में निराला ढंग ही, बराबर लक्षित कहते थे'। (रामचंद्र टंडन : 'गोरखवाणी')

—प्रकाशन का वक्तव्य

गोरखनाथ ने प्राचीन हठयोग-पद्धति की अनेक बातों को स्वीकार करते हुए भी उसकी बहुत सी क्रियाओं का केवल लाक्षणिक अर्थ ही निकाला है, और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, केवल वाह्य बातों में न पड़ कर बहुत घोर चिंता प्रगट की है कि हमें आत्मचिंतन की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके सिवाय उन्हें वाह्य विंडबनाओं के प्रति बड़ी घृणा है और वे कल्पित देवी-देवताओं को आराधना के प्रति अश्रद्धा तथा वर्ण-विभेद व साम्प्रदायिक संकीर्णता के प्रति विरोध प्रदर्शित करते हुए और ब्रह्मचर्य आत्मसंयम वा युक्ताहार-विहारादि में अटूट विश्वास रखते हुए दीख पड़ते हैं

'गोरखवाणी' के अध्ययन से गोरखनाथ के तत्त्वज्ञान और रहस्यवाद के संबंध में भी बड़ा प्रकाश पड़ता है। वह जिस 'परम तत्त्व' को साधना के लक्ष्य के रूप में सामने रखते हैं, वह बौद्धों के शून्य और संतों के निर्गुण राम से अधिक भिन्न नहीं है। 'परमतत्त्व' तक किसी की पहुँच नहीं है। वह

इंद्रियों का विषय नहीं है। 'वह ऐसा है कि हम न उसे बस्ती कह सकते हैं न शून्य। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है और न यह कि वह कुछ नहीं है। वह भाव और अभाव, सत और असत् दोनों से परे है। वह आकाशमंडल में बोलने वाला बालक है। उसका नाम कैसे धरा जा सकता है।'[२५] इस अचिन्त्य परमसत्ता की प्राप्ति के संबंध में गोरखनाथ कहते हैं—'न देखे हुए (परब्रह्म) को देखना चाहिए। जो आँखों से देखा नहीं जा सकता उसे चित्त में रखना चाहिए। पाताल (मणि-पुर चक्र) की गंगा (योगिनीशक्ति, कुंडलिनी) को ब्रह्मांड (ब्रह्मरंध्र, सहस्रार या सहस्रदल कमल) में प्रेरित करना चाहिए। वहाँ पहुँच कर योगी साक्षात्काररूप निर्मल रस पीता है।'[२६]

बौद्ध रहस्यवादियों की तरह गोरखनाथ भी ब्रह्म को काया में स्थित समझते हैं—'अक्षय परब्रह्म यहाँ अर्थात् सहस्रार या ब्रह्मरंध्र (शून्य) में ही है। वह गुप्त (अलोप) है। तीनों लोकों की रचना यहीं से हुई है। ब्रह्म ही का व्यक्तरूप यह ब्रह्मांड है। ब्रह्मांडरूपी केन्द्र से ही उसने अपना सर्वदिक् प्रसार किया है। ऐसा जो अक्षय परब्रह्म सदा हमारे साथ रहता है, उसी को

२५—बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिषर महि बालक बोलै, ताका नाँव धरहुगे कैसा॥

२६—अदेषि देखिवा देषि विचारिवा अदिसिटि राषिवा चीया।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा, तहाँ विमल जल पीया॥

प्राप्त करने के लिए अनन्त सिद्ध योगमार्ग में प्रवेश कर योगेश्वर हो जाते हैं।[२७] इसी लिए कायागढ़ में ही ब्रह्म की प्राप्ति संभव है। इसके लिए गोरख ने आत्मसंयम और आत्मसाधन का विधान किया है। "जो अजपा का जाप करता है, ब्रह्मरंध्र (शून्य) में मन को लीन किये रहता है, पाँचों इंद्रियों को अपने वश में रखता है, ब्रह्मानुभूति रूपी अग्नि में अपने भौतिक अस्तित्त्व (काया) की आहुति कर डालता है, योगीश्वर महादेव भी उसके चरणों की बन्दना करता है।"[२८] योग-साधना की अंतिम अवस्था में साधक रातदिन बर्हिमुख मन को उन्मनावस्था में लीन किये रहता है। इस अवस्था में उसे ब्रह्म के अलौकिक माधुर्य और अपार्थिवक आनंद का आभास होता है। गोरख-साहित्य में बार-बार इस माधुर्य और आनंद को जीवित किया गया है। "(ब्रह्म की) सुगंधि से सारा जगत सुगंधित है। (वह जगत में सुगंधि के समान व्याप्त है।) उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है। जिसको ब्रह्मानंद का

२७—इहाँ ही आछै इहाँ ही अलोप।
इहाँ ही रचिलै तीन त्रिलोक॥
आछै संगै रई जू वा।
ता कारणि अनंत सिधा जोगेश्वर हूआ॥

२८—अजपा जपै सुंनि मन धरै, पाँचों इंद्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि में होमै काया, तास महादेव वंदै पाया॥

आस्वाद मिल जाता है उसके लिए संसार के आत्यंतिक दुःख की कटुता मिट जाती है और जगत् आनन्दमय (मीठा) हो जाता है।[२९] इस ब्रह्मानंद का स्वाद जिसे मिल जाता है, उसमें हलकापन नहीं रहता। 'जो भरे हैं, ज्ञानपूर्ण हैं, वे स्थिर-गंभीर होते हैं, अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते नहीं फिरते। जो अध-कचरे हैं वे छलछलाते रहते हैं, चंचलतावश जगह-बेजगह ज्ञान छाँटते रहते हैं। किंतु इससे लाभ किसी को नहीं होता। सिद्ध ऐसे लोगों से नहीं बोलते। हे अवधूत ! जब सिद्ध मिलते हैं तभी उनमें वार्तालाप सम्भव है। उसमें उन्हें लाभ भी होता है। भरा पात्र नहीं छलकता, आधा ही छलकता है।''[३१]

गोरख की साधना-प्रणाली में कायास्थित मन की महान् शक्तियों को जगाना आवश्यक है। इसी से मन का इस साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोरख कहते हैं—यही मन शिव है,

---

२९—अहनिसि मन लै उनमन रहै
गम की छाड़ि अगम की कहै
छाड़े आसा रहै निरास
कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास

३०—बास सहेतो सब जग बास्था, स्वाद सहेता मीठा
साच कहूँ तौ सतगुर मांनै रूप सहेता दीठा

३१—भर्‍या ते थीरं झलझलंति आधा
सिधे सिध मिल्या रे अवधू बोल्या असलाधा

यही मन शक्ति है, यही मन पंचतत्त्वों से निर्मित जीव है; मंत्र का अधिष्ठान भी शिवतत्त्व परब्रह्म ही है। माया (शक्ति) के संयोग से ही ब्रह्म मन के रूप में अभिव्यक्त होता है और मन ही से पंचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। इसलिए मन का बहुत बड़ा महत्त्व है। मन को लेकर उन्मनावस्था में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है। वह तीनों लोकों की बातें कह सकता है। मन को ब्रह्मानुभूति के लिए तैयार करने के लिए मन-शुद्धि और निग्रह की साधना पहले आती है। इसी-लिए प्राणायाम का विधान है। "हे अवधूत, दम (प्राण) को पकड़ना चाहिए, प्राणायाम के द्वारा उसे वश में करना चाहिए। इससे उन्मनावस्था सिद्ध होगी। अनाहत रूपी तूरी बज उठेगी और ब्रह्मरंध्र में बिना सूर्य या चंद्रमा के (ब्रह्म का) प्रकाश चमक उठेगा।[३२] इस अनहदनाद की साधना और चक्रभेद को गोरख ने विशद रूप से समझाया है। परन्तु वह इन साध-नाओं को ही सब कुछ समझ नहीं लेते। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरष खोजी और बाट ॥

(गोरखनाथ ने दशम द्वार को भी बन्द कर और ही बाट से परब्रह्म की खोज की है।) यह मार्ग है ब्रह्मचर्य और आत्म-चिंतन का मार्ग। ब्रह्मचर्य पर जितना बल गोरखपद्धति में है,

---

३२—अवधू दमकौं गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूँ बाजवा अनहद तूरं
गगन मंडल मैं तेज चंमकै, चंद नहीं तहाँ सूरं

उतना कदाचित् किसी साधना में नहीं। गोरखनाथ बारबार कहते हैं—

चारि पहर आलिंगन निद्रा, संसार जाइ विषया बाही
ऊभी बाँह गोरखनाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई

एक अन्य स्थान पर वह कहते हैं—बिंदु ही योग है, बिंदु ही भोग है, बिंदु ही चौसठ रोगों का हरण करता है। इस बिंदु का भेद कोई बिरला ही जानता है। (जो जानता है) वह आप ही ब्रह्मा है, आप ही ब्रह्म।[33] परन्तु केवल बिंदुसाधना से कुछ नहीं होता। 'बिंदु बिंदु बोलते तो सब हैं, किंतु महाबिंदु (ब्रह्मतत्त्व) को कोई बिरला ही प्राप्त करता है। आध्यात्मिक अनुभूति के बिना जो बिंदु (शुक्र) मात्र के अर्थ बंधक्रिया का आसण ग्रहण करता है उसका शरीर (स्कंध) स्थिर होता नहीं देखा गया है।'[34] बिंदुसाधन के साथ ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान (आत्म-ज्ञान) भी चाहिये।

जान पड़ता है, गोरखनाथ की विचारधारा पर गीता और उपनिषदों की छाप पड़ी है। अनेक प्रसंग स्पष्ट रूप से इन्हीं

३३—व्यंद ही जोग व्यंद ही भोग। व्यंद ही हरै चौसठि रोग॥
या बिंद का कोई जांणैं भेव। सो आपैं करता आपैं देव॥

३४—ब्यंद ब्यंद सब कोई कहै। महाब्यंद कोइ बिरला लहै॥
इह ब्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देखो कंध॥

स्रोतों से लिए गए हैं। उपनिषद् के ऋषियों के स्वर में स्वर मिला कर गोरख कहते हैं—'परब्रह्म आत्मतत्त्व से बाहर है, न भीतर; न निकट है, न दूर। ब्रह्मवेत्ता आचार्य उसे खोजते ही रह गये, उसका रहस्य नहीं पा सके। श्वेत स्फटिक मणि को हीरे ने बेध लिया। आत्मा ने रहस्य का भेदन कर ब्रह्मसाक्षात्कार कर लिया। इसी परमार्थ के लिए गोरखनाथ ने साधना सिद्धि की।[३५] इसी प्रकार उनके रहस्यवादी अनुभवों में भी उपनिषद् के स्वर गूँजते हैं—'(वहाँ) खूब झरने वाले झरने पर अमृतरस पीने को मिलता है। वहाँ जा कर गोरखनाथ ने चंद्रमा के बिना प्रकाश देखा अर्थात् कारणरहित स्वतः प्रकाश परब्रह्म का दर्शन किया।' 'गगनमंडल (सहस्रार) में शून्य द्वार (ब्रह्मरंध्र) है। वहाँ घोर अंधकार में बिजली चमकती है। उसी में से नींद आती जाती है और पंचतत्त्व में समा जाती है।[३६] 'गगन में अनहद्‌नाद की गर्जना हो रही है।'[३७] उपनिषदों के पाठक इस प्रकार के अनुभवों से भली भाँति परिचित हैं। इस प्रकार के अनुभव रहस्यवादी अनुभव की कोटि में ही आ सकते हैं। वास्तव में गोरखनाथ के योग में कई आध्यात्मिक तत्त्वों का समन्वय है :

१—हठयोग (चक्रभेद की साधना)

३५—गोरखवाणी, सबदी १७४
३६— ,, ,, १७६
३७— ,, ,, १७७

२—अनहदनाद (उपनिषदों की शब्दसाधना)

३—आत्मचिंतन (उपनिषदों का प्रभाव)

४—'विंदु' की साधना

५—शैव-साधना

६—बौद्ध सिद्धों की 'शून्य' (सुन्न) साधना। इस प्रकार हम देखते हैं, गोरखनाथ के रहस्यवाद में अनेक तत्त्वों का मिश्रण है। 'आदिनाथ' के रूप में शिव का उल्लेख बार-बार मिलता है। परंतु गोरखनाथ ने शिवतत्त्व की नई ही व्याख्या की है। उनके लिए शिव बाहर रहने वाले देवता नहीं हैं। वह तो काया के भीतर ही निवास करते हैं—इस प्रकार बाहर के शिवदेवता ही भीतर के ब्रह्म बन गये हैं। कायातत्त्व में स्थिर यह परमेश्वर (शिव) व्यापी अनंत तत्त्व से भिन्न नहीं है। गोरखनाथ स्पष्ट कहते हैं—

एक मैं अनन्त अनन्त मैं एकै, एकै अनंत उपाया।

अंतरि एक सौं परचा हूवा, तब अनंत एक मैं समाया॥

(एक अर्थात् परब्रह्म में ही अनंत सृष्टि का वास है। और अनंत सृष्टि में एक ही परब्रह्म का निवास है। उस एक ही ने इस अनंत सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यंतर—हृदय—में उस एक से परिचय हो जाता है तब सारी सृष्टि एक ही में समा जाती है। इस साधक की एकतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) की खोज को गोरखनाथ ने अनेक रूपों में कहा है। जिस प्रकार उपनिषदों के ऋषियों ने ब्रह्म को विरोधी-धर्माश्रय बता कर कहा

है कि वह चलता है और नहीं भी चलता, देखता है और नहीं भी देखता, इत्यादि, उसी तरह गोरखनाथ कहते हैं—

बूझौ पंडित ब्रह्म गियानं, गोरख बोले जाण सुजांनां ॥टेक॥
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषां, पान फूल बिन फलिया
बाँझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ॥१॥
गगन बिन चंद्रम, ब्रह्मांड बिन सूरं, झूझ बिन रचिया थानं
ए परमारथ जे नर जांणैं, ता घटि सरन गियानं
सुंन न अस्थूल ल्यंग नहीं पूजा, धुनि बिन अनहद गाजै
बाड़ी बिन पहुप पहुप बिन साइर, पवन बिन भृंगा छाजै
राह बिन गिलिया अगनि बिन जलिया, अंबर बिन जलहर भरिया
यहु परमारथ कहौ हो पंडित, जुग-जुग स्याम अथरबन पढ़िया
ससंमवेद सोहं प्रकासं, धरती गगन न आदं
गंग जमुन बिन षेलै गोरख, गुरु मछिंद्र प्रसादं

(हे पंडित, ब्रह्मज्ञान को समझो । सुजान ज्ञानवान गोरखनाथ ब्रह्मज्ञान कहता है । ज्ञान अर्थात् परब्रह्म की बिना बीज के उत्पत्ति हुई है, वह बिना मूल का वृक्ष है, वह बिना पत्तों और फूलों के फल जाता है अर्थात् प्राकृतिक नियम उसे नहीं बाँधते । वह बंध्या का बालक है अर्थात् अजन्मा है और किसी कारण का कार्य नहीं है । वह बिना आकाश का चंद्रमा है और बिना ब्रह्मांड का सूर्य, बिना मैदान के युद्ध है । इस परमार्थ को जो जानता है उसके शरीर में अर्थात् उसके भीतर परमज्ञान का उदय हो जाता है । वह न शून्य है न स्थूल, न उसके चिन्ह, न

उसकी पूजा ही है। बिना शब्द के अनहद्-नाद का गर्जन होता है। बिना बाटिका के पुष्प है और बिना पुष्प के सौरभ है और बिना वायु के भृंगों का मंडराता हुआ समूह शोभा दे रहा है। वह राहू के बिना ग्रस लेता है। अग्नि के बिना जला देता है। आकाश के बिना बादल उमड़ आते हैं। हे ऋग, यजुः, साम और अथर्वण वेदों को पढ़े हुए पंडितो! इस परमार्थ का वर्णन करो। निरालंब ब्रह्मानुभूति किसी कारण का कार्य नहीं है। यहाँ माया के निर्मित जगत के ध्वंस आनंदानुभव की ओर संकेत है जो ब्रह्मानुभुति के द्योतक हैं। यह स्वसंवेद्य स्वयं प्रकाश सोहं भाव है जो न धरती में है, न आकाश में है और न जल में। गुरु मछंदर के प्रसाद से गोरखनाथ गंगा अर्थात् इड़ा और जमुना अर्थात् पिंगला के बीच सुषुम्ना में खेल रहा है अर्थात् समाधिस्थ होकर आत्मसाक्षात्कार कर रहा है।)

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि शून्य, स्वंसंवेद्य इत्यादि कितने ही अनुभूतिपरक शब्दों के लिए नाथ बौद्धसाधकों के ऋणी हैं। गोरखनाथ के साहित्य में माया का नाम बराबर आया है। निःसंदेह यह शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव है। शंकर का ब्रह्मवाद बौद्धों के शून्यवाद से कुछ भी भिन्न नहीं है, इसी से शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है। शंकराचार्य ने स्वयं शिव और विष्णु की स्तुतियाँ लिखी है, इससे स्पष्ट ही वे आत्मवादी हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्धों के निर्वाण और शून्य ने गोरख से पहले ही आत्मवाद का जामा

पहन लिया था। शिव और विष्णु ही ब्रह्म मान लिये गये थे। इस प्रकार निर्गुण भाव में प्रेम (भक्ति) की भावना का समावेश हुआ। गोरखनाथ के काव्य में निर्गुण भावना के साधारणीकरण की यह प्रक्रिया स्पष्ट ही दिखलाई देती है। नाथपंथी शिव के उपासक हैं परंतु वे निःसंदेह शैवों से भिन्न हैं। वे शक्ति (कुंडलिनी) को मानते हैं, परंतु वे शाक्त नहीं हैं। उन्होंने शिव-शक्ति को अपने ब्रह्मवाद का प्रतीक ही बना दिया है। बाहर की मूर्तिपूजा व्यक्ति की आभ्यंतरिक साधना बन गई है। इसके कारण ही नाथपंथ में रहस्यवाद का समावेश हुआ है। वास्तव में नाथपंथ में योग, औपनैषदिक ब्रह्मवाद, भक्ति और सिद्धों की शून्य साधना का अद्भुत समन्वय है। भक्ति की मात्रा उसमें अधिक नहीं परंतु नामस्मरण और अजपाजाप इत्यादि का महत्त्व भक्ति की महत्ता को सूचित करता है। शिव-शक्ति के स्थूल प्रतीकों के बाद भक्ति का प्रवेश आवश्यक था। सच तो यह है कि ब्रह्मवाद और आत्मवाद का पहला योग नाथपंथों की शैवभावना में ही हुआ। ६ वीं शताब्दी से १३ वीं – १४ वीं शताब्दी तक समस्त उत्तरी भारत में शैवों-शाक्तों की ही प्रधानता थी और सिद्धपीठ (नाथद्वारे) सारे भारत की अध्यात्म-भावना का केन्द्र हो रहे थे। १४ वीं शताब्दी में महाराष्ट्र योगियों का केन्द्र बन रहा था। यहीं विठोवा (विष्णु) के मंदिर में योग और भक्ति (वैष्णवभक्तिवाद) का समन्वय हुआ। ज्ञानदेव और नामदेव में यह

समन्वय पहले-पहल दिखलाई पड़ा। नामदेव का जन्म समय प्राय: १२८० ई० है। जोगियों (नाथपंथियों) की शैवाद्वैत भावना को ही हम नामदेव के काव्य में वैष्णव अद्वैत भावना का रूप ग्रहण करते पाते हैं। नामदेव के बाद त्रिलोचन का नाम आता है। उनके बाद रामानंद (जन्म संवत् १२९९) आते हैं। नामदेव ने हरि, गोविंद, मुरारी इत्यादि कृष्णपरक नाम लिए। विठोबा को बालकृष्ण कह कर प्रचारित किया गया था, अत: ब्रह्म के रूप में कृष्ण की भावना नामदेव से ही चली। रामानंद राम के उपासक थे। अतः ब्रह्मराम की भावना के वे प्रवर्तक हुए। 'सैना' ने एक पद में कहा है—'राम भगति रामानंद जानै, पूरन ब्रह्म बखानै'। अत: यह स्पष्ट है कि ब्रह्म राम की जो भावना कबीर में मिलती है उसके प्रवर्तक स्वयं कबीर नहीं, रामानंद हैं। रामानंद के सारे शिष्यों ने मुख्यत: 'राम' का ही आश्रय लिया। रामानंद में निर्गुण-सगुण और योग-भक्ति का जो समन्वय था वही बाद में संतमत के रूप में सामने आया। वास्तव में गोरखनाथ के शैवाद्वैत और संतों के ब्रह्मराम में एक ही प्रकार की रहस्यभावना के दर्शन होते हैं। केवल नामभेद के रूप में प्रतीकभेद आ गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथ और योगियों के रहस्यवाद ने संतमत को एक विशेष दिशा दी। अनेक पारिभाषिक शब्दों और अनेक विचारधाराओं में समानता इसी आदान-प्रदान की ओर संकेत करती है।

जो हो, यह निश्चित है कि गोरखनाथ का काव्य सिद्धों की कविता और संतों की वाणी को जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है। अभी तक इस शृंखला की सारी कड़ियाँ खुल नहीं पाई हैं। परंतु वह दिन दूर नहीं है जब हम अपनी एक हज़ार वर्ष लम्बी निर्गुण प्रेममार्गी साधना का सच्चा रूप प्रतिष्ठित कर सकेंगे।

(ग) शृंगार रस की कविता : सामंती काव्य

शृंगार रस की कविता का सम्बन्ध भी सामंती काव्य से था। सामंतों का जीवन-दर्शन ही ऐसा था जिसमें भोग का बड़ा महत्त्व था। युद्ध-व्यवसायी समाज में नारी का स्थान सदैव क्रीतदासी का रहा है। अन्य विलास-सामग्री की तरह वह भी सामंतों और अमीरों के खेल की वस्तु रही है। यही अपने युग की सारी सम्पत्ति के स्वामी और उसके भोक्ता थे। उस का वर्णन करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—"उस काल के कन्नौज, मान्यखेट और पटना के राजमहलों में विलासी भोजन, शौकीनी के वस्त्र, सुगंधित द्रव्य पर कितना खर्च होता रहा होगा। प्रजा की मेहनत की कमाई से उपार्जित यह महार्घ वस्तुएँ चार-पाँच दिन में ही खतम हो जाने वाली थीं। इसके अतिरिक्त भी सामंतों के भारी खर्च थे।—नये-नये महल, क्रीड़ा-उपवन, सिंहासन, राजपलंग, मोरछल, चमर और लाखों के हीरा-मोती-महार्घ-रत्नों के आभूषण। राजमहलों की सजावट, चित्रकला, क्रीड़ामृग, सोने के पींजड़ों में बन्द शुक-सारिका, लोहे

के पींजड़ों में बंद केसरी। दूर-दूर देशों से लाई कितनी ही दुर्लभ महार्घ वस्तुओं के संचय में भी देश की सम्पत्ति का भारी भाग खर्च होता था। फिर सामंत या राजा अकेले ही उस सम्पत्ति को स्वाहा नहीं करते थे। उस समय के राजाओं के आदर्श थे—कृष्ण और दशरथ तथा उनकी सोलह-सोलह हज़ार रानियाँ। ये रानियाँ मोटा-झोंटा कपड़ा पहन, रूखा-सूखा खाकर दिन काटने के लिए रनिवास में नहीं रखी जाती थीं। इन हज़ारों रानियों और उसी के अनुसार उनके पुत्रों-पुत्रियों, बहुओं-दामादों का खर्च भी देश की उसी संपत्ति के मत्थे था। राजवंश के अतिरिक्त कितने ही राजच्युत भगोड़े राजवंशी भी प्रजा की गाढ़ी कमाई में आग लगाने के अधिकारी थे। उस वक्त राजवंशों का उच्छेद अक्सर होता रहता था, फिर वे अपने सम्बन्धियों के पास कन्नौज से सिंहल तक का चक्कर काटते रहते थे।" दूर-पड़ोस की राजकुमारियों के लिये बराबर युद्ध हुआ करते और उसमें देश के धनजन का अपार नाश होता। परन्तु सामंतों को देश की क्या चिंता? सामंती कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता की झूठी प्रशंसा के पुल बाँध देते। अपने काव्य द्वारा वह उनकी विलासी मनोवृत्ति का चिर जाग्रत रखते। इसीसे उस समय का सामंती काव्य प्रेम के अमृत के नाम पर विलास की वारुणी पिलाता है और नारी का अस्तित्व उसके काव्य में कच-कुच कटाक्ष तक सीमित रह गया है।

स्वयंभू (७६० ई० के लगभग) कदाचित् कन्नौज या कोसल

के रहने वाले थे। वह राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुवधारावर्ष (७८०—९४ ई०) के अमात्य रयडो के साथ दक्षिण चले गये थे। वहीं उन्होंने रामायण (पउमचरिउ) और हरिवंशपुराण की रचना की। इन रचनाओं पर सामंती वातावरण का प्रभाव स्पष्ट है। सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि राजरानी का ही सौंदर्य वर्णन करता है :

थिर कलहंस-गमण गइ मंथर। किस मज्झारें णियंवें सुवित्थर॥
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी। णं पिंपिलि-रिंछोलि विलिण्णी॥
अहिणव-हुड्डपिंड पीणत्थण। णं मयगल उर खंभणिसुंभण॥
रेहइ वयण-कमलु अकलंकउ। णं माणस-सर विअसिउ पंकउ॥
सुललिय-लोयणु ललिय-पसण्णहँ। णं वरहत्त मिलिय वर कण्णहँ॥
घोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि। चंदन-लयहिं ललइ णं णायणि॥
घत्ता। किं वहु जंपिएण तिहिं भुयणिहिं जं जं चंगउ।

तं तं मेलवेवि णं, दइवें णिम्मिउ अंगउ॥

—रामायण ३८।३

(थिर कलहंस-गमन गति मंथर। कृश मंझारे नितँब सुविस्तर॥
रोमावली मकरघर तीनी। जनु पिपीलिका पंक्ति विलीनी॥
अभिनव हूड पिंड पीनस्तन। जनु मदकल उर-खंभ निजीतन॥
राजै वदन-कमल अकलंकउ। जनु मानससर विकसेउ पंकज॥
सुललित लोचन ललित प्रसन्ना। जनु वरियात मिलेउ वर कन्या॥
डोलै पीठिहिं वेणि महाइनि। चंदन लतहिं ललै जनु नागिनि॥

का बहु जल्पनेहिं तिहु भवनहिं जो जो चंगा।
सो सो मिलाईया जनु दैवें निरमेउ अंगा ॥

इस वर्णन में और विद्यापति की नायिका के नखशिखवर्णन में जरा भी अंतर नहीं है। वही परंपरागत उपमान, वही वर्णन-शैली। जान पड़ता है, प्रकृति और कल्पना की सारी सुषमा को कवि ने नारी के चरणों पर निछावर कर दिया है और उससे प्रणयप्रार्थी हो रहा है। अयोध्या के रनवास का वर्णन देखिये—

की चरणतलाग्रा कोमला। जनु-जनु अभिनव रक्तोत्पला ॥
की ऊरु परस्पर भिन्न तेज। जनु जनु वर रंभा-खंभ एह ॥
की कनकडोर डोलइ विशाल। जनु जनु अहि रतननिधान पाल ॥
की त्रिवली जठरु परि धाइया। जनु जनु कामयुरिहि खाइँया ॥
की रोमावलि घन-कृष्ण एह। जनु जनु मदनानल धूम लेख ॥
की नव थन, जनुजनु कनक-कलश। की कर, जनुजनु प्रारोह सरिस ॥
की आलंवित करतल चलंति। जनु जनु आशोक पल्लव ललंति ॥
की आनन, जनुजनु चंद्र बिंब। की अधरउ, जनुजनु पक्व विंव
की दशनावलिउ स मौक्तिकाउ। जनुजनु मल्लिक-कलियहीं भाउ ॥
की गंडपास जनु दंतिदान। की लोचन, जनु जनु कामवाण ॥
की भौंहा एह परिस्थिताउ। जनु जनु मन्मथ धनु यष्टियाउ ॥
की कर्ण कुंडलाभरण एह। जनु जनु रवि शशि विस्फुरित तेज ॥
की भालउ, जनु जनु शशधरार्ध। की शिर, जनु जनु अलि-कुल-निबद्ध

—रामायण ६६।२१

सामन्तों की विलासिता ने नई-नई कलाओं की सृष्टि की थी।

स्वयंभू ने राष्ट्रकूट ध्रुव और उसके उत्तराधिकारी के जल-क्रीड़ामंडप में जो देखा-सुना था, उसी का वर्णन उसने अपनी रामायण में जलक्रीड़ा के रूप में किया। उस समय सामन्तों के स्नान-कुंड, स्नान-मंडप, उसके खंभे और दीवारों के अलंकृत करने में जंगम और स्थावर रत्नों का अपार व्यय होता था। सामंतों की कला का प्रधान उद्देश्य कामोद्दीपन था। संगीत, कला, कविता, नृत्य, चित्रकला—सभी को इसी एक उद्देश्य से सम्बन्धित किया गया था। इस पृष्ठभूमि में जलक्रीड़ा का यह वर्णन रोचक होगा :

तहँ सर नभ-तले स्वस्व-कलत्रेहिं हरि-हलधरा।
रोहिणि रानिहिं जनु प्र-रमेउ चंद्र दिवाकरा॥

तहँ तेहि हि सर सलिल तरंता। संचरहीं चामीकर यंत्रा॥
नारि-विमाना स्वर्गहँ पड़िया। वर्ण-विचित्र रत्न वीजड़िया॥
नाहि रतन जहिं जंतु न गढ़ियउ। नाहि जंतु जहिं मिथुन न चढ़ियउ॥
नाहि मिथुन जँह नेह न बढ़ियउ। नाहि नेह जहँ सुरत न बढ़ियउ॥
तहँ नर-नारि-युवति जलक्रीड़ैं। क्रीड़ंती नहाइ सुर लीलैं॥
सलिल कराग्रहिं उच्छालन्तै। मुरजवाद्य थापा दरसन्तै॥
स्खलितहिं वलितहिं अभिनव गीतेहिं। बर्द्ध सुरत-समन्विततेजहि॥
छन्देहिं तालेहिं बहुलय भंगहिं। करुणोत्क्षेपी नाना भंगहिं॥

चक्षु सरागउ, शृंगार हार-दरसावन।
पुष्प रज्जु युध्यंत, जल क्रीडनउ सलखावन

—रामायण २६।१४—१६

शृंगारभाव की इस सामंत-युग में इतनी प्रधानता है कि युद्ध के प्रसंग में भी कवि प्रेमी-प्रेमिका की चुहल को नहीं भूलता। रावण के सैनिक युद्ध के लिए विदा हो रहे हैं। उनकी पत्नियाँ उन्हें युद्ध-क्षेत्र के लिए सजा रही हैं और आलिंगन-परिरंभण के साथ बिदा दे रही हैं। कवि कहता है :

कोइ कंत चिम्हाईं पूजै। कोइ कंत निज कंत प्रसाधै।
कोइ कंत-मुख धोवन करावै। कोइ कंत दर्पण दरसावै॥
कोइ कंत-प्रिय-नयनहिं अंजै। कोइ कंत रणतिलक प्रयोगै॥
कोइ कंत सविकारउ जल्पै। कोइ कंत तांबूल समर्पै॥
कोइ कंत बिंबाधर लागै। कोइ कंत आलिंगन माँगै॥
कोइ कंत न गनेइनिवारिउ। सुरतारंभ करेइ निरारिउ॥

उस सामंती संस्कृति का क्या कहना जहाँ युद्ध में जाते हुए पति से पत्नी 'सुरत' की आशा करती है। जैसे विषय-भोग ही जीवन का सबसे बड़ा काम हो। परंतु इसमें अतिश्योक्ति ज़रा भी नहीं है। कवि अपने युग के समाज का यथातथ्य वर्णन कर रहा है। सामंती समाज में अति-काम का जो घुन लगा था उसने पाँच सौ वर्षों में देश की वीरता की नींव ही खोखली कर दी। सारा देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। राजपूतों की एक युद्धव्यवसायी जाति ही उठ खड़ी हुई। भोग, अफ़ीम और युद्ध—यही इस नए क्षत्रियवर्ग के तीन ध्येय थे। प्रतिदिन के युद्धों ने देश की सारी पुं-शक्ति को इतना जर्जर कर दिया कि देश इस्लामी ववंडर को दो सौ वर्ष से अधिक रोक ही नहीं

सका। ८ वीं शताब्दी में ही (७११ ई०—७६० ई०) सिंध प्रांत का एक बड़ा भाग मुहम्मद बिन क़ासिम ने विजय कर लिया था, परंतु लगभग २५० वर्ष तक मुसलमान पश्चिम में उलझे रहे। भारत का खड्ग अब भी निर्बल नहीं हुआ था। १००१ ई० में महमूद ग़जनवी ने पहली बार उत्तर-पश्चिम का द्वार मुसलमानों के लिए उन्मुक्त किया। १०२६ ई० तक उसने १३ बार आक्रमण किये और वह सोमनाथ तक जा पहुँचा। इससे स्पष्ट है कि धीरे-धीरे पश्चिमी सामंती राज्यों का पराक्रम नष्ट हो रहा था। महमूद ने पंजाब तक का भू-भाग अपने ग़जनी के राज में मिला लिया। फलतः भारत की सीमा अब ख़ैबर नहीं रही, सतलज बन गई। इसके बाद भी लगभग १५० वर्ष तक राजपूत राजे अपने गृहकलहों में मस्त रहे। ११९३ ई० की तराई की लड़ाई में पृथ्वीराज विजित हुए और पश्चिमी हिंदी प्रदेश (स्थानेश्वर और अजमेर) मुसलमानों के शासन में आ गया। राजपूतों के गृहक्लेश से जर्जरित सारे उत्तर भारत को विजित होने में ५—६ वर्ष ही लगे। यह उस समय के तंत्र, जनता और क्षत्रियवर्ग की असमर्थता की सबसे बड़ी दलील है। पूर्वी प्रदेशों में वाममार्गियों, शाक्तों और सिद्धों के द्वारा नीचे वर्ग की जनता में व्यभिचार और विलास का प्रचार इस काल के प्रारम्भ में ही हो चुका था। जान पड़ता है, इसके प्रति प्रतिक्रिया का भी जन्म हुआ। १००० ई० के बाद गोरखनाथ और अन्य नाथपंथियों ने स्पष्ट रूप से इस सामाजिक अना-

चार का विरोध किया। गोरखनाथ स्वयं आजन्म ब्रह्मचारी रहे। कहा जाता है, उन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदर नाथ) का लंका की यक्षिणियों से उद्धार किया। संभव है, उस समय पूर्वी प्रदेशों और दक्षिण में यक्ष-यक्षिणियों की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित हो और इस यक्षवाद में यौन-प्रसंग का अबाध रूप से प्रचलन हो। मत्स्येन्द्रनाथ ने सिद्ध-साधना को इसी लोक-भावना से संबंधित करना चाहा हो और गोरखनाथ को इसका विरोध करना पड़ा है। उपनिषदों में रहस्यवादी चित्सत्ता के रूप में "यक्ष" का भी उल्लेख आया है। उपनिषदों का समय १५०० पू० ई० से ७०० पू० ई० तक माना जाता है। परवर्ती सारे साहित्य में यक्ष-यक्षिणियों की भरमार है। उन्हें जाति-विशेष बताया गया है। जो हो, यह निश्चित है कि यक्ष-पूजा का संबन्ध कुछ पर्वतीय जातियों से था और उनमें यौन संबन्ध की स्वतंत्रता थी। गोरखनाथ ने अपने समय के अनाचार से ऊपर उठ कर एक बार फिर ब्रह्मचर्य की महत्ता की घोषणा की। उन्होंने स्पष्ट कहा—

> चारि पहर आलंगन निंद्रा, संसार जाइ विषिया बाही।
> ऊभी बांह गोरषनाथ पुकारै, मूल न हारौं म्हारा भाई ॥

'रात के चारों पहर स्त्री का आलिंगन और निंद्रा में बिता कर संसार विषयों में बहा जा रहा है। गोरखनाथ भुजा उठा कर कहता है—हे मेरे भाई, मूल (शुक्र) को मत हारो।' परन्तु

इतनी चेतावनी कौन सुनता ! अतः उन्होंने और भी तीव्रता से इस उपदेश को दुहराया—

> रूपे रूपे करूपे गुरदेव, बाघनी भोले-भोले,
> जिन जननी संसार दिसाया, ताकौं ले सूते षोले ॥टेक॥
> गुरु षोजौ गुरदेव गुरु षोजौं, बदंत गोरष ऐसा,
> मुषते होइ तुम्हें बंधनि पड़िया, ये जोग है कैसा ॥१॥
> चांम ही चांम घसंता गुरदेव दिन-दिन छीजै काया,
> होठ कंठ तालुका सोषी काढ़ि मिजालू षाया ।२।
> दीपक जोति पतंग गुरदेव, ऐसी भग की छाया,
> बूढ़े होइ तुम्हें राज कमाया, ना तजी मोह-माया ।३।
> बदंत गोरषनाथ सुनहु मछंदर तुम्हें ईश्वर के पूता,
> ब्रह्म झरंता जे नर राखे, सो बोलौ अवधूता ॥४॥

(रूप रूप में यहाँ तक कि कुरूप में भी, हे गुरुदेव, बाघिन माया भोले रूप में विद्यमान रहती है। बाहर से देखने में वह भोली-भाली लगती है, उसका भयंकर रूप इस बाहरी भोलेपन के कारण छिपा रहता है और यह अनौचित्य तो देखिये—जिस माता ने संसार दिखाया, संसार में जन्म दिया, उसी को गोद में चिपका कर लोग सोते हैं। स्त्री से उत्पन्न होने के कारण गोरखनाथ स्त्रीमात्र में मातृभाव मानते रहे हैं।

हे गुरुदेव, वास्तविक गुरु की ढूंढ़ कीजिए—यह गोरखनाथ का कथन है। मुक्त होकर भी आप बंधन में पड़ गए, यह कैसा योग है। योग तो मोक्ष का कारण होता है, बंधन का नहीं।

संभोग से तो शरीर दिन-दिन क्षीण होता चला जाता है। उसके द्वारा माया ओठ, कंठ और तालू को शोष लेती है और मज्जा तक को निकाल कर खा जाती है। कामुक जीवन मनुष्य को वैसे ही नष्ट कर डालता है जैसे दीपक की शिखा पतंग को। हे मछंदर, गोरखनाथ का वचन सुनो—तुम तो ईश्वर आदि नाथ के पुत्र-शिष्य हो, क्यों अपने को भूल गये हो ? नहीं जानते कि झड़ते हुए बिंदु (ब्रह्म) की जो नर रक्षा करता है, वही अवधूत है।' यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के उद्धरणों से उस समय की आचारभ्रष्टता पर प्रकाश पड़ता है। १००० ई० से १४०० ई० तक गोरखपंथी योगियों का बड़ा प्राधान्य रहा। वे कहीं एक जगह स्थान बना कर नहीं रहते थे। उनके संयम और उनकी ब्रह्मचर्यनिष्ठा का जनता पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि सामंती वर्ग इस प्रभाव से अछूता रहा। उनके पास ऐश्वर्य और विलास के इतने साधन थे कि वह उन्हें क्षण भर के लिए भुला नहीं सकते थे और जनता साधन-शून्य थी।

पुष्पदंत (९५९—७२ ई०) की रचना में भी इस विलास-भाव की यथेष्ट मात्रा पाते हैं। ये ब्रजप्रदेश या यौधेय (दिल्ली) के निवासी थे। ये राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय खोटिङ्ग के समकालीन थे और इनकी अधिकांश रचना का सम्बन्ध मान्यखेट (मालखेड़, हैदराबाद दक्खिन) से है। नारी-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

घत्ता । गंभीर नाभि तहि माँझ कृश, उदर स-तुच्छउ देखु मई ।
संसर्ग वशे गुण कासु हुयेउ, जोनहि जायेउ जन्मतेई ॥
त्रिवली-सोपानानेहि चढ़ेविय । रोमावलि केहुनी लंघेविय ॥
स्तनक गिरीन्द्रारोहण डोरा । लागहु मन्मथ मोक्तिक हारा ॥
प्रिय वशिकरण वसै भुज मूलहिं । शुचि सौभाग्य जाहि हत्थतलहिं ॥
स्नेहबंध मणिबंध परिट्-ठिउ । लावण्ये समुद्र ना सं-ठिउ ॥
जहिकेर सो जनित-विकारा । मधुरउ इतरहु केरउ खारा ॥
कंठलीहिं नहिं कंबू पावै । परश्वासा पूरति किमि जीवै ॥
निकट निविस्टउ जितशशि कान्तिहिं । धोवै धवलहिं न्याइ प्रवालहि
अधरबिंब रोचै रागालउ । मुक्ता वलियहि न्याइँ प्रवालउ ॥

इत्यादि

(उस नारी-शरीर के कृशमध्य में ही गंभीर नाभि है × × × त्रिवली के सोपान पर चढ़ कर रोमावली उस नाभि सरोवर के पार होती है । हृदय पर जो मुक्ताहार है, वह मानों स्तन-रूपी गिरीन्द्र पर चढ़ने के लिये कामदे वने डोर लगाई है । भुजमूल में वशीकरण का निवास है । जिसके हाथ यह वशीकरण लग गया उसका सौभाग्य ! उस रमणी का सारा शरीर लवण्यसमुद्र की भाँति है जिसे मणिबन्ध सहित भुजाओं की परिधि घेरे है । यह लवण्यसमुद्र किसी को मधुर है, किसी को क्षार ! जिसके जैसे मनोविकार उसे वैसा ही यह प्राप्य है ।)
नखशिख का एक वर्णन इस प्रकार है—

जंघा युगलउ नूपुर द्वयेहिं ।

वरिणज्जै जनु घोषें हयेहिं ॥
वल्गै मन्मथ बहुविग्रहेहिं ।
जानू संधान परिग्रहहिं ॥
उरू थंभहिं रतिघर एहीहिं ।
राजै मणि रसना तोरणेहिं ॥
कटितल गरुत्तन सो प्रधान ।
जनु धरिय मदन-निधान थान ॥
मणि चितवंत शतखंड जाह ।
तुच्छोदरि कहँ गम्भीर नाभि ॥
शेषिय शशिवदनइँ त्रिवलि भंग ।
लावण्य जलहँ नदिही तरंग ॥
स्तन कठिनत्वहु परमान नाश ।
भुज-जुगलउ कामुक कंठपाश ॥
ग्रीवहें गतिवेगउ हृदयहारि ।
बद्धउ चोर इव रूपापहारि ॥
अधरुल्लउ मन्मथ रस निवास ।
दंतेहि जीतेउ मौक्तिक विलास ॥

घत्ता । यदि भौहाँ कुटिलत्तनेहिं, नर सुधनु रुहेंहिं प्रभामय ।
तो पुनिहु काह कुटिलत्तनहीं, सुंदरि की धम्मिल-गत ॥

—णायकुमार चरिउ (पृ० १२)

(युगल पदों में मणिनूपुर पहरे हैं जिससे मंजु-मंजु घोष होता रहता है । जान पड़ता है, कामदेव जानु-संधान करते हुए अनेक

प्रकार का तर्क-बितर्क कर रहा है। जंघाएँ रतिगृह के मानों स्तंभ हैं जिन पर मणि-रशना रूपी तोरण बन्धे हुए हैं। कटितल में जो गुरुनितंब है, वही मदन महाराज के सिंहासन हैं। क्षीण उदर के बीच में नाभिसर है। उसकी गम्भीरता और सजलता देख कर मणि भी लज्जा से सौ-टूक हो जाती है। जान पड़ता है त्रिवली रूपी सर्पिणी चंद्रमा का मधु पान कर रही है, अथवा यह त्रिवली नहीं है, लावण्यसमुद्र की तरंगे हैं। स्तनों ने कठोरता के सारे परिमाणों को क्षुद्र कर दिया है। युगलभुज कामुकों के कंठों के पाश हैं।) पुष्पदंत ने गोपियों के साथ कृष्णलीला का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वास्तव में पुष्पदंत के उत्तरपुराण को हम जयदेव की गीतगोविन्दम् की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। कृष्णकथा की संस्कृत की परम्परा को हिंदी परम्परा से जोड़ने से पहले हमें स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे अपभ्रंश कवियों की रचनाओं का अध्ययन करना होगा। तभी हम कृष्ण-कथा के विकास के सारे सूत्र देख सकेंगे।

धनपाल (१००० ई०, 'भविसयत्त कहा') की रचना में भी सामंत समाज और सामंत नारी के सौन्दर्य का इसी प्रकार का वर्णन हुआ है। वही पिपीलिका-रेखा सी रोमावली, वही रशना-दाम में सुशोभित क्षुद्र-घंटिकाओं की मधुर ध्वनि, वही मुट्ठी में आ जाने वाली कृश कटि, वही नाभिमंडल की त्रिवली-तरंग। अब्दुर्रहमान (मुलतान, १०१० ई०) की रचना 'संनेह-रासक' में हम उसे शृंगारी कवि के रूप में ही पाते हैं। इस ग्रंथ में हमें

षट्ऋतुवर्णन की परंपरा का सबसे प्राचीन उदाहरण मिल जाता है। इसी समय के एक अन्य कवि बब्बर (त्रिपुरी, १०५० ई०) ने नारी-सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया है :

रे धणि ! मत्त मअंगज गामिणि, खंजण लोअणि चंद्रमुही।
चंचल जोव्वण जात ण जाणहि, छइल समप्पहि काइ णहीं ॥
सुंदरि गुज्जरि नारि, लोअणि दीह विसारि।
पीअ पओहर भार, लोलिअ मोत्तिअ हार ॥
हरिण-सरिस्सा णअणा, कमल-सरिस्सा वअणा।
जुवअण-चित्ता-हरिणी, पिय-सहि ! दिट्ठा तरुणी ॥
चल-कमल-णअणिआ, खलिअ-थण-वसणिआ।
हसइ पर णिअलिआ, असइ धुअ वहुलिआ ॥

(रे धनि ! मत्त मतंगज-गामिनि, खंजन लोचनि चंद्रमुखी।
चंचल-यौवन जात न जानै, छैलँ समपैं काहे नहीं ॥
सुंदरि गुर्जरि नारि, लोचन दीर्घ विसारि।
पीन पयोधर भार, लोलिय मौक्तिक हार ॥
हरिन-सरीखा नयना, कमल-सरीखा वदना।
युवजन-चित्ता हरणी, प्रिय सखि ! दृष्टा तरुणी ॥
चल-कमल-नयनिया, स्खलित थन वसनिया।
हसै पर-नियरिया, असति ध्रुव बहुरिया ॥)

भाषा का यह रूप अपभ्रंश की अपेक्षा हिंदी के निकट पड़ता है। वास्तव में १००० ई० के आसपास से लेकर विद्यापति (१३७५—१४४८) के समय तक हम भाषा को एक अनिश्चित

परिस्थिति में पाते हैं। इन चार सौ वर्षों में अपभ्रंश धीरे-धीरे हिंदी के रूप में ढल गई है। इन चार शदाब्दियों में जैनों और योगियो ने काफ़ा काव्य-सामग्री दी है, परंतु युग की मूल प्रवृत्तियाँ वीररस और शृंगार रस के अंतर्गत आती हैं। जिन कवियों का काव्य हमें आज प्राप्त हैं, उनका संबंध सामंती राजाश्रय से रहा है। फलस्वरूप सामंत समाज ही उनकी कविता का विषय रहा है। चंदबरदाई की कविता में भाषा का रूप आधुनिक है, परन्तु उसकी मूल प्रेरणा अन्य सामंती काव्य से भिन्न नहीं है। कवि शृंगार-सज्जा का वर्णन इस प्रकार करता है :

सिंगार षोडसं करे, सुहस्त दर्पन धरे।
वसन्न वासि वासनं, तिलक्क भाल आसनं॥
दुनैक अैन अंजएं, चलं चलंत षंजए।
सुहंत श्रोन कुंडलं, ससी रवी कि मंडलं।
सुमुत्ति नास सोभई, दसंन दुत्ति लोभई।
अनेक जाति जालितं, धरंत पुप्फ मालितं॥
झँकार हार नोपुरं, घमंकि घुंघरं घुरं।
विलेपि लेप चंदनं, कसी सु कंचु की घनं॥
सुक्षुद्र घंटि घंटिका, तमोल आय अंटिका।
कनक्क नग्ग कंकनं, जरे जराइ अंकनं॥
बिसाल बानि चातुरी, दिषंन रंग आतुरी।
अनेक दुत्ति अंग की, कहंत जीभ भंग की॥

इस प्रकार के अनेक वर्णन चंदवरदाई के बाद के काव्य में मिल जाते हैं। इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि उत्तर आदि काल (१००० ई०—१४०० ई०) में काव्य की मूल प्रवृत्तियों में शृंगार की प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस समय की मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं :

१—शृंगार (वीरकाव्य और मुक्तक)

२—वीरता (वीरकाव्य)

३ —योग (गोरखनाथ और अन्य नाथपंथियों की कविता)

४—वैराग्य का काव्य (जैन साधुओं की रचनाएँ)

५—कथा (जैनरासा और वीर रासो ग्रंथ)

शृंगार और वीरता की प्रवृत्तियाँ इतनी बलवती हैं कि जैन रासाओं में हम प्रसंग वश इनका विशद निरूपण पाते हैं। वैसे शृंगार और वीरता के प्रति आसक्ति लांछा का विषय नहीं है, परन्तु जीवन की अन्य अनेक प्रवृत्तियों को भुलाकर केवल इन्हीं दो प्रवृत्तियों के सहारे जीवन को खड़ा करना उपहास-प्रद है।

जो हो, यह निश्चित है कि सामंती काव्य अतिकाम से ग्रसित है और उसमें नारी का सौन्दर्य भोग-लिप्सा मात्र से सम्बन्धित होने के कारण वासना से जर्जर हो उठा है। परवर्ती कृष्णकाव्य और रीतिकाव्य को उसने प्रभावित किया, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु यह प्रभाव प्रत्येक दिशा में स्वस्थ नहीं बन पड़ा है। उसका अपना ढंग है, अपनी परंपरा है। परन्तु

उसमें बहुत कुछ ऐसा है जिसने राष्ट्र की धमनियों में विष का संचार किया।

(घ) वीररस की कविता [सामन्ती काव्य]

चारण-साहित्य का संबन्ध पश्चिमी हिंदी-प्रदेश से है। इसे देशभाषा-काव्य भी कहते हैं। यह विशेष राजनीतिक परिस्थितियों की उपज था। इसके लेखक या कवि हिंदू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट कवि थे। इनकी परम्परा किसी न किसी रूप में १८ वीं शताब्दी तक चली आती है।

१२०० ई० के लगभग चार राजपूत राज्य हिंदी प्रदेश में मौजूद थे। एक कन्नौज का गहरवार वंश जिसकी राजधानी कन्नौज (काव्यकुब्ज) और काशी थी। दूसरा इस राज्य के दक्षिण में बुन्देलखंड में चंदेलों का राज था। इसका अन्तिम राजा परिमालदेव या परमाद्रिदेव था। तीसरा राज्य राजपूताने के चौहानों का था जिसकी राजधानी अजमेर थी। इसका अंतिम राजा बीसलदेव था। चौथा दिल्ली का तोमरवंश जिसका राजा अनंगपाल था। जिस समय का हम उल्लेख कर रहे हैं उस समय बीसलदेव ने दिल्ली के अनंगपाल को पराजित कर लिया था और उसका पुत्र पृथ्वीराज दिल्ली और अजमेर दोनों का राजा था।

इन राज्यों में संस्कृत का बड़ा मान था और संस्कृत के कवियों को राजाश्रय मिलता था। कान्यकुब्ज के केन्द्र से

सम्बन्ध रखने वाले संस्कृतकाव्य मिलते हैं। परन्तु संस्कृत के साथ देशी भाषा को भी बहुत पहले से राजाश्रय मिलने लगा था। अपभ्रंश के राजकवियों के सम्बन्ध में हमें पर्याप्त ज्ञान है। कन्नौज का चारण-साहित्य उपलब्ध नहीं है। जयचंद के दरबार में मधुकर नाम के कवि का होना सुना जाता है किन्तु अभी तक उनकी कोई सामग्री नहीं मिलती। इस दरबार के आश्रय में एक दूसरे कवि केदार का भी नाम लिया जाता है। बुन्देलखंड से सम्बन्ध रखने वाला ग्रंथ आल्हाखंड है किंतु उसकी कोई प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं है। आल्हा-ऊदल की कथा और परमाल के सामंतों की कथा मौखिक रूप से सामंतों में चलती रही और १६ वीं शताब्दी में लिखी गई। इस प्रकार इसमें दूषित या मिश्रितरूप अधिक है। आजकल जो आल्हा मिलता है वह किसी लेखक ने कन्नौज में लेखबद्ध कराया था। १२ वीं शताब्दी की मौलिक सामग्री हमें उपलब्ध नहीं है। अजमेर केन्द्र से हमें दो ग्रंथ प्राप्त होते हैं—एक दलपति का खुमान रासो है जो अप्रकाशित है और दूसरा वीसलदेव रासो जो एक छोटा-सा गीतिकाव्य है। यही कदाचित् सर्वप्रथम निश्चित सामग्री है। दिल्ली के केन्द्र से संबंध रखने वाला चन्द का पृथ्वीराज रासो है।

चारण-साहित्य का महत्त्व ऐतिहासिक है। वह पूर्णतः लौकिक है और उसमें राजाओं के पारस्परिक एवं विदेशी जाति (मुसलमानों) से युद्ध के उल्लेख सुरक्षित हैं। इस

साहित्य के विषय में दो भ्रम चल रहे हैं। पहला भ्रम यह है कि यह वीरकाव्य है जिसका आरम्भ राजस्थान से हुआ। दूसरा भ्रम यह है कि इसे एक प्रकार से राष्ट्रीय साहित्य कहा जा सकता है। ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं। चारण-ग्रन्थों में अभी तीन ही प्रमुख ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो और आल्हाखंड। इनमें वीसलदेव की रचना राजस्थान में हुई और शेष दो ग्रंथों का सम्बन्ध गंगा की घाटी या हिंदीप्रदेश से है। इस साहित्य की मूल धारणा क्या थी—क्या वीरता? क्या शृंगार?—सच तो यह है कि दोनों प्रधान हैं। इस समय हिंदू जाति एकदम निःसत्व नहीं हो गई थी। हम वीरता को शृंगार से परिचालित देखते हैं और वीरता का परिणाम शृंगार है। वीसलदेव रासो में वीसलदेव के शौर्य का केवल संकेतमात्र है, अधिकांश शृंगाररसपूर्ण है। पृथ्वीराज रासो में युद्धों का कारण विवाह और मृगया है। एक प्रकार से शृंगार की धारा संस्कृत के उत्तरकाल से ही चली आ रही थी। जिस वातावरण में चारण-साहित्य की रचना हुई वह शृंगार-प्रधान था और जिन लोगों के लिए यह साहित्य रचा जा रहा था, वे शृंगारप्रिय, ऐश्वर्यशाली व्यक्ति थे, लोकनायक नहीं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि चारण-साहित्य को वीरगाथा-साहित्य कहना अधिक उपयुक्त नहीं। यह साहित्य राष्ट्रीय भी नहीं कहला सकता क्योंकि उसके मूल में राष्ट्रीयता की भावना भी नहीं है। इस

साहित्य का अध्ययन करने पर हमें विदेशी संघर्ष के विशेष चित्र नहीं मिलते। ११९४ ई० से १२०६ ई० तक हिंदूप्रदेश को मुसलमानों ने अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार संघर्षकाल केवल १२ वर्ष तक चलता रहा। इसलिये यह कल्पना करना कि हिंदी कविता को इस क्षणिक संघर्ष ने इतना प्रभावित कर दिया था कि वीरकाव्य या राष्ट्रीय साहित्य की उत्पत्ति हुई, समीचीन नहीं दिखाई पड़ता।

१२०० के बाद हिंदीप्रदेश में हिंदू राजाओं के मूलोच्छेदन हो जाने के कारण राजाश्रय का भी अभाव हो गया और प्रजाश्रय में धार्मिक और लौकिक साहित्य की विशेष रचना हुई। आदियुग में जो धार्मिक सुधार और भक्ति-आन्दोलन की सांस्कृतिक धाराएँ बहुत कुछ क्षीण गति से चल रही थीं, विशेष बल को प्राप्त हुईं। हिंदू राजाश्रयों में पनपने वाला चारण-साहित्य बहुत कुछ चाटुकारता और परम्परा के परिचालन तक ही सीचित रहा। वह हिंदीप्रदेश के पश्चिमी भाग से हट कर दक्षिण-पश्चिम अर्थात् राजस्थान के सीमांत में केन्द्रित हो गया।

चारण-साहित्य की भाषा डिंगल कही जाती है। इस नाम के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। टेसीटरी के मत में वह केवल एक विशेषण है जो असंस्कृत अथवा अनियमित ('गड़बड़') भाषा के लिए प्रयोग में आया है। उसका अर्थ है उच्चकवित्वहीन

डिंगल

भाषा। कुछ विद्वान् डिंगल शब्द का सम्बन्ध 'डगर' शब्द से बताते हैं, कुछ उसकी उत्पत्ति डमरू की ध्वनि डिम् या डम से, जो उत्साह और क्रोध के प्रतीक के रूप में ली गई है। कुछ अन्य लोगों का कथन है कि डिंगल शब्द का प्रयोग पिंगल शब्द के अनुकरण पर हुआ है जिसका प्रयोग ब्रजभाषा कविता के लिये होता था। परन्तु स्वयम् ब्रजभाषा का नाम पिंगल क्यों रखा गया, यह भी विवादग्रस्त विषय है। सच तो यह है कि अभी इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। डिंगल की कविता ब्रजभाषा से प्राचीन है, इस अवस्था में उसका नाम ब्रजभाषा कविता के नाम के अनुकरण में क्यों पड़ने लगा। फिर पिंगल का अर्थ छन्दशास्त्र है और ब्रजभाषा और डिंगल भाषा दोनों के काव्यों में छन्दों का वैभिन्न्य है और उनके नियमों के पालन करने पर ध्यान रखा गया है।

डिंगल भाषा के प्रबन्ध काव्यों के लिये 'रासो' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भी अनेक मत हैं। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति 'रहस्य' से मानते हैं। आचार्य शुक्ल का मत है कि वीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में जिस 'रसायन' शब्द का प्रयोग हुआ है, वही कालान्तर में रासो हो गया है। दोनों सिद्धान्तों का आधार कल्पना है, अतः निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जैन-साहित्य में रास शब्द का प्रयोग हुआ है और चरित्र ग्रन्थों को 'रासा' कहा गया है।

रासो

यह भी कल्पना की जा सकती है कि चारण 'रासो' का संबंध जैन 'रासा' से हो। रासो भी चरित्रग्रंथ है।

चारण-साहित्य दो रूपों में है। पृथ्वीराज रासो प्रबन्ध-काव्य के रूप में है और बीसलदेव रासो और आल्हा वीर गीत हैं। प्रबन्धकाव्य की रचना खंडकाव्यों और महाकाव्यों के रूप में हुई है। उनमें अनेक छंद हैं और उन्हें काव्य-गुण से पुष्ट करने की चेष्टा की गई है। वीरगीत उत्सव-समारोह के अवसर पर गाने के लिए रचे गये। वे लोकगीतों के अधिक निकट हैं। कई सौ वर्ष साधारण जनता के द्वारा गाये जाने के कारण उनकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकी है। उनमें अधिकत: एक ही छंद का प्रयोग किया गया है जो विशेष रूप से गीतात्मक है और जिसमें काव्यगुण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

दलपति-विजय नाम का कोई कवि ८१३ ई० – ८४३ ई० तक चित्तौड़ पर शासन करने वाले खुम्माण द्वितीय का सम-
कालीन था। कर्नल टाड ने इसके ग्रंथ खुमान
दलपति विजय रासो के आधार पर उस समय के मेवाड़ का
का इतिहास लिखा है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से
खुमान रासो जाँचने पर इसमें कई भूलें जान पड़ती हैं।
टाड ने तीन खुम्माणों के जीवन को एक
सूत्र में गूंथ दिया है। यदि यह वर्णन दलपति विजय के खुमान रासो पर पूर्णत: आश्रित है तो इस भ्रांति के रहने से

लेखक समकालीन नहीं ठहरता। इस ग्रंथ की जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें महाराणा प्रतापसिंह के समय तक का वर्णन है। अतः इसका जो रूप आज हमें मिलता है वह कई शताब्दियों के परिमार्जन और परिवर्द्धन का फल है। ऐसी दशा में इस ग्रंथ के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

'वीसलदेव रासो' की तीन पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं, एक १६१२ की, दूसरी ११०२ की, तीसरी १००० के लगभग की।

वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह)

पहली दो पोथिओं के आधार पर इसका संपादन हो चुका है। लेखक ने ग्रंथ में रचना-काल दिया है जो इस प्रकार है—

"बारह से बरहोतरा मँझार"

मिश्रबन्धु ने इसे सं० १२२०, लाला सीताराम ने १२७२ और सत्यजीवनवर्मा तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने १२१२ माना है। बीकानेर के श्री गजराज ओझा ने एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में १०७३ वि० सं० रचनाकाल देखा है। उनके आधार पर डा० रामकुमार वर्मा भी यही सम्वत् इतिहास से अधिक निकट मानते हैं।

वीसलदेव रासो २००० चरणों और चार खंडों में है। पहले खंड में मालवा के अधिपति भोज परमार की लड़की राजमती का बीसलदेव संभार के साथ विवाह, दूसरे खण्ड में वीसलदेव की उड़ीसा की ओर रणयात्रा, तीसरे खंड में राजमती का वियोग वर्णन और वीसलदेव का चित्तौड़ा-

गमन, चौथे खंड में भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और वीसलदेव का पुनः राजमती को ले जाने का वर्णन है।

बीसलदेव रासो का रूप गीतिकाव्य का है, परन्तु उसमें एक प्रबन्ध भी चल रहा है। हम उसे प्रबंधात्मक-गीतिकाव्य कह सकते हैं। यद्यपि हमने इस ग्रंथ को वीरकाव्य के अन्तर्गत रखा है, परन्तु वास्तव में कवि को शृंगाररस से ही मूल प्रेरणा मिली है। भाषा असंस्कृत है और रचना में साहित्यिक सौन्दर्य कम है, परन्तु इस ग्रंथ की प्राचीनता इसे वह महत्त्व दे देती है जो अन्य दशा में इसे प्राप्त नहीं हो सकता था। मौखिक रूप में चलते रहने के कारण इसकी भाषा का रूप भी अवश्यतः स्थिर नहीं रह सका होगा, परन्तु जिस रूप में यह आज हमें प्राप्त है, उस रूप में भी वह भाषाविज्ञान के लिए अत्यंत महत्त्व-पूर्ण सामग्री उपस्थित करता है।

पृथ्वीराज रासो के संबंध में बड़ा मतभेद चल रहा है। दो मत हैं। पहले मत के अनुसार यह सम्पूर्ण ग्रंथ मान्य नहीं है। वे इसे पूरा जाली मानते हैं। दूसरे मत के लोग उसका कुछ अंश मौलिक मानते हैं और कुछ प्रक्षिप्त। १८०० ई० में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रंथ का संपादन करना चाहा। इस समय ही यह ग्रंथ वाद-विवाद का विषय बन गया। इसलिये सोसाइटी ने इसका प्रकाशन रुकवा दिया। इसके अनन्तर

पृथ्वीराज रासो

इसको लेकर इतिहासविदों और साहित्य-समीक्षकों के दो वर्ग हो गये। इतिहासलेखक सांवलदास ओझा और हीरालाल शास्त्री इसकी घटनाओं को इतिहास पर परख कर इसे बहुत बाद की रचना सिद्ध करते हैं। मोहनलाल विष्णुलाल पंडिया, श्यामसुन्दरदास और हरिप्रसाद शास्त्री पुस्तक को पूर्णतयः संदिग्ध नहीं मानते। पं० रामचन्द्रशुक्ल और डा० धीरेन्द्र वर्मा इन दोनों मतावलंवियों के बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो का वर्तमान रूप बहुत संदिग्ध मानते हैं, उन्हें इसमें भी सन्देह है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में भी था। आचार्य शुक्ल जी का कहना है—

"अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चन्द नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत-सा कल्पित "भट्ट भरमंत" तैयार होता गया उन सबको लेकर और चन्द को पृथ्वीराज का सम-सामयिक मान उसी के नाम पर 'रासो' नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई है।"

जिन आधारों पर पृथ्वीराज रासो को संदिग्ध माना जाता है वे निश्चित ऐतिहासिक घटनाएँ, शिलालेख और जयानक कवि-कृत 'पृथ्वीराज-विजय' संस्कृत महाकाव्य के उपलब्ध

अंश है। यह सामग्री रासो से अधिक प्रामाणिक है और इसमें और रासो में बड़ा भेद है। रासो में वंशक्रम अशुद्ध है। रासो के अनुसार चौहान अग्निवंशी थे, किन्तु शिलालेखों के अनुसार वे लोग सूर्यवंशी थे। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की लड़की कमला थी, इतिहास के अनुसार माता का नाम कर्पूरदेवी था और वह चेदि के राजा की लड़की थी। रासो के सब संवत् अशुद्ध सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिये रासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म संवत् ११३६ ई० ठहरता है, परन्तु इतिहासके अनुसार ११२६ ई० यद्यपि इतिहास का दिया सन् भी अधिक निश्चित नहीं है। तीसरी बात कथानक के संबंध में है जो जाँच करने पर अनैतिहासिक ठहरता है। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की बहन पृथ्वा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से हुआ था जिन्हें इतिहास पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानता। पृथ्वीराज का दिल्ली गोद लिया जाना इतिहास विरुद्ध है। रासो के अनुसार गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के द्वारा ग़ज़नी में हुई, परन्तु इतिहास के अनुसार वह पहले ही मर चुका था। इस प्रकार वंशावली, संवतों और कथानक तीनों की जाँच से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह ग्रंथ यद्यपि सम्पूर्ण संदिग्ध तो नहीं है परन्तु प्रामाणिक भी नहीं है। भाषा का अध्ययन करने पर भी परिस्थिति कुछ डवाँडोल दिखाई देती है। रासो की भाषा का रूप पूर्वी राजस्थानी और ब्रजभाषा मिश्रित है। इस भाषा को हम १६ वीं शताब्दी में रख

सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि १६ वीं शताब्दी का कोई राजस्थानी कवि अपभ्रंश की शैली का अनुकरण कर रहा है। वास्तव में चारण-काव्य में अपभ्रंश की शैली का अनुकरण बहुत बाद तक चलता रहा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रासो की भाषा न मूल अपभ्रंश है, न मूल राजस्थानी। वह १६ वीं शताब्दी की ब्रजभाषा का एक अत्यंत विकृत रूप है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

नर करनी कछु और
करै करता कछु औरे।
अनचिंतन करै ईस
जीय भ्रमर औरे दौरे॥
रचे रचन नर कोटि
जोरि जम पाइ वस्त सह।
छिन क मध्य हरि हरं
केलि किरतव्य क्रंम्म इह॥

(प्रस्ताव, २७)

या

तत्तहीन पुत्तरी पंच बंधी नर नच्चै
आसानदी सपूर जीय मंनोरथ संचैं
बहुतरंग तृस्नाह ग्राह जिमि गेह कुरंगो।
का चहुवानी कित्ति जंपि जद्धव जसवंगी।

मन मूढ़ मोह विस्तरि रह्यौ चिंता तट घटमंजई।
उत्तरहिं पार दुत्तर सुकवि का चहुवान रंजई॥

(आदि पर्व, छं० २३४)

या

एक पहुर में साँवत प्यारे। लोक हजार पाँच तहँ मारे॥
ये साँवत पृथ्वीराज पियारे। केते ईदल सँकर बुहारे॥

(महोवा समयो)

परन्तु कहीं-कहीं तत्समता का पुट दे कर या अनुस्वरांत शब्दों का अधिक प्रयोग कर इस ब्रजभाषा को प्राचीन डिंगल का रूप दिया गया है :

१—मनहु कलासभिमान, कला सोलह सों बन्निय।
बालबेस ससि ता समीप, अंम्रित एक पिन्नय॥
विगसि कमल भ्रिंग भ्रमर, बैन खंजन म्रिग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब मोति, नखसिख अहि घुट्टिय॥
छत्रपति गयंद हरि हंसगति, विह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावत्तिय, मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

२—सयनं सब्बानं किय सज्जानं बज्जि नीहानं नीसानं।
बंधे सिलहानं, निज निज थानं परपरि पानं असगानं॥

परन्तु रासो की भाषा सदैव एक ही प्रकार की नहीं चलती। उसमें स्थान-स्थान पर बड़ा भेद है। कहीं-कहीं प्राकृत के प्राचीन रूप बहुत बड़ी संख्या में मिल जाते हैं। खोजियों का कहना है कि ऐसे स्थलों पर हमें चन्द के मूल छन्दों की खोज करनी

चाहिये। बीकानेर की कुछ प्राचीन प्रतियों के आधार पर 'रासो' के मूल छन्दों की खोज का भी काम चल रहा है और संभव है प्राचीन प्रतियों के आधार पर हम कभी मूल रासो या चन्द के काव्य का उद्धार कर सकें, परन्तु अभी तो ऐसा संभव नहीं है। भाषा-सम्बन्धी यह भेद नीचे लिखे उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

नमः संभवाय सरव्वाय वायं।
नमो रुद्रपायं वरद्दाय सायं॥
पसू पत्तए नित्तए मुग्गपाए।
कपर्दी महादेव भीमं भवाए॥
मषद्वाये ईसाय त्रेयंबकाए।
नमो धुम्मए घातए अद्धकाए॥
(प्रथम समयो)

इस उद्धरण में प्राकृत के प्राचीन रूपों का अनुकरण है। इसकी तुलना 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के ११६३ ई० के आसपास के उद्धरण से की जा सकती है :

इक्कु वाणु पहुबीसु जुपइं कहं बासह मुक्कउ।
उर भिंतरि खड़हड़िउ धीर कमखंतरि चुक्कउ॥
बीअं करि संधीउ भंमइ सूमेसर नंदण।
एहु सु गडि दामिहउ खणइ खदइ सहं भंरिवणु॥
फुड छड़ि न जाइ इह लुब्भिउ बारह पलउ खल गुलह।
न जाणंउ चंद्र बलद्दि किं न वि छुहइ इह पलह॥

बीकानेर की 'रासो' की लघुतम प्रति में भाषा का जो रूप

मिलता है वह बड़ी सरलता से अपभ्रंश में रूपांतरित हो जाता है जैसे रासो का यह पद्धरी छन्द —

कलि अछ पथ कनउज्ज राउ । सतसील रत धर धर्म चाउ ॥
वर अछ भूमि हय गय अनग्ग । पठ्या पंग राजसु जग्ग ॥

अपभ्रंश के पद्धतिआ छंद में इस प्रकार लिखा जायेगा ।

कलिहि अच्छपइ कणउज्ज राउ । सतसील रत धरि धम्मि चाउ ॥
वरि अच्छ भूमि हय गय अणग्ग । पट्ठविअ पंग राजसुअ जग्ग ॥

डॉ० दशरथ शर्मा और मीना राम रङ्गा ने बीकानेर की इस लघु-तम प्रति के अपभ्रंश रूप के उद्धार की चेष्टा की है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रासा' का मूल रूप अपभ्रंश के कितना समीप रहा होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास, कथावस्तु, शिलालेख और भाषा सभी 'रासो' की प्रामाणिकता के विरुद्ध हैं। विद्वानों ने इस विषय में बड़ा परिश्रम किया है, परन्तु परिस्थिति 'रासो' और उसके रचयिता के अनुकूल नहीं जान पड़ती। और अब तो चन्द के ऐतिहासिक अस्तित्व के संबंध में भी अनिश्चय हो चला है।

वास्तव में जब से 'पृथ्वीराज-विजय' की खण्डित प्रतिलिपि प्राप्त हुई है, तब से रासो और चन्द के सम्बन्ध में हम कुछ निश्चय रूप से कह सकते हैं। यह पृथ्वीराज के समय की ही रचना है और इसमें पृथ्वीराज के वंश, समसामयिक व्यक्तियों और युद्धों का जो वर्णन है उसकी शिलालेखों और अन्य

प्रामाणिक ऐतिहासिक उल्लेखों से पुष्टि होती है। दोनों पुस्तकों में से एक ही पुस्तक प्रामाणिक हो सकती है। यह संभव नहीं है कि दो सामयिक कवियों की रचना के महत्त्वपूर्ण तथ्यों में आकाश-पाताल का अन्तर हो। चन्द की रचनाओं को तो 'पृथ्वीराज-विजय' की अपेक्षा इतिहास की कसौटी पर और भी पूरा उतरना चाहिये था। वह राजकवि ही नहीं पृथ्वीराज का अनन्य मित्र भी था, परन्तु वस्तुतः है इसके ठीक विपरीत। सच तो यह है कि 'रासो' १५५० ई० के आसपास की रचना है, यद्यपि १२ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक बराबर इसका रूप विकसित होता रहा है। संभव तो यह है कि चन्द की मूल अपभ्रंश रचना का परिमाण बहुत छोटा होगा। विद्वानों का विचार है कि मूल रचना संयोगिता-स्वयंवर और शहाबुद्दीन गौरी के अन्तिम युद्ध से संबंधित होगी। रासो का अर्वाचीन रूप १४६०—१५८५ ई० के बीच में ही प्राप्त हुआ होगा। १४६० ई० से पहले 'रासो' का जो मूल चल रहा होगा, वह विस्तार में बहुत छोटा रहा होगा और कदाचित् 'कन्नउज समय' और 'बड़ी लड़ाई' तक सीमित होगा। यह निश्चित है कि आधुनिक रासो पर ब्रजभाषा की गहरी छाप है। यह छाप ग्रंथ के परवर्ती विकास की ही सूचना देती है।

रासो को हम मूल रूप में प्रेमाख्यानक कथा भी मान सकते हैं। जिस प्रकार आश्रयदाता राजाओं के चरितकाव्य तथा ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान-काव्य लिखने की

परंपरा हिंदीप्रदेश में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी, उसी प्रकार पद्यबद्ध कल्पित कहानियों की भी परंपरा चल रही होगी, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु ऐसी कहानियों की रक्षा नहीं हो सकी है और आज ऐसी पद्यबद्ध कहानियाँ बहुत कम मिलती हैं। परन्तु चरितकाव्य के प्रसंगों में या ऐतिहासिक वृत्तों के बीच-बीच कल्पना का प्रयोग भी कम नहीं होता था। कभी-कभी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष या घटना को लेकर, उससे अत्यंत कम सहारा लेकर, एक ऐसी काल्पनिक कथा खड़ी कर ली जाती जिसमें कुछ नाम भी ऐतिहासिक या पौराणिक रहते, वृत्त सारा कल्पित रहता। यदि हम राजस्थान को ही लें तो 'ढोला मारू रा दोहा' या 'सत्य-वती कथा' (ईश्वरदास) इसी श्रेणी में आती हैं। ऐति-हासिक वृत्तों में कल्पना का कितना योग संभव था यह 'लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा' (दामोकवि), 'पद्मावत' (जायसी, १५४०) और 'पद्मिनी-चरित्र' (लालचंद, १६४३) की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः मध्ययुग के लोकरंजन में इतिहास-कल्पना और सत्य-असत्य की सीमायें बहुत कुछ मिट गई थीं। जो कभी इतिहास रहा होगा, वह लोक-कल्पना से अतिरंजित होकर, साहित्य और पुराण की पिछली सारी सामग्री समेट कर ही कवि को ग्राह्य हुआ। फिर 'रासो जैसे वृहद्काय ग्रंथ में किसी एक युग, एक प्रदेश, एक कवि की रचना तो सुरक्षित है ही नहीं। भिन्न-भिन्न युगों, भिन्न-

भिन्न प्रदेशों और भिन्न-भिन्न कवियों ने लोकरंजन के लिए मूलकथा में जो-जो क्षेपक जोड़े, वह ग्रंथ का संपादन होते समय संवतों और अर्द्धऐतिहासिक सूत्रों में इस प्रकार गुंफित कर दिये गये कि ग्रंथ ऐतिहासिक रचना का आभास देने लगा। वस्तुतः रासो को राजस्थान में ४०० वर्षों तक प्रवाहित होने वाली जनकथाधारा का सुसंस्कृत, सुसंपादित, नागरिक रूप ही समझना ठीक होगा। इस दृष्टि से वह इतिहास न होकर भी इतिहास से अधिक मूल्यवान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रासो' का जो रूप आज हमें प्राप्त है, वह बड़ा चिन्त्य है। उसमें चंद का काव्य परिमाण में बहुत थोड़ा है और जो है भी उसकी भाषा में बड़ा परिवर्तन हो गया है। ग्रंथ मूलतः वर्णनात्मक है। कुछ बँधे-सधे चरित्र और थोड़ी-सी मौलिकता को लेकर समय-समय पर चारण कवि नई-नई उद्भावनाएँ करते रहे हैं। फलतः धीरे-धीरे चंद की मूलकथा क्षेपकों के भार के नीचे दब गई है और आज उसका उद्धार करना भी कठिन हो गया है। स्वयं प्रत्येक सर्ग में वर्णनात्मक और कथात्मक सामग्री नये-नये छंदों में जोड़ दी गई है। युद्ध-विवाह जैसे प्रसंगों में एक ही प्रकार के वर्णन बराबर मिलते हैं। इस प्रकार चंद के मूल काव्य के ऊपर न जाने कितने परत जम गये हैं। परन्तु फिर भी जिस रूप में यह काव्य हमें उपलब्ध है, उस रूप में यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह

निश्चित है कि अकबर-काल में 'रासो' अर्वाचीन रूप में संग्रहीत हो चुका था। अबुल फ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' (१५९६-७) में रासो की कथा की जो रूपरेखा दी है, वह वर्तमान रासो से बिल्कुल मिलती-जुलती है। इस समय तक जो साहित्य हमें प्राप्त है वह बहुत थोड़ा है और काव्य-तत्त्व की दृष्टि से 'रासो' उससे बहुत पीछे नहीं ठहरता। सिद्धों और नाथों का काव्य, विद्यापति की कविता, कबीर और दादू के पद, सूरसागर और रामचरितमानस—यह १६ वीं शताब्दी के अंत तक की हिंदी की सामग्री है। 'रासो' जैसे बृहद्‌काव्य को हम पद्मावत और रामचरितमानस की श्रेणी में ही रख सकते हैं। वह प्रामाणिक है या नहीं है, उसका रचयिता चंद ही था या और कोई,—इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमें 'रासो' के रस से वंचित कर देते हैं। 'रासो' का कथासंगठन, उसके वर्णन, उसका वीरभाव, उसका राजपूत-संस्कृति का प्रतिनिधित्व, भाषाशैली के इतिहास की दृष्टि से उसका महत्त्व—ये सब 'रासो' की विशेषताएँ हैं जो उसे बराबर हिंदीप्रेमियों और काव्य-मर्मज्ञों का हृदय-हार बनाती रहेंगी। पिछले अनेक वर्षों से हम रासो को जाली ग्रंथ कह कर उसके काव्यतत्त्व को छोटा करते रहे हैं। अब समय आ गया है कि हम 'रासो' को जैसा वह है वैसा ही स्वीकार कर लें और साहित्यिक दृष्टिकोण से उसकी परीक्षा करें। यह निश्चय है कि शुद्ध

साहित्य की दृष्टि से 'रासो' किसी भी हिंदी रचना से छोटा नहीं पड़ेगा। वह मूलतः वर्णनात्मक काव्य है और उसमें सैकड़ों उत्कृष्ट वर्णन भरे पड़े हैं। जैसा 'रासो' का विषय है उसके अनुसार शृंगार, राजदरबार, युद्धसज्जा, युद्ध इत्यादि के वर्णनों को प्रधानता मिलनी चाहिये। 'रासो' प्रधान रूप से सामंती काव्य है और सामंती काव्य के ये ही परंपरागत विषय रहे हैं। फलतः जहाँ तक इन विषयों का संबंध है वहाँ तक हम चन्द के काव्य को अत्यंत उत्कृष्ट रूप में पाते हैं। उसकी उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ हिंदी साहित्य-जगत में अनूठी हैं। पिछली साहित्यिक परंपराओं से उसने बहुत कुछ लिया और जो लिया है वह इतनी सुन्दरता से हमें लौटा दिया है कि मन मुग्ध हो जाता है। संसार के श्रेष्ठतम युद्धकाव्यों में उसकी गिनती होनी चाहिये, इसमें किंचित भी अतिशयोक्ति नहीं है। उसके युद्ध के वर्णन सचमुच अद्वितीय हैं। वे एक-जैसे होकर भी एक-जैसे नहीं हैं। परन्तु कवि की प्रतिभा वीररस की ओजपूर्ण ललकारों तक ही सीमित नहीं है। वह सामंती वैभव से भरे विलास-कक्ष का भी वर्णन कर सकता है। ऐसे रम्य वर्णन परवर्ती काव्य में भी अप्राप्य हैं। सच तो यह है कि हिंदी के आलोचक और विद्वान् रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता में उलझ गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि 'रासो' के उत्कृष्ट काव्यरसपूर्ण स्थानों का अध्ययन-अध्यापन हिंदी को गौरवान्वित ही करेगा।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी की वीररस की कविता सामंती काव्य का एक प्रमुख अंग है जो ७०० ई० के लगभग अपभ्रंश में बनना आरंभ हुआ। अपभ्रंश के वीररसपूर्ण काव्य का सबसे बड़ा संग्रह हेमचन्द्र सूरि (११७६ ई० के लगभग) का 'प्राकृत व्याकरण' है। 'प्राकृत पैंगल' में भी इस प्रकार की अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें जज्जल-लिखित हम्मीर (१२६२-६६) संबंधी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। सामंती काव्य में सामंती जीवन की सारी विशेषताएँ अत्यंत स्पष्ट रूप में हमारे सामने उपस्थित होती हैं। सामंतों के वीर आदर्श, उनकी वीर भावना का रूप, उनकी पत्नियों का वीर भाव, उनके युद्ध-संबंधी आदर्श, उनका शौर्य—ये सब इस काव्य में पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हैं। हिंदी कविता का आरंभ कब हुआ, यह अनिश्चित है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि अपभ्रंश की वीर काव्य की परंपरा ही बाद में चारण-काव्य की परंपरा में विकसित हो गई। वीसलदेव (११५३-६४) से सम्बन्धित 'वीसलदेव रासो' (११७२ ई०) कदाचित् हिंदी की पहली वीररसात्मक रचना है। कदाचित् मौखिक रूप से चलती हुई किसी रचना को नल्ह ने जनकाव्य का रूप दिया है। उसमें अपभ्रंश प्रचुर मात्रा में है, परन्तु वह निश्चय ही हिंदी की रचना है। परवर्ती संग्रहों में इस काल के कुछ प्राचीन हिंदी पद्य अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु वृहद् मात्रा में 'पृथ्वीराजरासो' को छोड़ कर

और कोई रचना हमारे पास तक नहीं पहुँच सकी है। मूलतः यह रचना भी हिंदी की अपेक्षा अपभ्रंश के ही अधिक निकट रही होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी का वीरकाव्य अधिक मात्रा में हमें प्राप्त नहीं है, उसकी भाषा के सम्बन्ध में भी हम निश्चित नहीं। वह बराबर वर्द्धमान रहा है। काव्य, इतिहास और लोककथाओं के न जाने कितने परत उस पर जम गये हैं। परन्तु फिर भी जो कुछ जिस रूप में प्राप्त है वह युग का चित्र उपस्थित करने में समर्थ है और उसमें साहित्य भी कम नहीं है।

(ङ) कथा-काव्य

अपभ्रंश काव्यों की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति कथाकाव्यों की प्रवृत्ति है। 'रासा' और 'रासो' ग्रंथों में मूलतः यही प्रवृत्ति काम कर रही है। 'रासा' ग्रन्थों में जैन चरित्रनायकों की कथायें वर्णित हैं; 'रासो' ग्रन्थों में राजपूत वीरों की गाथायें। परन्तु हम जानते हैं कि जैन और हिंदू कवि अपने अपने वीरों और चरित्रनायकों के चरित्र लिख कर ही संतुष्ट नहीं हो जाते थे, वे पौराणिक चरित्रों को भी लेते थे और पौराणिकों की तरह अपनी सारी शक्तियाँ उन पर खर्च कर देते थे। रामायण की रामकथा और हरिवंश की कृष्णकथा इस समय के जैन-अजैन कवियों को बड़ी प्रिय जान पड़ती है। कथा कहने की इस प्रवृत्ति का संबन्ध मूलतः अवधी प्रदेश, राजस्थान और गुजरात से रहा है जहाँ यह

परम्परा हमारे समय तक बराबर चलती रही है। इस समय के प्रसिद्ध कथाकाव्य हैं :

स्वयंभू : हरिवंश पुराण, पउमचरिउ (रामायण)

पुष्पदंत : महापुराण, नागकुमार चरित (नाथकुमार चरिउ)

धनपाल : भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त कथा)

मीरहसन : संनेह रासक (संदेश रासक)

कनकामर मुनि : करकंड चरिउ

शालिभद्र सूरि : बाहुबलिरास

सोमप्रभ : कुमारपाल प्रतिबोध

जिनपद्मसूरि : थूलिभद्र फाग

चंदवरदाई : पृथिवीराज रासो

राजशेखर सूरि : नेमिनाथ फाग

नल्ह : वीसलदेव रासो

जगनिक : आल्हा

इन कथाकाव्योंमें इतिहास और कल्पना का विलक्षण मिश्रण है। अधिकांश कथाकाव्य जैनपुराण से सम्बन्ध रखते हैं। राम और कृष्ण की कथा को भी जैनों ने अपने ढंग से अपना लिया था, वह भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। परन्तु कथा-काव्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण वे हैं जिनमें ऐतिहासिक पुरुषों को कवि ने अपना विषय बनाया है। आज वे एक साथ साहित्य और इतिहास बने हुये हैं। भाषा की दृष्टि से ये सारे कथा-काव्य हिंदी की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट पड़ते हैं।

जैन कवियों के ग्रंथ तो स्पष्टतयः अपभ्रंश में हैं। चांद, नल्ह और जगनिक के ग्रन्थों के जो रूप हमें आज प्राप्त हैं वे पुरानी हिंदी के अधिक निकट पड़ते हैं। उनका मौलिक रूप अपभ्रंश के बहुत निकट रहा होगा, यह उन अपभ्रंश रूपों से अनुमानित हो सकता है जो अब भी शेष रह गये हैं। कथाकाव्य की दृष्टि से इन सब ग्रंथों पर एक साथ विचार किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इनमें लगभग एक ही प्रकार से कथा का संगठन हुआ है और कथा-शैली की दृष्टि से भी अनेक प्रकार की समानता है।

इन कथा-काव्यों पर विचार करने से पहले भारतीय कथा-साहित्य के विकास पर भी थोड़ा विचार कर लेना होगा। हमारा सबसे पहला कथा-साहित्य आदि काव्य रामायण (वाल्मीकि) और महाभारत (व्यास) में सुरक्षित है। मध्य युग के कथा-साहित्य पर इन दोनों कथाओं का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। वास्तव में ईसा की पहली शताब्दी के बाद के सारे कथा-साहित्य पर इनका प्रभाव लक्षित है। संस्कृत के अधिकांश नाटकों का स्रोत यही कहाकाव्य हैं। मध्ययुग के कथा-साहित्य की तीसरी बड़ी प्रेरणा गुणाढ्य की 'बृहद्कथा' है। सातवीं शताब्दी में यह रचना उपलब्ध थी और लोकप्रिय थी, इसका प्रमाण सुबन्धु और बाण के रोमांसों से मिल जाता है। इसमें संदेह नहीं कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी में गुणाढ्य की 'बृहद्कथा' उपस्थित थी। यह निश्चित है कि चौथी-पाँचवी

शताब्दी के लगभग कौशाम्बी और उज्जयिनी में ये कथायें प्रचलित थीं। गुणाढ्य ने उन्हें एक सूत्र में गूँथ भर दिया। इस कथा का नायक नरवाहनदत्त उदयन का पुत्र है। यह उद-यन महात्मा बुद्ध का समकालीन था और लोककथाओं और लोकगीतों में प्रेम और साहस के क्षेत्र में इसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। कदाचित् बाद में नरवाहनदत्त को भी इसी क्षेत्र में लोक-प्रियता मिल गई। मदनमंजूषा नरवाहनदत्त की प्रेयसी है। गंधर्वराज मानसवेग उसका अपहरण कर लेता है। नायक को नायिका की खोज में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। उसका मंत्री गोमुख इसमें उसकी बड़ी सहायता करता है। अन्त में नर-वाहनदत्त को मदन-मंजूषा की प्राप्ति होती है और वह गंधर्वों के राज्य का भी स्वामी बन जाता है। यह स्पष्ट है कि यह कथा रामकथा पर ही आश्रित है। परन्तु नायक राम की भाँति धीरो-दत्त नायक नहीं है। इस समय तक भारतवर्ष का अनेक देशों से संबंध स्थापित हो चुका था और दूर देशों की यात्राओं की कठिनाइयों के वृत्तांतों से जनता बड़ी प्रभावित थी। फलस्वरूप वृहत्कथा में भी यात्राओं के बड़े-बड़े वर्णन मिलते हैं। उसमें अपार साहस और अगाध प्रेम की कथा को एक सूत्र में गूँथ दिया गया है। परन्तु इस प्रेम में सीता के प्रेम जैसी उज्ज्वल ज्योति नहीं है। मदन-मंजूषा साधारण कुलस्त्री है। चारुदत्त (भास) और मृच्छकटिक (शूद्रक) में हम इसी प्रकार की कुलस्त्रियाँ पाते हैं। भास के नाटकों में हमें उदयन के मंत्री

यौगंधनारायण के अनेक चित्र मिलते हैं। गोमुख उससे भिन्न नहीं है।

गुणाढ्य की कथा के कई छोटे-बड़े रूपांतर हमें मिलते हैं। वृहद्कथामंजरी, (क्षेमेंद्र), कथासरितसागर (सोमदेव), हरचरित-चिंतामणि (जयरथ), वृहद्कथा श्लोकसंग्रह (बुद्ध-स्वामिन्)। और भी अनेक रूपांतर रहे होंगे। यह निश्चित है कि नरवाहनदत्त के साहसिक कृत्यों में अनेक जनकथाएँ गुंफित कर दी गई हैं। आदिकाव्य में स्पष्ट रूप से विद्याधरों का उल्लेख है। महाभारत में चित्रसेन गंधर्व और भीमसेन के गंधमादन से फूल लाने की कथाएँ हैं। स्पष्टतय: नरवाहनदत्त की कथाएँ इसी परम्परा का विकास हैं। एक कथा दूसरी कथा से मिलती चलती है और प्रधान नायिका की प्राप्ति तक नरवाहनदत्त अनेक विवाहों से संपन्न हो जाता है। सोमदेव के 'कथा-सरितसागर' (१०६३—१०८१) को कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रियता मिली। इसका कारण यह है कि इसमें सैकड़ों नई जनकथायें जोड़ दी गई हैं। वस्तुतः कथासरितसागर में पंचतंत्र, बैतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी और पद्मावती की सारी प्रसिद्ध कथायें आ गई हैं। ये कथाएँ ७०० ई० से १००० ई० तक के भारत की सांस्कृतिक उथल-पुथल के समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

इन कथाओं के बाद तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हमारे सामने आती हैं : 'दशकुमार चरित्र' (दंडी), 'वासवदत्ता' (सुबंधु) और

'कादम्बरी' (वाण)। ये तीनों कथाएँ कथासरितसागर से बहुत कुछ लेती हैं परन्तु इनमें मौलिकता की कमी नहीं है। कथाकारों ने कल्पना, काव्य और कथा को इस सुन्दरता से एक सूत्र में गूँथ दिया है कि हमें आश्चर्य होता है। इसमें सन्देह नहीं कि तीनों रचनाएँ संसार के साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखेंगी। परवर्ती सारे काव्य को इन कथाओं ने प्रभावित किया है और उनकी भाषा-शैली का बराबर अनुसरण हुआ है। इनके बाद की प्रमुख रचनाएँ हैं 'तिलकमंजरी' (धनपाल, ६७२—३), गद्य-चिंतामणि (उदयदेव), दमयंती कथा या नल चंपू (त्रिविक्रम भट्ट, ६१५), मदालसा चंपू (वही), यशतिलक (सोमदेव, ६५६), जीवंधर चंपू (हरिचन्द, ६००), रामायण चम्पू (भोज और लक्ष्मण भट्ट), भरत चम्पू (अवन्त), उद-यन सुन्दरी कथा (सोड्डल, १००० ई०)। चम्पुओं और कथाओं की यह परम्परा अट्ठारहवीं शताब्दी तक चली आती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ७६० ई० से १००० ई० तक अनेक कथाओं की सृष्टि हुई थी और लोककथाओं के आधार पर कथालेखकों ने नई-नई कथाओं की सृष्टि की थी। अनेक चरित्र काव्य भी लिखे गए परन्तु उनमें इतिहास की शैली के स्थान पर काव्य की शैली का ही प्रयोग किया गया। इन कथाओं को इतनी लोकप्रियता मिल गई थी कि कवि के लिए शुद्ध ऐतिहासिक चरित्रकाव्य लिखना असंभव था। 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज के अनेक विवाहों की कथाएँ मिलती हैं।

उनका आधार कथासरितसागर और वृहद्कथा में ढूंढ़ना ही समीचीन होगा। वस्तुतः आदि युग के प्राकृत और अपभ्रंश के कथाकाव्यों और चरित्रकाव्यों में पिछली सामग्री ही बहुत बड़ी मात्रा में अपना ली गई है। उन्हें भारतीय कथा-साहित्य के विकास की इस पृष्ठभूमि में रख कर देखना ठीक होगा।

इस पृष्ठभूमि में जब हम स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, मीर हसन, सोमप्रभ, चंदवरदाई, नल्ह और जगनिक की रचनायें देखते हैं तो हमें अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी के इन कवियों की प्रतिभा की प्रशंसा ही करनी पड़ती है। स्वयंभू और पुष्पदंत की कथाएँ पौराणिक कथाओं पर आश्रित थीं और उनमें कल्पना का विशेष विस्तार संभव नहीं था। परन्तु धनपाल की कथा प्राचीन कथाओं के समकक्ष सरलतापूर्वक रखी जा सकती है। 'भविसयत कथा' (भविष्यदत्त कथा) का कथानक गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के कथानक से पूर्णतः मिलता-जुलता है। अंतर केवल इतना है कि धनपाल ने जैन वणिक-समाज का चित्रण किया है। उनका नायक सामंत नहीं है। पिछली कथाओं में नायक को नायिका को ढूँढने के लिए या तो हिमालय के किन्नरप्रदेश में जाना पड़ता था या विंध्य के विद्याधरों के देश में। यहाँ भविष्यदत्त को लंका की यात्रा करनी पड़ती है। वस्तुतः धनपाल के समय तक सिंहल (लङ्का) सिद्धपीठ के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था और सिद्धों और 'जोगियों' की सिद्धि-प्राप्ति की अनेक कथाएँ उससे संबंधित हो

गई थीं। धनपाल की रचना का नायक भविष्यदत्त है। उसका भाई बंधुदत्त उसकी पत्नी का अपहरण करता है। भविष्यदत्त अनेक कठिनाइयाँ झेलता हुआ सिंहल जाता है। पीछे घटना चक्र के अनुकूल होने से उसे अपनी स्त्री वापिस मिल जाती है और बन्धुदत्त को दंड मिलता है। धनपाल की यह कथा कल्पना-प्रसूत नहीं है। यह निश्चय ही कोई लोककथा होगी। धनपाल ने इसे धार्मिक रूप दे दिया और काव्यानुकूल कुछ विशेष परिवर्तनों के साथ उपस्थित कर दिया। इससे कथा का सौन्दर्य बढ़ा ही है। जायसी की 'पद्मावत' की पूरी रूपरेखा इस कथा में मिल जाती है। १५ वीं शताब्दी की लिखी प्राकृत की एक अन्य कथा 'रयण-सेहरी नरवह कथा' है जिसमें सिंहल, योगवर्णन, तोता इत्यादि आये हैं। इसमें नरपति रत्नशेखर और रत्नावली के प्रेम की कथा है। कथा के अंत में रानी का हरण इंद्रजाल सिद्ध होता है। सच तो यह है कि इस प्रकार की अनेक कथायें उस समय जनता में चल रही थीं। अपभ्रंश में लिखे पाँच वृहद् प्रबन्ध काव्य हमें प्राप्त हैं। 'भविष्ययत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है। शेष चार हैं तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार, आराधना, नेमिनाह चरिउ और वैरिसामि चरिउ। ये सब कथायें गुणाढ्य की परम्परा का ही विकास सूचित करती हैं।

इन कथाकाव्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें कथा का विशेष विकास तो नहीं मिला परन्तु जिनकी

सामग्री कथा पर ही आधारित है। संनेह रासक (मीरहसन), करकंड चरिउ (कनकामर मुनि), बाहुबलिरास (शालिभद्र सूरि), थूलिभद्रफाग (जिन पद्मसूरि), नेमिनाथ फाग (राजशेखर सूरि) और वीसलदेव रासो (नल्ह) इस प्रकार की रचनायें हैं। मीरहसन की रचना को छोड़ कर शेष सब का सम्बन्ध गुजरात से है। गुजरात में रास, होली, फागु इत्यादि अनेक जनोत्सव प्रचलित थे। इन रचनाओं में लेखक इन्ही जनोत्सवों को साहित्य का रूप देते हुये दिखाई पड़ते हैं। कथा की रूपरेखा मात्र स्वीकार कर ली गई है। मुख्य प्रसंग रास या फागु है। 'संनेहरासक' और 'वीसलदेव रासो' में स्पष्ट रूप से 'बारहमासा' शैली को प्रधानता मिली है। राजमती का विरहवर्णन ही कथा का केन्द्र है। यह स्पष्ट है कि कथाकार ऐतिहासिक चरित्र को भी सरस करके उपस्थित करना चाहता है। उसके नायक के चरित्र में इस मानव-मात्र की झाँकी देखते हैं। वह ऐतिहासिक पुरुष-मात्र नहीं रह जाता। कथा-साहित्य की यह परम्परा १५ वीं शताब्दी के बाद हिंदी में भी दिखलाई पड़ती है। ऊपर हमने जिन दो धाराओं का उल्लेख किया है, उनका विशेष विकास हिंदी में भी मिलता है। 'भविष्यदत्त कथा' की परम्परा हमें सूफी काव्य में मिल जाती है। राजस्थान से हमें अनेक उत्कृष्ट प्रेम-कथाएँ भी प्राप्त होती हैं जैसे ढोला मारूरा कथा या सत्यवती कथा। हीरा-राँझा और सोनी-महिवाल की कथाओं की तरह यह भी

जनकथायें हैं। इनमें कल्पना का विशेष प्रसार मिलता है। कृष्णकाव्य में हमें जैन कवियों के रास, फागु, दानु, चैती (वसंतोत्सव) और बारहमासा-संबन्धी काव्यों की परम्परा विकसित होती दिखाई पड़ती है। जैन काव्यों में इन प्रसंगों को गीतिकाव्य की शैली में ही लिखा गया है। कदाचित् इसी प्रकार की संगीत प्रधान अपभ्रंश रचनाओं ने जयदेव को 'गीत-गोविंद' की प्रेरणा दी होगी। यहाँ उनका संबंध जैन चरित्रों, मुख्यतः नेमिनाथ से है। कृष्णकथा में रास, फागु, दान, हिंडोर और चाँचरि की ये कथाएँ कृष्ण से संबंधित हो जाती हैं। इसके साथ-साथ शृंगार-शास्त्र में अनुमोदित पूर्वराग, अभिसार, मान, मानमोचन और दैव शृंगार से प्रभावित सुरति संग्राम और विपरीत रति आदि भी कृष्णकाव्य का अभिन्न अंग बन जाते हैं। सच तो यह है कि १६ वीं शताब्दी के कृष्ण-काव्य ने अपभ्रंश कथाकाव्य और जनगीतिकाव्य की सारी सामग्री ग्रहण करली। नरसिंह मेहता और सूरदास के काव्य में हम आदियुग के कथासाहित्य और लोकसाहित्य की परिणति ही पाते हैं। उसने नवद्वीप के सहजिया सम्प्रदाय में प्रचलित 'कृष्ण धमालियों' और विद्यापति-चंडीदास के पद-साहित्य से भी प्रभाव ग्रहण किया और गर्गसंहिता, भागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण जैसे पुराणग्रन्थों को भी आत्मसात किया, परन्तु उसका रंग-रूप प्रथमतः लोकगीतों और शृंगारशास्त्र की मान्यताओं पर ही आश्रित है। वल्लभ और विठ्ठल की लोक-

प्रियता का कारण ही यह है कि उन्होंने जैन उत्सवों, जैन कथाओं और जैन लोकगीतों को राधा-कृष्ण से संबन्धित कर उन्हें वैष्णव रूप दे दिया जो कदाचित् कहीं अधिक आकर्षक हो गया। कृष्ण परम रसिक, रस-मूर्ति, रसेश्वर बन गये।

अपभ्रंश के चरित्रकाव्यों की परम्परा का परवर्ती काल में अधिक विकास नहीं हुआ। राजस्थान के कुछ थोड़े से 'रासो' ग्रन्थ ही हिंदी चरित्रकाव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस श्रेणी में हम 'रामचरित मानस' को भी ले सकते हैं। परन्तु वह बहुत बाद की रचना है। भक्त कवियों का दृष्टिकोण पारमार्थिक था। अतः शुद्ध चरित्रकाव्य उनकी दृष्टि में हेय था। तुलसी ने कहा था :

> कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना।
> सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

इन प्राकृत गाथाओं से तुलसीदास का तात्पर्य चरित्र-काव्यों से ही है। फलतः भक्त कवियों से सामन्तों के चरित्र की आशा व्यर्थ है। राजस्थान में यह परम्परा चारण कवियों में अवश्य चलती रही परन्तु वहाँ कविकर्म व्यवसाय-मात्र था। शुद्ध चरित्र-काव्यों ने प्रशस्तिग्रंथों, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों और ऊहापोहात्मक रचनाओं का स्थान ले लिया।

काव्य की दृष्टि से आदियुग का कथा-काव्य उस युग के सारे साहित्य में सबसे अधिक पुष्ट है। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल और चंदवरदाई संसार के श्रेष्ठतम कथा-काव्य प्रणेताओं

के सम्मुख रखे जा सकते हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती पौराणिक साहित्य और काव्यों से बहुत कुछ लिया है, परन्तु इन कवियों की मौलिकता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं, वर्णनों और व्यंजनाओं से यह काव्य भरा पड़ा है। संतकाव्य के उच्च नैतिक आदर्शों और भक्तों की रसमयी काव्यधारा के स्रोत के लिए हमें उपनिषदों और कालिदास के काव्यों तक नहीं जाना होगा। जैन और बौद्ध (सिद्ध) साहित्य की लिखित परम्पराएँ और लोकगीतों और लोककथाओं की अलिखित परम्पराएँ हमें बहुत कुछ दे देंगी। इस दिशा में खोज की विशेष आवश्यकता है। आदियुग अब भी अंधकारयुग बना हुआ है। उसकी जीवंत परंपराओं से अभी हम पूर्णतः परिचित नहीं हैं। अभी हमने उस युग की साधनाओं और लोकपरंपराओं के मुख पर से रहस्य का अवगुंठन नहीं उठाया है। आदिकाव्य के माध्यम से ही हम परवर्ती संतकाव्य और भक्तकाव्य तक पहुँच सकेंगे, इसमें संदेह नहीं।

(च) नीति की कविता

भारतवर्ष में नीतिसंबंधी काव्य बहुत प्राचीन काल से बराबर लिखा जाता रहा है। ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ और महाभारत प्रमाण हैं। महाभारत को तो आचार और नीति का कोष ही समझना चाहिये। दर्शन, आचार-विचार, लोकव्यवहार, राजनीति और युद्धनीति—सच तो यह है कि मानव-जीवन का कोई भी अंग महाभारतकार से छूटा नहीं

है। पाली में इस विषय की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'धम्मपद' है। वस्तुतः आचार-संबंधी ग्रंथों में 'धम्मपद' का स्थान सदैव महत्त्वपूर्ण रहेगा। एक अन्य परवर्ती महत्त्वपूर्ण रचना चाणक्य-नीति है। राजनीति समुच्चय, चाणक्य नीति, वृहद् चाणक्य, लघु चाणक्य, चाणक्य-राजनीति नाम से ऐसी अनेक रचनाएँ आज भी चल रही हैं, जो सम्राट् चंद्रगुप्त के महामंत्री ब्राह्मण चाणकय से संबंधित की जाती है। इनमें आचार और सामान्य नीति सबंधी उक्तियाँ ही सबसे अधिक हैं।

यह स्पष्ट है कि जनता में आचार और नीति के संबंध में अनेक उक्तियाँ बराबर चला करती हैं। ये लोकज्ञान पर आश्रित रहती हैं। बहुत दिनों तक इस प्रकार की उक्तियाँ मौखिक रूप से चलती रहती हैं। बाद में इन्हें काव्य का रूप मिल जाता है। या तो यह धीरे-धीरे स्वयं अधिक संस्कृत हो जाती है या कोई श्रेष्ठ कवि उन्हें अपने काव्य में स्थान दे देता है। प्राचीन कथासाहित्य (पंचतंत्र, हितोपदेश, वृहद्कथा आदि) में कथा के बीच-बीच में ऐसी मुक्तक पदबद्ध रचनायें आज भी मिलती हैं। धीरे-धीरे इन्होंने स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लिया। पर-वर्ती युग में नीतिरत्न (वररुचि), नीतिसार (घटखर्पर), नीतिप्रदीप (वैताल भट्ट), भर्तृहरि नीतिशतक (भर्तृहरि), भल्लत शतक (भल्लत, ८८३—९०२ ई०), अन्योक्तिमुक्तालता-शतक (शंभु, १०८९—११०१ ई०), दृष्टांतशतक (कुसुमदेव) इत्यादि बीसियों रचनाएँ उपस्थित की गईं। वास्तव में पंद्रहवीं

शताब्दी के अन्त तक नीतिग्रंथों की परम्परा बराबर चली आती है। ज्ञानदेव की रचना 'नीतिमंजरी' (१४६४) इस विषय का अंतिम महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथ है।

आलोच्यकाल में यह परम्परा अपभ्रंश काव्यों में भी विकसित हुई। सोमप्रभ की 'शृंगार वैराग्य तरंगिनी' (१२७६) इस श्रेणी की महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश रचना है। परन्तु सच तो यह है कि जैन पुराणों और मुक्तक छंदों, विशेषतयः दोहों में नीति-सम्बन्धी प्रचुर साहित्य हमें मिलता है। मनुष्य-जीवन के दुःख और इकेलेपन के सम्बन्ध में स्वयंभू कहता है :

सच्चउ संसारि ण अत्थि सुहु। सच्चउ गिरि-मेरु-समाण दुहु।
सच्चउ जर-जम्मण-मरण भउ। सच्चउ जीविउ जलबिंद सउ॥
कहो घरु कहो परियणु बंधु जणु। कहो माय-वघु कहो सुहि-सयणु॥
कहो पुत्तु-मित्तु कहो किर घरिणि। कहो भाय-सहोयरु कहो वहिणि॥
फलु जाव ताव वंधव-सयण। आवासिय पायवि सउण॥

रामायण ७८।१

पुष्पदंत कहते हैं :

जो संतु वरिसइ सो णव घणु। जं वंकउँ दीसइ तं सुरधणु॥
जो गिरि दलइ चलइ साविज्जुल। चंचरीय-चुंविय कोमल दल॥

—आदिपुराण (पृ० ३०)

बब्बर के इन वचनों में कितनी सार्थकता है :

सो माणिअ पुणवन्त, जासु भत्त पंडिअ तणय।
जासु धरिणि गुणवंति, सोवि पुइवि सग्गइ णिलअ॥

कमल णअणि, अमिअ-वअणि ।
तरुणि धरणि, मिलइ सुपुणि ॥
सुरअरु सुरही परसमणि, णहि वीरेस समाण ।
ओ वकुल अरु कठिन तणु, ओ पसु ओ पासाण ॥
—'प्राकृतपैंगल' से

चंद का भाग्यवाद देखिये :

जु कछू लिख्यो लिलाट, सुख्ख अरु दुःख समंतइ ।
धन विद्या सुन्दरी, अंग आधार अनंतइ ॥
कलप कोटि टरि जाहिं, मिटै न न घटै प्रमानइ ।
जतन जोर जो करै, रंच न न मिटै बिनानइ ॥

हेमचन्द्र सूरि के प्राकृतव्याकरण से तो इस विषय के सैकड़ों उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। सच तो यह है कि अपभ्रंश काव्य का यह अंग अत्यंत परिपुष्ट है। हिंदी के दोहा-साहित्य और छप्पयों में अपभ्रंश की यही नीतिकाव्य-परंपरा विकसित हुई है, इसमें संदेह नहीं।

(छ) कृष्णकाव्य

'भास' के नाटकों में हमें पहली बार कृष्ण के बालकाल के चित्र मिलते हैं। विद्वानों ने भास के समय पर गवेषणात्मक ढंग से विचार किया है। उनका कहना है कि भास के नाटक कालिदास के नाटकों से बहुत पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी के लग-भग लिखे गये। 'हाल' की गाथा-सप्तशती का भी यही समय

है। इन रचनाओं से यह पता चलता है कि कृष्ण के रूप का मध्ययुगीन संस्करण पहली शताब्दी ईसवी के लगभग तैयार हो चुका था और उसका पहला प्रकाशन अपभ्रंश काव्य में हुआ। डा० भण्डारकर कृष्ण के इस नये रूप को दक्षिण-पश्चिम में आभीर जाति के उत्थान से संबन्धित करते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि पहली शताब्दी के लगभग मध्यदेश की जनता में बालकृष्ण-संबंधी वीरता और प्रेम की कथाएँ प्रचलित थीं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक ये कथाएँ बहुत दूर तक विकसित हो चुकी थीं। जान पड़ता है, बंगाल का जन-समाज निंबार्क मत के प्रचार के साथ इन कथाओं से परिचित हुआ और उसमें उसने अपने प्रदेश के सहजिया-सम्प्रदाय की भावनाओं का समावेश कर लिया। फलस्वरूप १२ वीं शताब्दी के आरम्भ में हमें जयदेव के दर्शन होते हैं। परन्तु जयदेव के 'गीतगोविंदम्' की पृष्ठभूमि में हमें अपभ्रंश और प्राकृत का सारा लिखित-अलिखित कृष्णकाव्य समझना चाहिये। यह शोक का विषय है कि यह काव्य हमें बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है और जो उपलब्ध भी है उसका विशेष अध्ययन नहीं हो सका है। पुष्पदंत (६५६—७२) के उत्तर-पुराण में कृष्णकथा का दसवीं शताब्दी का रूप हमें मिलता है। पुष्पदंत ब्रज या यौधेय (दिल्ली) के रहने वाले थे। अतः यह स्पष्ट है कि उनके काव्य में ब्रजभूमि की कृष्णसंबंधी प्राचीनतम किंवदंतियों का पता लगेगा। उदाहरण के लिये हम

कालियदमन की कथा को ले सकते हैं। भागवत में कालिय-दमन में कंस का कोई संबंध स्थापित नहीं हुआ है, परन्तु सूर-दास ने स्पष्ट रूप से कंस-कथा से उसे संबंधित कर दिया है—कंस दूत को बुला कर नंद के पास पत्र लिख देता है। पत्र पढ़ कर नंद डर जाते हैं। उन्हें आज्ञा दी गई है कि वे कालियदह के कमल राजमंदिर में पहुँचाएँ। गोपों को बुला कर वह कहते हैं, अब क्या हो ? कौन काली के फूल लाये ? यशोदा कृष्ण को बाहर नहीं जाने देतीं। कृष्ण यशोदा से पूछते हैं। वह नंद के पास भेज देती हैं। कृष्ण की बातें सुन कर नंद के दुःख कुछ कम हो जाते हैं।—इसके बाद कृष्ण के कालियदह में कूदने और नाग को नाथने की कथा है। पुष्पदंत के 'उत्तरपुराण' में कमल लाने की कथा का बीजांश मिल जाता है। इसी प्रकार गोपियों और कृष्ण की शृंगार-क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन भी पहली बार पुष्पदंत में ही मिलता है। कुछ अत्यन्त नवीन कथायें भी पुष्पदंत में मिलती हैं जो कदाचित् बाद में विस्तृत कर दी गईं जैसे पुष्पदंत के अनुसार देवकी पुत्र देखने के लिए नंद के घर छिप कर आई है। यह स्पष्ट है कि पौराणिक कृष्णकथा के साथ ब्रज में लोकभावना में और भी अनेक कथाएँ चल रही थीं।

पुष्पदंत की इस रचना के बाद हमें हेमचन्द के 'प्राकृत व्याकरण' और अन्य संग्रहों में प्रेम और बिलासपूर्ण लौकिक काव्य के दर्शन होते हैं जिसने अन्ततः कृष्णकथा को प्रभावित

किया और उसे वह रूप दिया जो 'गीत गोविंदम्' में मिलता है। जयदेव का समय ११६६—११६७ है। लगभग इसी समय जगन्नाथ के प्रसिद्ध देव-मंदिर का निर्माण हुआ था। यह जगन्नाथ कृष्ण ही हैं जो रुक्मणी और बलदेव के साथ यहाँ प्रतिष्ठित हैं। इस रचना में हमें भक्ति और शृंगार का अद्-भुत समन्वय मिलता है। बाद में हम अनेक कृष्णभक्त कवियों में इस समन्वय से परिचित होते हैं। पुष्पदंत की रचनाओं में कृष्ण का चरित्र विलास-मात्र है। कवि जैन है। अतः भक्ति की भावना उसमें नहीं है। अपने प्रदेश में कृष्णकथा का जो रूप उसने देखा वही रूप उसने काव्य के लिए ग्रहण कर लिया। परन्तु जयदेव ने भागवत से प्रेरणामात्र लेकर ही साहित्यशास्त्र और कल्पना के आधार पर राधा-माधव-केलि का जो संगीतमय रूप उपस्थित किया, वह अपभ्रंश काव्य की सारी माधुरी समेट कर उससे कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। अपभ्रंश काव्य में जयदेव की रचना का पूर्व रूप निश्चित ढंग से मिल जाता है। 'प्राकृत पैंगल' में कृष्णसंबन्धी एक रचना इस प्रकार उद्धृत है :

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोड़ि, डगमग कुगति ण देहि।
तइ इत्थि णइहिं संतार देइ, जो चाइहि सो लेहि॥

जिणि कंस विणासिअ कित्तिपआसिअ, मुट्ठि-अरिट्ठि विणास करे,
गिरि हत्थ धरे।
जमलज्जुण भंजिअ पअभर गंजिअ, कालिअ-कुल संहार करे,
जस भुअण भरे।

चाणूर विहंडिअ णिअ-कुल मंडिअ, राहा-मुह मधु पाण करे,
जिमि भ्रमर वरे।
सो तुम्ह णारायण विप्प-पराअण, चित्तह चिंतिअ
देउ वरा भअ-भीअ-हरे ॥ २०७ ॥
भुवण-अणंदो तिहुअण कंदो।
भमरसवण्णो स जअइ कण्हो ॥ ९ ॥
परिणअ ससिहर-वअणं, विमल कमल दल णअणं।
विहिअ-असुर-कुल दलणं, पणमह सिरि महुमहणं ॥ १० ॥
(१३ वीं शताब्दी)

यह तो स्पष्ट है कि 'गीतगोविंदम्' की रचना इस उद्धरण से कहीं पहले हो चुकी थी, परन्तु इससे यह प्रगट होता है कि जयदेव ने अपने काव्य को जो रूप दिया वह लोक-भावना में पहले से ही उपस्थित था। उसका माध्यम जनभाषा अपभ्रंश ही रही होगी। जयदेव को यह श्रेय है कि उन्होंने उसे संस्कृत के माध्यम से प्रकाशित किया और अपनी प्रतिभा के बल से उसमें मधुरता और कला का ऐसा अप्रतिम समावेश कर दिया। वैसे गीतगोविंदम् की पदशैली सरहपा (७६० ई०) की रचनाओं में ही मिल जाती है और जयदेव तक पहुँचते-पहुँचते उसे विकास के लिये तीन शताब्दियों का समय भी मिल जाता है। कदाचित् राग-रागनियों में बँधी यह संस्कृत की पहली गीत-रचना है। छंदों और शैलियों के क्षेत्र में भी वह समसामयिक या पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्य का ही अनुकरण करती है। शालि-

भद्र सूरि (११८४) के 'बाहु बलिरास', जिनपद्मसूरि (१२००) के 'थूलिभद्द फाग' और राजशेखरसूरि (१३१४) के 'नेमिनाथ-फाग' से जो परिचित हैं वह 'गीतगोविंद' के माधुर्य पर आश्चर्य नहीं करेंगे।

जयदेव का समय लक्ष्मणसेन (११७५—१२००) का समय है। जयदेव नवद्वीप के निवासी थे और इस प्रदेश में भागवत और वैष्णवभक्ति की परम्परा उन कर्णाट ब्राह्मणों द्वारा बहुत पहले ही प्रचलित हो गई थी जिन्होंने ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में यहाँ तक उपनिवेश स्थापित किया था। यह छोटा-सा वैष्णव उपनिवेश शक्तिपूजकों, महायानियों और बज्रयानियों से घिरा हुआ था और यह असंभव नहीं है कि इस कारण कृष्णकथा में अनेक नई दंतकथाओं और भावनाओं का मिश्रण यहाँ हो गया हो। गोवर्धनाचार्य, धोई, चरण और उमापति लक्ष्मणसेन के अन्य राजकवि थे। इनमें धोई का 'पवनदूत' कालिदास के 'मेघदूत' से प्रभावित एक सुन्दर गीति-काव्य है। चरण की कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हैं। उमापति कदाचित् वही मैथिल कवि उमापतिधर हैं जिन्हें मैथिला का आदि कवि माना जाता है। इनकी कृष्ण-सम्बन्धी रचनाएँ प्राप्त हैं। गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' हाल की 'गाथा सप्त-शती' का नवीन रूप है और उसके मंगलाचरण में स्पष्ट रूप से राधा का उल्लेख है। यह स्पष्ट है कि जयदेव के समय तक बंगाल के वैष्णवों में राधा की भावना का समावेश हो गया

था। पुष्पदंत (६५६ – ७२) का जन्मस्थान ब्रज या यौधेय (दिल्ली) प्रदेश ही था। 'महापुराण' नाम की अपनी अपभ्रंश रचना में उन्होंने कृष्णकथा को विस्तारपूर्वक लिखा है। यह कथा भागवत की कथा पर आश्रित है जिसका रचनाकाल कदाचित् आठवीं-नवीं शताब्दी परन्तु इसमें अनेक नवीन कल्पनाओं और कथाओं का भी समावेश हुआ है। जान पड़ता है कवि ने ब्रजप्रदेश की सारी लोक-प्रचलित सामग्री का समावेश किया है, परंतु उसमें राधा की कथा निश्चित रूप से नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि राधा की कथा बंगाल की उपज है और कदाचित् नवद्वीप को ही इस कथा को विकसित करने का श्रेय मिलेगा। राधा का पहला चित्र हमें जयदेव के 'गीतगोविन्दम्' में ही मिलता है।

'गीतगोविन्द' की शैली एक नितांत अभिनव शैली है। सारे संस्कृत काव्यसाहित्य में वह शैली और कहीं नहीं मिलती। जनश्रुति है कि जयदेव ने इस ग्रन्थ की रचना उड़ीसा में जगन्नाथ के सामने की। जगन्नाथपुरी के मंदिर का प्रतिष्ठाकाल १०८६ ई० के लगभग है। उसमें कृष्ण, बलराम और रुक्मिणी की मूर्तियों की प्रतिष्ठा थी और कदाचित् गान-नृत्य के साथ बड़े समारोह से पूजन का आयोजन होता था। जान पड़ता है, जयदेव ने इस गान-नृत्य समारोह से ही 'गीतगोविंद' की प्रेरणा प्राप्त की। इसमें राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन, मान और दूतियों (या दूती) द्वारा मानमोचन और तदुपरांत रास-

केलि का गीतात्मक वर्णन है। रचना काव्य की भाँति सर्गबद्ध है, नाटक की भाँति अंकों में विभाजित नहीं है, परंतु उसमें पदों और सूचनात्मक अथवा वर्णनात्मक श्लोकों की योजना कुछ इस ढंग से हुई है कि हम उसे गीतिकाव्य और नाटक के बीच की श्रेणी मान सकते हैं। लेखकों ने उसका संबंध 'यात्रा' से जोड़ना चाहा है, परंतु 'यात्रा' स्पष्टयः १६ वीं शती और बाद की चीज है और वह जयदेव का प्रभाव ही सूचित करती है, उनके काव्य का स्रोत नहीं बन सकती। बहुत संभव तो यह है कि कृष्णराधा के केलि-विलास की कल्पना का आधार रीति-शास्त्र और लोक-कथा हो और 'गीतगोविंद' में इन दोनों का सुन्दर रूप से गठबंधन हो गया हो। कुछ विद्वानों का कहना है कि मूल रचना अपभ्रंश में रही होगी, परंतु यह केवल भ्रम-मात्र है। यह तो ठीक है कि पदों की शैली अपभ्रंश की शैली है। सिद्धों की रचनाएँ ७६० ई० से आरंभ होती हैं और उनमें राग-ताल बद्ध पद हमें पहली बार मिलते हैं। संभव है राधा-कृष्ण को लेकर भी कुछ पद पहले रचे गये हों और जयदेव इस लोकगीत साहित्य से परिचित हों और उन्होंने अपनी रचना को उसके आधार पर विकसित किया हो। परंतु इससे अधिक कुछ भी कहना संभव नहीं है। यह स्पष्ट है कि गीतगोविंद में कला का जो रूप है, वह प्रयास-बाहुल्य का फल है। उसमें काव्य की सहज स्फूर्ति नहीं है। अपभ्रंश रचनाओं के सामने रखने पर तो 'गीतगोविंद' अत्यन्त कलापूर्ण और कृत्रिम

रचना ही लगेगी । परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसमें कला, संगीत, भाषा और भाव-सौंदर्य की ऐसी पूर्णता थी जो संस्कृत काव्य में भी अलभ्य थी और जिसने हिंदी काव्य में एक अभिनव धारा का सूत्रपात किया।

वास्तव में जयदेव की गीतगोविंदम् की शैली प्राचीन मार्ग-संगीत की शैली का ही अनुसरण करती हैं । संगीत ही जैसे इस काव्य की आत्मा है। भाषा के सारे सम्मोहन अस्त्रों का प्रयोग कवि ने इस काव्य में किया है। कृष्ण की केलि का यह चित्र देखिये :

चंदन-चर्चित नील कलेवर पीत वसन वनमाली
केलि-चलन-मणि-कुंडल-मंडित गंड युगस्मित शाली
हरिरिह मुग्ध-बधू-निकरे
विलसिनि विलसति केलि परे
पीन पयोधर भार-भरेण हरिम् परिरंभ्य सरागम
गोपबधुर अनुगमति क्वचिद् उदयंम्वित पंचम रागम्
हरिरिह०
कापि विलास-विलोल-विलोचन खेलंजितः मनोजम्
ध्यायति गोपबधुर अधिकम् मधुसूदन वदन सरोजम्
हरिरिह०

यहाँ भाव का यह स्थूल और संगीतमय रूप शृंगार को रहस्य-मयता प्रदान कर देता है। कृष्ण और राधा को हम भले ही परमात्मा-जीवात्मा की केलि का रूपक नहीं दें, इसमें संदेह

नहीं कि जयदेव के काव्य की तन्मयता, मधुरता और संगीत-मयता इसे स्थूल शृंगार से बहुत ऊँचा उठा देती है। काव्य के आरंभ और अंत में कवि राधा-माधव की बन्दना करके लौकिक शृंगार का बाध कर देता है। जयदेव भक्त है, या कवि, या रहस्यवादी—इस विषय को लेकर बराबर चर्चा चलती रहती है। परंतु सच तो यह है कि उत्कृष्ट रचनाएँ अनेक पहलुओं को एक साथ छूती हैं। वैसे 'आदिग्रन्थ' के दो पदों को यदि हम उनकी प्रामाणिक रचना मान लें तो वे एक ही साथ संत और भक्तकाव्य के प्रवर्तकों में आ जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि सेन-वंश वैष्णव था और नवद्वीप केन्द्र में कर्णाटकी भक्ति का विकास लगभग दो शताब्दियों तक बराबर होता रहा। उड़ीसा में जगन्नाथ के मंदिर (१०८६ ई०) की स्थापना के बाद नवद्वीप और जगन्नाथपुरी वैष्णवों के दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गये। यहीं ११६३ ई० में सेनराज्य के नष्ट होने पर लक्ष्मणसेन शरणागत बने थे। अतः इसमें संदेह नहीं कि जयदेव के काव्य के पीछे वैष्णव-भावना का पर्याप्त बल है। उसे केवल मात्र काव्य कह कर लांछित नहीं किया जा सकता। राधामाधव की कथा के लिए जयदेव कहाँ तक लोक-परम्परा, सहज मत या पुराणों के ऋणी हैं, यह कहना कठिन है, परन्तु जयदेव का काव्य मध्ययुग की कृष्णभक्ति-धारा के लिए सबसे बड़ी प्रभावशाली शक्ति रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संभव है, जयदेव 'ब्रह्म-

वैवर्तपुराण' के ऋणी हों । मंगलाचरण में राधामाधव की जिस स्थिति का वर्णन है वह जयदेव में मिल जाती है। संभव है, दोनों में एक ही लोककथा ग्रहीत हुई हो । परंतु यह निश्चय है कि ब्रह्मवैवर्त, गीतगोविंद, सूरदास की निकुंज-लीला और हितहरिवंश एवं नरसीमेहता के सुरति-संग्राम वर्णनों में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है और ये रचनायें जहाँ कृष्ण-कथा में एक नितांत अभिनव अध्याय जोड़ती हैं, वहाँ मध्ययुग की वैष्णव-भावना और कृष्णभक्ति को एक बिल्कुल नई दिशा देने में भी समर्थ होती हैं । वैसे इष्टदेव की विलास-लीला के वर्णन की एक परम्परा इस देश में बराबर रही है। कालिदास का 'कुमारसंभव' इसका प्रमाण है। मंगलाचरणों में भी देवरति के चित्र मिलते हैं। जयदेव और परवर्ती कवियों के लिए यह कोई नई चीज़ नहीं थी, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि अब वह काव्य की चुहल मात्र नहीं थी, भक्ति की जीवंत साधना से उसका संबन्ध स्थापित हो गया था। संभव है, राधा-कृष्ण कथा का यह नया रूप तंत्रों का प्रभाव हो, या बंगाल की किसी महामानीय गुह्यसाधना से इसका सम्बन्ध हो। परन्तु इसकी मौलिकता और क्रांतिकारिता ज़रा भी संदेह की वस्तुएँ नहीं हैं। जब भक्त कवि भाव में विभोर होकर जयदेव के कंठ से कंठ मिला कर कहता है :

मंजुतर कुंजतलकेलिसदने प्रविश राधे माधव
समीपमिह

विलस रति-रभस हसित वदने ।
नव भवदशोकदल चयन-सारे : प्रविश ०
विलस कुचकलशतरल हारे ।
कुसुमचय रचित शुचिवास गेह : प्रविश०
विलस कुसुम सुकुमार राधे ।०

तो न वह किसी रूपक का आरोप करता है, न स्थूल शृंगार-भाव का पोषण करता है। वह निःस्पृह भाव से अपनी इंद्रियों की आसक्ति को भगवान की ओर प्रेरित करता है। वह लीला-मात्र को प्रयोजन समझता हुआ लीला-गान करता है और गद्गद् हो उठता है। इसे शृंगार कहिये, या भक्ति, परन्तु यह न रहस्यमय है, न स्थूल बुद्धि का विषय है। यह इंद्रियों के वहिरागमन को रोककर उसे कृष्णाभिमुख करना-मात्र है। मानिनी राधा के मानमोचन का प्रयत्न करती हुई जब सखी (दूती) कहती है :

हरिर अभिसरति बहति मधु पवने ।
किम अपरम अधिक सुखम् सखि भवने ?
माधव मा कुरु मानिनी मानम्—ए
ताल फलद अपि गुरुम् अतिसरसम्
किम विफली कुरुशे कुच-कलशम् : माधवे०

तो भक्त इस कथा की अलौकिक मधुरता से ही विभोर हो उठता है। उसके लिए राधा-माधव के इस केलि-विलास में

गोपनीय कुछ भी नहीं है, लज्जा की कोई बात ही नहीं है। यह तो उस अपूर्व पुरुष की लीला-मात्र है।

परन्तु विद्यापति (१३७५—१४५०) का काव्य संगीत, भावना और कला की इतनी ऊँचाई तक नहीं पहुँचता। कारण, विद्यापति मूलतः शैव थे। मिथिला का राजाश्रय भी शैव था, यद्यपि भागवत का अध्ययन चल पड़ा था और उसकी कथा-वार्ता भी होती है। परन्तु विद्यापति के काव्य का प्रेरणास्रोत कृष्णभक्ति नहीं, काव्य-जिज्ञासा मात्र है। उन्होंने अपने हाथ से भागवत की एक प्रतिलिपि तैयार की थी और अपने लिए मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' की प्रतिलिपि भी करवाई थी। इससे यह स्पष्ट है कि वह भागवत की कृष्णकथा से अपरिचित नहीं थे। परन्तु उनके काव्य पर भागवत का प्रभाव बहुत कम है, जयदेव का प्रभाव कहीं अधिक हैं। उन्होंने जयदेव के काव्य की अंतःप्रेरणा को ग्रहण नहीं किया। वह 'काव्यप्रकाश' के आधार पर वयःसंधि, सद्यःस्नान, प्रथम परिचय, मान और मानमोचन एवं मिलन की एक सामंती शृंखला बाँध कर चले। इसी संकीर्ण क्षेत्र में अनेक प्रकार से सुन्दर मैथिली पदों में उन्होंने जयदेव की सामग्री को भरना चाहा। मैथिली भाषा के सारे माधुर्य और संस्कृत काव्य की सारी गरिमा से उन्होंने अपने काव्य को पुष्ट किया। वह स्वतः बहुत बड़ी चीज़ है। प्रेम की अनन्यता, सौन्दर्य और विलास का ऐसा सुन्दर संगीतमय चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि जयदेव

से आगे वे बढ़ नहीं सके हैं। उनका काव्य अलौकिक स्तर की अपेक्षा लौकिक स्तर को ही अधिक छूता है। उनके काव्य पर जयदेव का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। परन्तु कवि न 'रास' का वर्णन करता है, न मान और मानमोचन के प्रसंगों तक ही सीमित रहता है। वह मथुरा-गमन के प्रसंग से पूर्णतयः परिचित है और विरहवर्णन में इस पृष्ठभूमि का भी प्रयोग करता है। भागवत के कथानक और विद्यापति के कथानक की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति का कथानक अत्यन्त एकांगी है। विद्यापति ने केवल उन्हीं प्रसंगों को लिया है जिन्हें काव्य-शास्त्रियों ने शृंगार रस की पुष्टि के लिए आवश्यक समझा है, अन्य प्रसंग उनके द्वारा उपेक्षित हैं। कवि ने कथानक में उलट-फेर भी किया है। कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो दूतियाँ राधा का संदेश उनके पास ले जाती हैं। यह कवि की नवीन कल्पना है। फिर कृष्ण मथुरा से लौट आते हैं और राधा का मानमोचन हो जाता है एवं विरह की परिणति मिलन में होती है। इस प्रकार की कोई बात मूल कथा में नहीं है। भँवरगीत जैसे मार्मिक प्रसंग को भी विद्यापति ने छोड़ दिया है।

१५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रह्मवैवर्त पुराण, जयदेव और विद्यापति की रचनायें देश भर में लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थीं। महाराणा कुंभकरण (१३६२—१४१२) की 'गीत-गोविंद की टीका' इसी लोकप्रियता की सूचना देती है। इस

समय कृष्णकथा का विशेष विकास ब्रजप्रदेश, राजस्थान और गुजरात में हुआ। चित्तौड़ और ग्वालियर इन दिनों हिंदू संस्कृति के केन्द्र बन गये थे। ग्वालियर केन्द्र में महाराज मानसिंह (१४८६—१५१८) के तत्त्वावधान में भारतीय संगीत का पुनर्जागरण हुआ और बैजूबावरा, सदारंग, शेखमुहम्मद गौस और तानसेन के पद इसी केन्द्र से कृष्णराधा के केलि-विलास की कथा लेकर घर-घर गूँजने लगे। धम्मार ताल में इन गीतों के गाने के लिए विशेष शैली (ध्रुवपद या ध्रुपद शैली) विकसित हुई और इस प्रकार के संगीत के लिए लिखे जाने वाले पद "विष्णुपद' या 'विष्णुपदी' के नाम से प्रचलित हुए। चित्तौड़ में मीरा (१५०३—१५४६) और गुजरात में नरसी मेहता (१४००—१५००) ने माधुर्य-भक्ति के विकास में विशेष सहयोग दिया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य काल (७००—१४००) में राधाकृष्ण के संबन्ध में नाना पुराणों, उपनिषदों, लोककथाओं और काव्यों की सृष्टि हुई। पुष्पदंत के काव्य में इस कथा का प्रारम्भिक रूप मिलता है। १००० ई० के बाद से कृष्णकथा में अनेक लोक-भावनाओं और शास्त्रीय अध्यायों का आरोप होने लगता है। जयदेव और ब्रह्मवैवर्तपुराण में हम राधाकृष्ण का एक पूर्ण चित्र पाते हैं। बाद की दो शताब्दियों में भी कथा का बराबर विकास होता रहा होगा, परंतु इस विकास की शृंखला उपस्थित करना कुछ

कठिन काम है। जान पड़ता है, जहाँ पूर्व में जयदेव और विद्यापति के काव्य में राधा-माधव-कथा का विकास शृंगार शास्त्र के माध्यम और चंडीदास में सहजिया संप्रदाय की प्रेमभावना के माध्यम से हुआ, वहाँ पश्चिम में जनता में चलती हुई अनेक दंतकथाएँ और अनेक आचार-विचार इस कथा में मिल गये। दान, फागु, हिंडोला, रास जैसे नये प्रसंगों का समावेश हुआ। सूरदास (१४७८—१५८३) की रचनाओं में लोकप्रचलित इसी कृष्णकाव्य को साहित्य का रूप मिल गया है। विद्यापति (१३७५—१४५०) और सूरदास (१४७८–१५८३) के बीच की शृंखला अभी स्थापित नहीं हो सकी है, परन्तु इससे आलोच्ययुग की महत्ता कम नहीं होती।

(ज) सूफ़ी कविता

सूफ़ी साधना और विचारधारा के संबंध में हम पहले कुछ विस्तार-पूर्वक लिख चुके हैं। यहाँ हमें आलोच्यकाल (७००—ई० १४०० ई०) की सूफ़ी कविता के संबन्ध में विशेष रूप से कहना है।

सूफ़ी आन्दोलन का जन्म ८ वीं शताब्दी ईसवी में अरब में हुआ। ८१५ ई० के लगभग इस्लामी साधुओं का एक विशेष वर्ग 'सूफ़ी' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका 'सूफ़ी' नाम इसलिये पड़ा कि वे 'सूफ़' (ऊन) के कपड़े पहरते थे। जो व्यक्ति संसार-त्यागी हो जाता था उसके लिए अरबी में 'लबिसलसूफ़' कहा जाता था। बाद में सूफ़ी शब्द एक विशेष अर्थ के लिए प्रयोग में आने लगा। सूफ़ी आन्दोलन का विशेष विकास फ़ारस में

हुआ। उसमें ईरानी जाति और इस्लामपूर्व धार्मिक विकास की विशेताएँ भी सम्मिलित हो गईं। ईरान में अनेक धार्मिक चिंताओं और साधनाओं का सामान्य सूफ़ीमत में मिश्रण हो गया। वास्तव में ईरान उस समय पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं और संस्कृतियों की मिलन-भूमि थी। उसके एक ओर यूनान की सभ्यता थी, दूसरी ओर भारतवर्ष की सभ्यता थी। इन सब प्रभावों ने ईरान के सूफ़ीमत को विशेष व्यक्तित्त्व प्रदान किया। भारत में आने से पहले ही उस पर हिन्दू और बौद्ध विचारावली का प्रभाव पड़ चुका था।

सूफ़ीमतवाद के विशिष्ट व्यक्तित्त्व का प्रकाशन बिस्तां के बाइजीद में ही पहली बार मिलता है। उसने फ़ना' की महिमा गाई है। स्पष्ट ही यह बौद्धमत के शून्यवाद का प्रभाव है। जीव चित्सत्ता में पूर्णतय: लोप हो जाये, उसके अपने व्यक्तित्त्व का नाश हो जाये, यही बाइजीद का संदेश था। इसमें शंकर के वेदांत की भी झलक दिखाई देती है। इस मत का सर्वोत्कृष्ट विकास मंसूर-अल-हल्लाज की रचनाओं और साधना में मिलता है। 'अनलहक्क' (अहम् ब्रह्म या सोऽहं) उसी का आविष्कार था। इसके लिए उसे अपने प्राणों की भी आहुति देनी पड़ी (९७८ ई०)। वस्तुतः ये दोनों सूफ़ी इस्लाम की एक तरह से उपेक्षा ही करते थे। ये प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णु थे और इस्लामी सिद्धान्तों के प्रति इनका कोई आकर्षण नहीं था। इसी से कट्टर इस्लामी इन्हें 'काफ़िर' मनाते थे।

७११ ई० में इस्लाम ने भारतवर्ष में प्रवेश कर लिया था और एक शताब्दी के समय में इस्लाम भारतवर्ष से बहुत कुछ ले चुका था। मुलतान मंसूर के समय में विद्या तथा तसव्वुफ़ (सूफ़ी मत) का केन्द्र बन रहा था। कतिपय बौद्ध भी इस्लाम स्वीकार कर चुके थे और इस प्रकार बौद्ध साधना और विचार का भी इस्लामी सूफ़ी मतवाद में प्रवेश हो रहा था। ईरानी सूफ़ीमतवाद के विकास में यज़ीद (मृ० ८३१), जुनैद (मृ० ६६६), हल्लाज (मंसूर, मृ० ६७८), फाराबी (मृ० १००७), अबूसईद (मृ० ११०६) और ग़ज़ाली (मृ० ११६८) का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद भी ईरान में रूमी (मृ० १३३०) और फ़ारिज (मृ० १३४८) जैसे सूफ़ी विचारक हुए परन्तु भारत में सूफ़ी मत स्वतन्त्र रूप से भी विकसित होता रहा।

पंजाब १०२३ ई० में ग़ज़नी के राज्य में सम्मिलित हो गया और शीघ्र ही सिंध और अफ़गानिस्तान के सूफ़ी साधक प्रांत भर में छा गये। भारतवर्ष में सूफ़ी मत का इतिहास मुख्यतयः मुईनुद्दीन चिश्ती से आरंभ होता है जो ११२५ ई० में भारतवर्ष आये। उन्होंने अजमेर को अपना केन्द्र बना लिया। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय तक मुसलमानों का प्रवेश इस प्रदेश में नहीं हो पाया था। इस वंश ने सूफ़ी मत के प्रसार में विशेष भाग लिया। मुईनुद्दीन के शिष्य कुतबुद्दीनकाकी (११५०—१२३६) थे जिन्होने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया

था। इनमें शिष्य प्रसिद्ध हज़रत बाबा फरीदुद्दीन गंजेशकर (११७३—१२६५) थे। दिल्ली के प्रसिद्ध सूफ़ी संत निज़ामुद्दीन औलिया (१२३७—१३२५) इन्हीं के शिष्य थे। फरीदुद्दीन ने पाकपट्टन (पंजाब) को सूफ़ियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र बना दिया था। इस केन्द्र से निकल कर उनके शिष्य सारे उत्तरी भारत में फैल गये। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण शेख़ इब्राहीम (फ़रीद सानी, १४५०—१५५४) हैं जिनकी कविता 'आदि ग्रंथ' (१६०४) में सुरक्षित है। कहा जाता है कि इसमें कुछ पंक्तियाँ पहले शेख़ फ़रीद (११७३—१२६५) की भी हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पश्चिम में सूफ़ियों के कई बड़े केन्द्र इस समय थे। मुलतान, अजमेर, पाकपट्टन, दिल्ली और सरहिंद इनमें मुख्य थे। पूर्व के सूफ़ी मतवाद का विशेष विकास जौनपुर के शरक़ी बादशाहों के समय (१३६४—१४६३) में हुआ यद्यपि इससे पहले भी जौनपुर, काल्पी और झूंसी सूफ़ियों के पूर्वी केन्द्र थे। कदाचित् काल्पी की सूफ़ी गद्दी सैयद अशरफ़ जहाँगीर ने स्थापित की जो हजरत निज़ामुद्दीन के शिष्य सिराजुद्दीन के प्रशिष्य थे। जायसी इसी गद्दी से संबंधित थे। कबीर के समय में झूंसी शेख़ तक़ी (मृ० १४२६) का निवास-स्थान था। उन्होंने एक पद में गोमती नदी के किनारे रहने-वाले किसी पीर का उल्लेख किया है। संभव है कि यह स्थान जौनपुर ही हो जिसे १३५१ ई० में फीरोजशाह तुग़लक ने बसाया था।

जो हो, यह निश्चित है कि आलोच्यकाल में पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी प्रदेश में सूफ़ी सन्तों के केन्द्र स्थापित हो चुके थे और इन केन्द्रों से गद्य-पद्य में प्रचार के लिए प्रचुर मात्रा में साहित्य की सृष्टि होती थी। शेख फ़रीदउद्दीन शकरगंज की फ़ारसी कविता में हिंदी का भी सम्मिश्रण मिलता है :

वक्ते सेहर वक्ते मनाजात है
खेज़ दरा वक्त कि बरकात है
पंदे-शकरगंज बदिलजान शुनो
ज़ाया मकुन उम्र कि हैहात है

लगभग सौ वर्ष बाद शेख बहाउद्दीन बाजन (मृ० १४६८ ई० की भाषा देखने योग्य है :

बाजन कोई न जाने वह कद था ओ कद परगट हुआ
वही जाने आप कौन जए थे परगट हुआ

बाजन भिख्यारी बखान करेगा
वले अपनी भीक कारन कुछ कुछ कहेगा
जो कुछ किस्मत में है सो ही लहेगा
कदा कूँ बतोही बराता रहेगा

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि पश्चिम के सूफ़ियों की भाषा खड़ीबोली का प्राचीन रूप था जो कहीं-कहीं पंजाबी, राजस्थानी और ब्रजभाषा से मिश्रित हो गया था। फ़रीद (१४५०—१५५४) की कविता में सूफ़ी कविता का बहुत सुलझा हुआ रूप हमें दिखलाई देता है :

फ़रीहा रोटी मेरी काठ की लावन मेरी भुक्ख
जिन्हा खाधियाँ चुपड़ियाँ सोइ सहेंगे दुक्ख
सेख हयाती जग ना कोई थिरु रहिया
जिसु आसनी हम बैठे केते बस गइया
फ़ाड़ पटोला धज करी कंबलड़ी पहिरोइ
जिनि बेसी साहू मिलइ सोई वेस करोइ
हरि हरिजन दोउ एक है विंव विकार कोइ नाइ
जल ते उठे तरंग ज्यों जल ही बीच समाइ

यह निश्चय है कि फ़रीदसानी की कविता में कुछ पद फ़रीद प्रथम के भी हैं, परन्तु उनको अब अलग करना कठिन है।

वस्तुतः सूफ़ी कविता का सबसे सुन्दर भारतीय रूप हमें अवधी के सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्यों और कबीर (१३९८--१५१४) की रचनाओं में मिलता है। प्रेमाख्यानक काव्यों में पहली रचना का उल्लेख मात्र ही पाया जाता है और यह (नूरक और चंदा की प्रेमकथा) १३१८ ई० की रचना बताई जाती है। यह शोक का विषय है कि इस परंपरा की दूसरी कड़ी 'मृगावती' (क़ुतबन, १४९३) लगभग १७५ वर्ष बाद की रचना है। इसमें संदेह नहीं कि इस बीच में अनेक रचनाएँ लिखी गई होंगी परन्तु वे सब अभी उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। कबीर की रचनायें भी आलोच्यकाल के भीतर नहीं आतीं, परन्तु वे उन्हीं विचारों का फल है कि आलोच्यकाल में हिन्दू-मुसलमान साधकों का हृदय-मंथन कर रहे थे।

यह निश्चय है कि आलोच्यकाल के अंतिम चार सौ वर्षों में उत्तर भारत में योगियों, सूफ़ियों और वैष्णवों के रूप में तीन प्रधान धार्मिक नेता उपस्थित थे। योगी शैव थे, परंतु वस्तुतः वह शिव-शक्ति को केवल प्रतीक रूप में ही लेते थे। उनका अपना एक अलग ही संप्रदाय था। इसीसे उन्होंने अपने को "ना हिंदू ना मुसलमान" कहा है। पश्चिमी भारत इन्हीं का केन्द्र बना हुआ था। जायसी के समय में पंजाब का 'बालानाथ का टीला' योगियों का प्रसिद्ध केन्द्र था। जनता की आस्था इन्हें विशेष रूप से प्राप्त थी। सूफियों को जनता में लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए इन्हीं योगियों से मोर्चा लेना पड़ा। मुईनुद्दीन चिश्ती और योगियों के अनेक द्वन्दों की कथा प्रसिद्ध है। दोनों सिद्ध थे। दोनों करामाती। जान पड़ता है छल-बल से सूफ़ियों ने धीरे-धीरे योगियों के प्रभावक्षेत्र में प्रवेश किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन और डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि पंजाब से भागलपुर तक एक चंद्राकार में कुछ ऐसी जातियाँ निवास करती थीं जो आदिकाल से कपड़ा बुनने का व्यवसाय करती थीं। इन जातियों को सवर्गों में स्थान नहीं मिला था। ये 'जुगी' या 'जोगी' (योगी) धर्म में दीक्षित थीं। इसी वयन-जीवी वर्ग को सूफ़ियों ने विशेष रूप से प्रभावित किया और सामूहिक रूप से ये जातियाँ मुसलमान बन गईं। फलतः इस क्षेत्र में आज अधिकांश वयनजीवी जातियाँ मुसलमान हैं। कदाचित् इसी से सूफ़ीसाहित्य में योगियों की

पारिभाषिक शब्दावली और उनके रूपक एवं वयन-जीवन से संबंधित उपमाओं का इतना अधिक प्रयोग है। पंजाब के सारे सूफियों और कबीर का साहित्य इसका प्रमाण है। इस्लामी सूफियों ने योगियों को कैसे पचा लिया यह जायसी के पद्मावत (१५००) से स्पष्ट हो जायेगा। इस ग्रंथ का नायक रतनसेन योगी ही बनता है और लंकागढ़छेक के रूप में जायसी ने योगियों के कायागढ़छेदन वाले रूपक का ही विशद प्रयोग किया है। यदि हम पूर्वपद्मावत से जायसी का नाम हटा लें और उसके विरहसंबंधी उदगारों पर ध्यान न दें तो सारी रचना योगमार्ग से संबंधित की जा सकती है। अंतिम रूपककोष में जायसी सूफ़ी-मान्यता को रख कर जैसे स्वयं अलग हो जाते हैं। वास्तव में योगियों का स्थान धीरे-धीरे सूफ़ियों ने ले लिया। उन्होंने योगपरक भाषा में ही अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। बाद में वैष्णव साधना और विचार-धारा से भी ये सूफ़ी साधक प्रभावित हुए और इस प्रकार एक सामान्य मत (संतमत) की प्रतिष्ठा हुई। वस्तुतः कबीर (१३६८—१५१८), नानक (१४६९—१५३८) और फ़रीद (१४५०—१५५४) में ही इस समन्वय का पहला रूप मिलता है। यह सब आलोच्यकाल के बाहर पड़ते हैं, परंतु इस समय इस समन्वय का सूत्रपात ही नहीं हो गया था, यह बहुत आगे भी बढ़ चुका था। योग और वैष्णव भक्तिवाद का पहला ग्रंथि-बंधन महाराष्ट्र में हुआ। नामदेव (मृ० १३५०), राघवानंद

और रामानंद (१२६६—१४१८), त्रिलोचन (ज० १२६७) इत्यादि इसके प्रतीक थे। यही दक्षिण के इस समन्वय को पंजाब और काशीक्षेत्र में ले गये जहाँ नानक, फ़रीद और कबीर ने सूफ़ी मतवाद से उसका संबंध जोड़ा। इस युग की सारी शक्ति इसी समन्वय की प्रतिष्ठा में लगी रही। यदि सूफ़ी इस क्षेत्र में न आये होते तो भी योग और भक्ति के समन्वय से एक सामान्य मतवाद का जन्म होता, परंतु उसमें उतनी विह्वलता, उतनी तन्मयता, उतनी क्रांतिकारिता नहीं होती जो संतमत की विशेषता है। कबीर और रामानंद के अन्य शिष्यों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से सूफ़ी मत की देन का पता स्पष्ट रूप से लग जाता है।

(झ) हिंदवी भाषा की कविता

सूफ़ी कविता के संबंध में लिखते हुए हम हिंदवी कविता के संबन्ध में लिख चुके हैं। सूफ़ियों और पीरों का साहित्य धार्मिक साहित्य है और उन्होंने जनता में प्रचार के लिए ही लोकभाषा (हिंदवी) को अपनाया था। संभवतः सूफ़ियों ने आरंभ में इस हिंदवी से सिंधु-प्रदेश, पंजाब और पश्चिम भारत की भाषा का अर्थ लगाया होगा। जान पड़ता है, उस समय उत्तर-पश्चिम भारत में एक ऐसी अपभ्रंश बोली जाती थी जो शूरसेनी से अधिक दूर नहीं पड़ती थी, परन्तु उससे कुछ भिन्न थी। संभव है हिन्दवी के सम्बन्ध में मुसलमानों की भावना बराबर बदलती रही हो और उन्होंने समय-समय पर कई

भाषाओं के लिए उसका प्रयोग किया हो। अमीर ख़ुसरो निश्चय रूप से 'हिन्दवी' को दिल्ली के आसपास की भाषा मानते हैं। अब्दुर्रहमान (१०१० ई०) की रचना 'संनेहरासय' के अध्ययन से यह पता चलता है कि उस समय तक मुसलमानों ने इस लोक-भाषा को नहीं अपनाया था। वह साहित्य-रचना के लिए साहित्यिक अपभ्रंश (महाराष्ट्री) को ही अनिवार्य समझते थे। १०२७ ई० से ११६३ ई० तक लाहोर मुसलमान-शक्ति का केन्द्र रहा और धीरे-धीरे यहाँ एक मिली-जुली भाषा विकसित हुई होगी। ११२५ ई० में मुईनुद्दीन चिश्ती भारतवर्ष में आये और उन्होंने अजमेर-केन्द्र से सूफ़ी विचारावली को जनभाषा में प्रचारित करना आरंभ किया। आलोच्यकाल का हिंदवी काव्य मुख्यतः सूफ़ियों का ही काव्य है। परन्तु मुसलमान जनता भी धीरे-धीरे नई भाषा को अपनाने लगी थी और मनोविनोद और साधारण दैनिक कार्यों के लिए हिंदवी का प्रयोग जनप्रिय बन चला था। खुसरो (१२५३—१३३५) की कविता में हम पहली बार हिन्दी का यह जनप्रिय रूप देखते हैं।

ख़ुसरो की हिंदी कविता के संबंध में अनेक मतभेद हैं। प्राचीन जीवनी-लेखकों और संग्रहकर्ताओं ने, चाहे वे पूर्वी हों या पश्चिमी, लिखा है कि ख़ुसरो ने गज़लें, पहेलियाँ, मुकरियाँ इत्यादि लिखीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में इन्हें उद्धृत किया है और उन्हें इनकी प्रामाणिकता के संबंध में कोई भी संदेह नहीं है। परन्तु जिन आधुनिक विद्वानों ने हिंदी कविता के

विकास का अध्ययन किया है, वे ख़ुसरो की कविता के संबंध में सन्देहशील हैं। उनका कहना है कि ख़ुसरो की रचनाओं की भाषा आधुनिक है। आजकल की खड़ीबोली से मिलती-जुलती है। खुसरो के समय की गद्य-पद्य की भाषा से यह भिन्न है।

ख़ुसरो को हिंदी का ज्ञान था, यह निर्विवाद है। उनके समय में 'हिंदी' को 'हिंदवी' कहा जाता था। भारत कई पीढ़ियों से उनके पूर्वजों की जन्मभूमि रहा था। स्वयं ख़ुसरो की माता में भारतीय रक्त प्रवाहित हो रहा था। इसलिए यह निश्चय है कि समसामयिक लेखकों से कहीं अधिक हिंदी से उनका परिचय रहा होगा। अन्य लेखकों को हिन्दी ज्ञान उन व्यक्तियों द्वारा प्राप्त हुआ होगा जो फ़ारसी जानते थे। उनके भृत्य, व्यापारी, कायस्थ (लेखक) इत्यादि। उनकी रचनाओं में हिंदवी के पूर्ण ज्ञान का संकेत है। कई रचनाओं में उन्होंने कहीं कम, कहीं अधिक हिंदी शब्दों का प्रयोग किया है और उचित रूप में, जैसे 'खज़ानुलफ़ुतूह' में बसीठ, परधान, मार-मार, कटार इत्यादि शब्दों का प्रयोग :

सर आँ दो चश्म गरदम कि चो हिन्दुआने रहजन

हम : राज़ नोके-मिज्गाँ बज़िगर ज़दः क़टार :

उन्होंने अपनी फ़ारसी रचनाओं में हिंदवी शब्दों का अधिक उपयोग नहीं किया। इसका कारण यह था कि वह फ़ारसी की शुद्धता के क़ायल थे। हिन्दुस्तान में जिस फ़ारसी का प्रयोग हो

रहा था वह ईरान की फ़ारसी से दूर पड़ती जा रही थी और ख़ुसरो उसे और मिश्रित नहीं करना चाहते थे। 'ग़ुर्रा' के 'दीबाचे' (भूमिका) में उन्होंने लिखा है : 'शुद्ध फ़ारसी में हिंदवी शब्दों का मेल अच्छा नहीं। जहाँ अनिवार्य हो जाये वहाँ दूसरी बात है। मैंने उनका प्रयोग उसी समय किया है जब वे एकांततः आवश्यक हो गये।' उनके एक उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबी की अपेक्षा उन्हें हिन्दी का ज्ञान अधिक था: तुर्के हिन्दुस्तानियम मन हिंदवी गोयम जवाब (मैं हिन्दूस्तानी तुर्क हूँ। मैं तुम्हें हिन्दवी में उत्तर दे सकता हूँ) वस्तुतः अमीर ख़ुसरो का हिन्दी में काव्य-रचना उपस्थित करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ख़ुसरो से बहुत पहले मसूद'-ए-सा'द बिन सलमा इस भाषा में रचना कर चुका था और कदाचित् उसने एक हिंदवी दीवान भी छोड़ा था। फ़रिश्ता और निज़ामुद्दीन के कथनानुसार हिंदवी (हिन्दी) कविता का आरंभ महमूद ग़ज़नी के समय (१००१—१०३०) ही हो चुका था।

यह स्पष्ट है कि ख़ुसरो ने अपने समय की बोलचाल की भाषा में साहित्यसृजन का प्रयत्न किया है। उनकी हिंदी रचना बड़ी मनोरंजक है यद्यपि उसमें विशेष गंभीरता नहीं है, परन्तु भाषा--विकास की दृष्टि से भी वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह वह समय था जब भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में अनेक प्रकार की महत्त्वपूर्ण क्रांतियाँ हो रही थीं और नई भाषाएँ अस्तित्व प्राप्त कर रही थीं। ख़ुसरो ने इन परिवर्तनों की ओर इशारा किया

है और पंजाब में और दिल्ली के आसपास जो बोलियाँ उस समय प्रचलित थीं उनके भिन्न-भिन्न नाम गिनाये हैं। इनकी भाषा ब्रजभाषा से मिलती-जुलती है। फिर यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जिस भाषा में वह रचना करते थे वह वही थी जो सामान्यतः हिन्दू-मुसलमान बोलते थे। सच तो यह है कि ख़ुसरो की कविता प्राचीन खड़ीबोली में है यद्यपि उस पर पड़ोसी ब्रजभाषा का भी बड़ा प्रभाव जान पड़ता है।

ख़ुसरो की संपूर्ण हिंदी रचना उपलब्ध नहीं है। जो प्राप्त है वह केवल मनोरंजन और मनबहलाव के लिए लिखी गई जान पड़ती है। उसमें हास्य और व्यंग की बड़ी सुन्दर शैली है। इस हिन्दवी काव्यसंग्रह के महत्त्वपूर्ण अंग हैं पहेली, मुकरी, दो सखुने, ढ़कोसले और ऐसी ग़ज़लें जिनका एक चरण फ़ारसी का है और दूसरा ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली का। यह सारा साहित्य बराबर कंठस्थ चला आ रहा है। उसे पहली बार १८ वीं शताब्दी में लिपिबद्ध किया गया। इसीलिए ख़ुसरो की रचनाओं की भाषा के संबंध में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। संभव है, इन रचनाओं में उस समय परिवर्तन हो गया हो जब वे मौखिक रूप से कंठस्थ-मात्र थीं और काग़ज़ पर नहीं उतरी थीं। यह तो निश्चित है कि यह रचनाएँ ख़ुसरो की मौलिक चीज़ नहीं थीं। संस्कृत साहित्य और लोक-भाषाओं में इस तरह की चीज़ें चल रही थीं। ख़ुसरो ने इन जनप्रचलित

चीज़ों को अपनाया और उन्हें कुछ ऐसी विशेषता प्रदान की कि वे जनता में अत्यंत लोकप्रिय हो गईं। उनका यह जनसाहित्य अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) पहेली

श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसे नारी।
खुसरो दोनों हाथ से खींचे और कहे तू आरी॥
(आरी)

श्याम बरन की है एक नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी।
जो मानुष उस अर्थ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले॥
(भौं)

(२) मुकरी

मेरा मोंसे सिंगार करावत। आगे बैठ के मान बढ़ावत॥
वाते चिक्कन ना कोइ देसा। ए सखि साजन, ना सखि सीसा॥

(३) दो सखुने

रोटी क्यों सूखी
बस्ती क्यों उजड़ी
— खाई न थी

सितार क्यों बजा
औरत क्यों न न्हाई
— परदा न था

(४) ढकोसल

पीपल पकी पपोलियाँ, झड़झड़ पड़े है बैर
सर में लगा खटाक से, वाह रे तेरी मिठास

(५) ग़ज़ल

ज़ हाले-मसकीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराये नैनां, बनाये बतियाँ
कि ताबे हिज्रां न दारम ए जाँ, न लेहू काहे लगाये छतियाँ
शबाने हिज्रां दराज़ चूं ज़ुलफ़ो रोजे वसलश जो उम्रे कोतः
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ
यकाकन अज़ दिल दो चश्मे जादू बसद फरेबम् बबर्द तसकीं
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पिआरे पी को हमारी बतियाँ
जो शमे सोजाँ जो जर्र: हैरां ज़ मह्र आँ मह बगश्तम आख़िर
न नींद नैनां, न अंग चैना, न आप आवै, न भैजे पतियाँ

३

आदियुग के कवियों की भाषा

आदियुग (७००ई०—१४०० ई०) में संस्कृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी काव्य की तीन धाराएँ समानान्तर पर बह रही थीं। फ़ारसी विदेशी भाषा थी, परन्तु उसमें भी १००० ई० के बाद प्रचुरमात्रा में साहित्य का निर्माण हुआ। अमीर खुसरो (१२५३—१३३५) इस युग का फ़ारसी का सर्वश्रेष्ठ कवि है। फ़ारसी भाषा के साहित्य में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। स्वयं ईरान में भी उसकी कोटि के कवि बहुत कम हुए हैं। परंतु फ़ारसी काव्य परिस्थितियों की उपज है और उसे हम छोड़ सकते हैं। संस्कृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी काव्य भाषा, शैली और विचारधारा की दृष्टि से अनन्यतः संबंधित हैं। अतः आदियुग के कवियों की भाषा पर विचार करते हुए हमें मुख्यतः इन्हीं साहित्यों को लेना है। हिंदी काव्य की दृष्टि से अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण शीर्षकों के अंतर्गत इस युग के काव्य की भाषासंबंधी परिस्थितियों पर विचार करेंगे:

१—'प्राकृत' और 'प्राकृताभास'

प्राकृतों का आरम्भ कब से हुआ यह कहना कुछ कठिन आ। परन्तु कालिदास के नाटकों में प्राकृत मिलती है और इन नाटकों को ईसा की चौथी शताब्दी या पाँचवी शताब्दी के बाद रखना असंभव है। उस समय से १५ वीं—१६ वीं शताब्दी तक प्राकृत की रचनाओं की परम्परा चली आती हैं यद्यपि नवीं-दसवीं शताब्दी प्राकृत के पतन और अपभ्रंश के उत्थान की सूचना देती है। बाद की रचनाओं में पूर्वी प्राकृत रचनाओं की भाषा-शैली का अनुकरण-मात्र है और हम इन परवर्ती रचनाओं की भाषा को प्राकृत के स्थान पर 'प्राकृताभास' ही कहना अधिक है ठीक समझते हैं। प्राकृत का स्थान तो उस समय अपभ्रंश ने ले लिया था। प्राकृत का पहला व्याकरण 'प्राकृत-प्रकाश' (वररुचि) है। यह निश्चित है कि तीसरी-चौथी शताब्दी के लगभग प्राकृतों का काफ़ी विकास हो गया था और नाटककार उसकी एकदम उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे।

'प्राकृत' शब्द के अर्थ के संबंध में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् साहित्यिक भाषा (छांदस या संस्कृत) से भिन्न लोक-भाषाओं को 'प्राकृत' का नाम दे देते हैं। ग्रियर्सन ने प्राकृत के ३ काल किये हैं। पहले काल में छांदस (वैदिक संस्कृत) के समय की प्राकृतें आती हैं। दूसरे काल में पाली, वैयाकरणों की 'प्राकृतें,' नाटक और काव्य की प्राकृतें और अपभ्रंश भाषाएँ आती हैं। प्राकृतों का तीसरा काल आधुनिक लोक-

भाषाओं से संबंधित है। वस्तुतः यह एक निश्चित विचारधारा है। इसके प्रवर्तक कदाचित् वैदिक काल से आज तक लोक-भाषा के अविच्छिन्न प्रवाह की कल्पना करते हैं और उसे 'प्राकृत' कहते हैं। परन्तु विद्वानों की एक श्रेणी ऐसी भी है जो संस्कृत को मूल 'प्रकृति' मानती है और 'प्राकृत' को अपभ्रंश या अपभ्रष्ट भाषा समझती है।

जो हो, अशोक की धर्मलिपियों से हमें पहली बार प्राकृत के ३ रूपों का पता चलता है। राजभाषा मागधी कही जा सकती है। यह पूर्व की भाषा है। उत्तर-पश्चिम और पश्चिम की अलग-अलग प्राकृतें थीं, कदाचित् पूर्व की इस प्राकृत से ही बाद में अर्धमागधी का विकास हुआ। रामगढ़ गुफालेख (२ शती ई० पू०) में हमें पहली बार इसका परिचय मिलता है। जैनधर्म-साहित्य में यही प्राकृत प्रचलित थी। बाद में जब जैन-धर्म धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढ़ा और गुजरात-राजस्थान तक पहुँच गया तो इस पर पश्चिमी प्राकृत का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा। अश्वघोष (१०० ई०) के नाटकों से इस प्राचीन अर्धमागधी, शौरसेनी और मागधी भाषाओं से परिचित होते हैं। इनमें श्वेताम्बरों का साहित्य अर्धमागधी में है और दिगम्बरों का शौरसेनी में। बौद्ध साहित्य की भाषा मागधी के निकट है परंतु वह अवंती या कौशाम्बी की भाषा से भी प्रभावित है। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची में लिखी गई थी, ऐसा कहा जाता है परन्तु न तो बृहत्कथा ही प्राप्त है, न पैशाची भाषा

के मूलस्थान के संबंध में ही कुछ कहा जा सकता है। कुछ विद्वान् उसे उत्तर-पश्चिम भारत से संबंधित करते हैं, कुछ विंध्यप्रदेश से। लौकिक साहित्य में कदाचित् महाराष्ट्री का ही प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। कालिदास के नाटकों और हाल की 'सप्तशती' में इसी का प्रयोग हुआ है। गद्य के क्षेत्र में कदाचित् शौरसेनी का प्रयोग ही अधिक होता था। प्राकृतों में शौरसेनी ही संस्कृत से सब से अधिक प्रभावित थी। शौरसेनी में पद्य-साहित्य की भी रचना होती होगी, इसकी संभावना है, परन्तु वे अब अप्राप्य हैं।

२—अपभ्रंश

पिशल और सर जार्ज ग्रियर्सन का मत है कि प्राकृतें एक समय साहित्यिक भाषाएँ थीं और अपभ्रंश के रूप में अनेक लोक-भाषाएँ इस देश में चल रही थीं। वे कई अपभ्रंशों के नाम लेते हैं: शौरसेनी (नागर), महाराष्ट्री, मागधी, अर्ध-मागधी, ब्राचड़, कैकेय। इन विद्वानों का मत है कि कालांतर में इन अपभ्रंशों के आधुनिक लोक-भाषाओं का इस प्रकार जन्म हुआ:

(१) शौरसेनी से पश्चिमी, हिंदी, राजस्थानी और गुजराती

(२) महाराष्ट्री से मराठी

(३) मागध से बंगला, बिहारी, आसामी, उड़िया

(४) अर्ध मागधी से पूर्वी हिंदी

(५) ब्राचड़ से सिंधी

और (६) कैकेय से लँहदा। बहुत से विद्वान् इस योजना से सहमत हैं।

परन्तु वास्तव में अपभ्रंश का अर्थ कुछ दूसरा ही जान पड़ता है। भामह ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख किया है जिससे यह जान पड़ता है कि 'अपभ्रंश' सामूहिक रूप से कई प्रकार की भाषाओं के लिए प्रयोग में आया है जो न संस्कृत है, न प्राकृत, परन्तु जिसमें साहित्य रचना हो रही है। दंडी ने स्पष्ट रूप से उसे आभीरों की काव्य-भाषा कहा है। ५५९—६९ ई० के गुहसेन वल्लभी के लेख में उनकी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश रचना का उल्लेख है। नवीं शताब्दी में रुद्रट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि देश भेद के कारण अपभ्रंश के अनेक भेद हैं। हेमचंद्र (१०८९—११७३) ने अपभ्रंश और 'देशीभाषा' का अलग-अलग उल्लेख किया है।

बाद के लेखकों ने भी 'अपभ्रंश' को आभीरों से संबंधित किया है। आभीर जाति ने १५० पू० ई० के लगभग या उससे कुछ पहले भारत में प्रवेश किया। इस समय के लगभग पंतजलि ने उसका स्पष्ट उल्लेख किया है। उसका पहला निवासस्थान सिंधुदेश (उत्तर-पश्चिम पंजाब) था। उनके पूर्व के पड़ोसी गूजर थे। शीघ्र ही ये दोनों जातियाँ पंजाब से निकल कर पूर्व की ओर फैल गईं। उत्तर प्रदेश में गूजरों की पर्याप्त संख्या

है। पंजाब, आगरा राजपूताना और गुजरात अब भी इनके केन्द्र हैं जहाँ इनकी संख्या २० लाख है। गूजरों का मुख्य दल दक्षिण की ओर मुड़ कर गुजरात चला गया। आभीर अहीर नाम से सारे उत्तर-भारत में फैल गए जहाँ इनकी संख्या एक करोड़ के लगभग है। ये जातियाँ मुख्यतः गोपालक हैं। कुरुक्षेत्र में होती हुई यह जातियाँ अंतर्वेद और मध्य-भारत में फैल गईं। गुजरात के पश्चिमी समुद्रतट पर भी ये जातियाँ बस गईं। यहाँ इन्होंने छोटे-मोटे राज्य भी स्थापित किये। विष्णुपुराण में लिखा है कि आंध्रभृत्यों के बाद एक आभीर राजवंश ने शासन किया। कदाचित् आभीर और गुर्जर दर्दशाखा से संबंधित थे जो आज भी दर्दिस्तान और काफ़िरस्तान में बस रही है। लँहदा में दर्द-भाषा के अनेक तत्त्व हैं। धीरे-धीरे ये जातियाँ संस्कृत होती गईं और इन्होंने अपने भावों को साहित्य का रूप देना चाहा। उन्होंने अपनी मूल भाषा में जो रचनाएँ कीं वे तो अब प्राप्त नहीं हैं, परंतु जान पड़ता है साहित्य-रचना के समय उन्होंने प्रादेशिक प्राकृतों को ही स्वीकार कर लिया और उन्हें अपनी भाषा के शब्दों और प्रयोगों से भर दिया। प्राकृत के कवि और लेखक पहले भी देशी भाषाओं के शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देते थे, इसके अनेक प्रमाण हमारे सामने हैं, परंतु वास्तव में 'देशी भाषा' एक अलग चीज़ थी। परंतु अपभ्रंश में कदाचित् यह प्रयोग हुआ कि आभीरों की भाषा का मूल रूप से प्रयोग हो और उसमें प्राकृत

शब्दों और रूपों का कुछ अधिक सम्मिश्रण हो। जिस प्राकृत का प्रयोग अभीरों ने मुख्यतः किया वह महाराष्ट्री अपभ्रंश थी। आभीर और गुर्जर राज्यों के प्रभाव के कारण यह अपभ्रंश लोकप्रिय हो गई और दूर-दूर तक फैली। जहाँ-जहाँ यह गई वहाँ उसने स्थानीय अपभ्रंश को जन्म दिया—स्थानीय प्राकृत की कुछ विशेषताएँ अपना लीं। परंतु पूर्व में भी मूल अपभ्रंश (महाराष्ट्री अपभ्रंश) ही अपभ्रंश का ढाँचा बनी रही। सिद्धों के काव्य में हमें अपभ्रंश का पूर्वी रूप मिलता है। १४ वीं शताब्दी में 'अवहट्ठ' नाम से एक खिचड़ी अपभ्रंश भी इस प्रदेश में चल रही है। विद्यापति ने कीर्तिलता में उसका प्रयोग किया है। यह भी महाराष्ट्री अपभ्रंश पर आश्रित है, मागधी पर आश्रित नहीं।

प्राचीन गुर्जर काव्य में मूल अपभ्रंश के तत्त्व सब से अधिक हैं—मूल अपभ्रंश प्राचीन गुर्जर भाषा से बहुत कुछ समानता रखती होगी। गुर्जर-आभीर मूल भाषा का प्राकृताभास ही अपभ्रंश था। परन्तु अन्य स्थानों की अपभ्रंश और वहाँ की देशी भाषा में इतनी समानता नहीं है। स्थानीय भाषाओं (प्राकृतों) में देशी रूपों का योग देकर अपभ्रंश नहीं बनी। पश्चिम की अपभ्रंश को ही स्थानीय रंग देकर चालू कर दिया गया। अतः यह अनिवार्य नहीं है कि प्रत्येक देश में प्राकृत और लोकभाषा साहित्य के बीच में 'अपभ्रंश' का साहित्य भी मिले। काश्मीर और महाराष्ट्र में गूजर-आभीर जाति नहीं

बसी, फलतः वहाँ प्राकृतों के बाद ११ वीं—१२ वीं शताब्दी में हमें लोकभाषा काव्य मिलने लगता है। वस्तुतः अन्य स्थानों में भी अपभ्रंश के साथ-साथ लोकभाषाओं के साहित्य की परंपरा सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही बराबर चल रही होगी। १५ वीं शताब्दी के आरम्भ में हमें ब्रज, अवधी, मैथिली और खड़ी की जो रचनाएँ मिलने लगती हैं उनके भाषा के पीछे विकास का एक बहुत बड़ा काल होना चाहिये। हेमचंद के 'देशीनाम-माला' ग्रंथ में लगभग ४००० देशी शब्द मिलते हैं। वह काफ़ी बड़ी संख्या है। इससे यह पता चलता है कि १२ वीं शताब्दी में देशी भाषाओं का काफ़ी विकास हो चुका था। वस्तुतः ६०० ई० के बाद जहाँ साहित्य में संस्कृत, प्राकृत और अप-भ्रंश भाषाओं का प्रयोग हो रहा था, वहाँ लोकभाषा और लोकसाहित्य के क्षेत्र में देशी भाषाएँ भी चल रही थीं। अपभ्रंश ने लोक-भाषाओं की अपेक्षा साहित्य की भाषा (प्राकृत) की ओर अधिक देखा, फलतः वह जनता की भाषा नहीं रही।

३—देसिल बयना (देशीभाषा)

'विद्यापति' (१३७५—१४५०) ने जिसे 'देसिलबयना' कह कर उसकी मिठास की प्रशंसा की है (देसिल बयना सब जन मिट्ठा) उसे ही हेमचन्द (१३ वीं शती) ने कुछ पहले 'देशी भाषा' कहा है। वस्तुतः १४ वीं से बहुत पहले ही हमें देशी भाषा की कविताएँ मिलने लगती हैं। जयदेव (१११६ –

११६६) और रामानंद (१३५० – १४५०) के बीच में बहुत सा साहित्य रचा गया होगा, यह निश्चय है। गोरखनाथ और नाथपंथियों की कविता में भाषा का जो रूप मिलता है वह निश्चय ही पश्चिमी भारत की लोकभाषा का प्राचीन रूप है। उसे हम अपभ्रंश नहीं कह सकते। गोरखनाथ का समय १००० ई० से १२०० ई० के बीच में पड़ता है। यदि हम गोरखनाथ का समय १२०० ई० के पास भी रखें तो भी उनकी भाषा के विकास के लिए कई शताब्दियों का समय चाहिये। जान पड़ता है, विभिन्न प्राकृत क्षेत्रों में ५००—६०० ई० के आसपास से लोकभाषाओं (देशी बोलियों) का प्राचीनतम रूप प्रयोग में आने लगा था। प्राकृत भाषा पालि (मागधी) का साहित्यिक रूप था और अशोक के समय (३ री शताब्दी पू० ई०) से लेखों और काव्य के लिए उसका प्रयोग बराबर हो रहा था। २-३ री ईसवी शताब्दी के नाटकों में प्राकृत का प्रयोग होने लगता है। नाटकों में अपभ्रंश का प्रयोग १० वीं शताब्दी में होता है।

जो हो, यह निश्चित है कि देशी भाषाओं के मूल के लिए हमें अपभ्रंशों तक पहुँचना नहीं होगा। उनका अपना स्वतंत्र इतिहास है। अपभ्रंश से वह बराबर अलग है। इसीलिए देशी भाषाओं के साहित्य में अपभ्रंश का पुट आरंभ से ही नहीं मिलता। जिस प्रकार प्राकृत-भाषा और शैली के अनुकरण की एक परंपरा १८ वीं शताब्दी तक बराबर चली आ रही है, उस

प्रकार की बात अपभ्रंश के साहित्य के संबंध में नहीं कही जा सकती। प्राकृताभास की तरह अपभ्रंशाभास हमें नहीं मिलता। हिन्दी के प्राचीनतम रचनाओं में भी अपभ्रंश की झलक नहीं है। कम से कम कबीर और सूरदास के साहित्य में तो अधिक नहीं है। सच तो यह है कि अपभ्रंश की रचनाएँ एक विशेष भाषा-परिस्थिति की ही सूचना देती हैं। अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी की बीच की रचनाएँ हमें आज अप्राप्य हैं। यदि आधुनिक भाषाएँ सीधी अपभ्रंश से उद्भूत हुई होतीं तो भाषा की बीच की स्थिति भी हमें मिलती। कदाचित् प्राकृतों के लोकप्रचलित रूप से देशी भाषा का विकास हुआ और इसमें काफ़ी बड़ा समय लगा। प्राकृतें साहित्य की भाषा बनी रहीं और जन-भाषाएँ धीरे-धीरे इतनी बदल गईं कि १२ वीं-१३ वीं शताब्दी में जब वे हमारे सामने आती हैं तो हम उन्हें विकसित रूप में ही पाते हैं। संभव है, वह प्राकृत और अपभ्रंश की साहित्यिक परंपरा से प्रभावित हों, जायसी की रचना में अपभ्रंश के बहुत से रूप मिल जायेंगे, परन्तु देशी भाषाओं की अपनी स्वतंत्र परंपरा है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है।

अमीर ख़ुसरो ने अपने समय की भाषाओं का उल्लेख करते हुए सिंधी, लाहोरी, काश्मीरी, कबरी, द्वारसमुद्री, तिलंगी, गूजरी, मा' वारी, गौड़ी, बंगाली, अवधी और हिन्दुई का भी उल्लेख किया है। इनमें जो बोलियाँ हिंदी प्रदेश से संबंधित हैं वे हैं मा' वारी (मारवाड़ी), अवधी और हिंदुई। अमीर ख़ुसरो ने

लिखा है कि दिल्ली और उसके आस-पड़ोस के नगरों और देहातों की बोली हिन्दुई है जो वहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। यह स्पष्ट है कि ख़ुसरो ने ब्रजभाषा का उल्लेख नहीं किया। ख़ुसरो के समय (१२५३—१३३५) तक ब्रज-भाषा का भी काफ़ी विकास हो चुका होगा, इसमें संदेह नहीं परन्तु कदाचित् ब्रजभाषा और दिल्ली-करनाल की बोली के सूक्ष्म भेदों से ख़ुसरो परिचित नहीं हो सके। उस समय के अन्य मुसलमान लेखकों और कवियों ने भी खड़ी-बोली की रचना करते समय ब्रजभाषा के रूपों का स्वतंत्रता-पूर्वक प्रयोग किया है। जो हो, इसमें संदेह नहीं रहता कि ख़ुसरो की मूल हिन्दी रचना पूर्वी पंजाब की बोली (हरियानी) और दिल्ली की बोली (खड़ी) का ही कोई रूप होगी। मुसलमान लेखक और इतिहासकार लाहोर और अवध के बीच की सारी भूमि को 'हिन्दुस्तान' कहते थे। अतः इस प्रदेश की बोली को उन्होंने स्वभावतः 'हिन्दुई' कहा। दिल्ली और उसके आस-पास की बोली उनके लिए 'हिन्दुई' का आदर्श थी।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि १००० ई० के आसपास हिंदी प्रदेश में अनेक स्थानीय या प्रादेशीय बोलियाँ विकसित हो गई थीं। परस्पर भावों और विचारों के आदान-प्रदान में इन बोलियों का ही प्रयोग होता था। साहित्यिक भाषाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश थीं। देशी भाषा को साहित्य के सिंहासन तक पहुँचने में ३००—४०० वर्ष लगे हों तो कोई

आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु १२ वीं शताब्दी के अन्त में बोलियों के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के चिह्न मिलने लगते हैं। गोरखनाथ और नाथों की रचनाएँ ११ वीं – १२ वीं शताब्दी से ही संबंधित हैं। इनमें दिल्ली की भाषा (खड़ी) का आदिरूप हमें मिलता है। ब्रजभाषा, अवधी और भोजपुरी के भी रूप इसमें मिश्रित हो गए हैं। व्यापक प्रचार के कारण मारवाड़ी, गुजराती और मराठी भाषाओं के रूपों का भी प्रयोग हुआ है, परन्तु नाथों की रचनाओं का मूल ढाँचा अमीर ख़ुसरो की 'हिन्दुई' और मुसलिम सूफ़ी संतों की 'हिंदवी' से अधिक भिन्न नहीं है। अवधी बोली का साहित्यिक प्रवेश रामानंद और उनके शिष्यों की भाषा में मिलता है। संतमत का प्रारंभिक केन्द्र काशी था। रैदास और कबीर बनारस में ही रहे। फलतः अवधी का प्रयोग एक बड़े व्यापक क्षेत्र में हुआ और उसने राजस्थानी संतों की भाषा को भी प्रभावित किया। पूर्वी हिंदी प्रदेश की बोली मैथिली का बड़ा सुन्दर रूप हमें विद्यापति (१३७५-१४५०) में मिलता है। अन्य प्रादेशिक बोलियाँ भी विकसित हो रही थीं परन्तु विशेष कारणों से वे साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण नहीं कर सकीं। वास्तव में ये 'देशी' भाषाएँ प्राचीन जनपदों की स्वतंत्र भाषा-परम्परा का मध्ययुगीन विकास सूचित करती हैं।

४

आदियुग के कवियों की साहित्यिक संपदा

इस अध्याय में हम केवल अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी की साहित्यिक संपदा पर विचार करेंगे। कब अपभ्रंश भाषा का साहित्य समाप्त होता है और कब हिंदी के साहित्य का आरंभ होता है, यह कहना कठिन है। जहाँ एक पक्ष अपभ्रंश की कविता को प्राकृत के साथ जोड़ता है, वहाँ दूसरा पक्ष उसे हिंदी के साथ संबंधित करता है। प्राकृत के साथ अपभ्रंश के कवियों का स्थान मिलना यह सूचित करता है कि यह प्राकृत से स्वतंत्र नई भाषा या साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। विद्यापति (१३७५—१४५०) के काव्य में हमें अपभ्रंश के अतिरिक्त देशी भाषा का भी परिचय होता है। अपभ्रंश को विद्यापति ने 'अवहट्ठ' कहा है जो 'अपभ्रंश' का ही अपभ्रंश-रूप है। परन्तु उनका मैथिलकाव्य निश्चयपूर्वक लोक-भाषा या देशी भाषा है। 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' कहकर विद्यापति ने अपने युग के एक महान् सत्य का ही प्रकाशन किया है। तात्पर्य यह है कि उनके समय में अपभ्रंश भी

जनता की भाषा नहीं रही थी। धीरे-धीरे जन-भाषा का रूप बदल गया था। वही रूप जनता में लोकप्रिय था। इसे ही विद्यापति ने 'देसिल बयना' कहा है और हेमचंद्र ने 'देशी-नाममाला' में 'देशी'। जनभाषा सतत प्रवाहमान है। छांदस, संस्कृत और प्राकृत वैदिक प्राकृत, पाली और अपभ्रंश के साहित्यिक अतः संस्कृत रूप हैं। प्राकृत, पाली और अपभ्रंश में होती हुई जनभाषा की परम्परा 'देशी भाषा' (प्राचीन हिंदी) को प्राप्त हुई इसमें किंचित भी संदेह नहीं। स्थानीय प्रभावों और कवि-परंपराओं के कारण इस देशी भाषा के अनेक रूप विकसित हुए। आलोच्यकाल में ही डिंगल, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, ब्रज और खड़ीबोली का प्रारंभिक परिचय हमें मिल जाता है। यह निश्चित है कि १००० ई० के लगभग अपभ्रंश ने 'देशी भाषा' का रूप ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था और कबीर (१३६८—१५१८) और विद्यापति (१३७५—१४५०) तक पहुँचते-पहुँचते उसे कई शताब्दियों का विकास प्राप्त हो गया था।

फलस्वरूप, इस समय की साहित्यिक संपदा को एक स्थान पर केन्द्रित करना कुछ कठिन हो जाता है। जहाँ एक ओर अपभ्रंश की प्रौढ़तम कृतियाँ (जैसे स्वयंभू और पुष्पदंत की रचनाएँ हैं) वहाँ दूसरी ओर अमीर खुसरो और सूफी कवियों की प्रयोगात्मक रचनायें हैं। हिंदी कवियों में भी जहाँ एक ओर विद्यापति की काव्यरसपूर्ण विदग्ध पदावली

है वहाँ संतों की साहित्यरसविहीन परन्तु सत्य के आलोक से उद्भासित नितांत सरल रचनाएँ हैं। सच तो यह है कि यह सारा युग लोकसाधनाओं और लोकभावनाओं की विजय का युग था। शताब्दियों तक जो साधनायें और भावनायें जनता के निम्नतल वर्ग में समाज के अंतर्मन में चलती रहीं, वही अब ऊपर तल पर आ गईं और हमें पहली बार साहित्य की सीमायें छोटी जान पड़ती हैं। बौद्ध-सिद्धों, गोरखपंथी नाथों, जैन श्रावकों और निर्गुण संतों की रचनायें एक नितांत नई श्रेणी की रचनायें हैं। वह उच्च वर्गों की संस्कृत भावनाओं और विचारधाराओं को उत्तेजित नहीं करती। वह लोक के लिए ही हैं। उनके लेखक भी उच्चसाहित्य से परिचित नहीं थे। साहित्य उनका ध्येय नहीं था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने भीतर-बाहर के रस को भली-भाँति ग्रहण किया था।

आलोच्यकाल (७०० ई०-१४०० ई०) के पहले ३००-४०० वर्षों में हमें देशीभाषा या जनबोलियों का साहित्य प्राप्त नहीं होता। इससे इस प्रकार के साहित्य का अभाव सूचित नहीं होता। परन्तु यह निश्चय है कि इस समय तक जन-बोलियों की साहित्यिक भाषा की मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। इस समय का सारा उपलब्ध साहित्य अपभ्रंश में है—संस्कृत और प्राकृत का साहित्य हमारा आलोच्य विषय नहीं है—और युग की साहित्य-प्रतिभा के समझाने के लिए उसी की

विवेचना करती होगी। अपभ्रंश का धार्मिक साहित्य पश्चिम में जैनों और पूर्व में सिद्धों द्वारा उपस्थित हुआ। दोनों में सैद्धांतिक और सांप्रदायिक बातें ही अधिक हैं, परन्तु सिद्धों का काव्य मुख्यतः 'गीति' है। वह लोकजीवन में प्रचलित राग-रागिनियों का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। हिंदीगीति-परंपरा की यह साहित्य सबसे पहली कड़ी है। निश्चय ही यह लोकसाहित्य है। इसमें साहित्यिक छटा अधिक नहीं है, परन्तु रहस्यात्मक अद्वियता की अनुभूति को कवि सफलता-पूर्वक प्रकाशित कर सके हैं। यह वज्रगीतियों या चर्यापदों की परम्परा परवर्ती हिंदी साहित्य की पदशैली के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी नाथ-संत विचार-धारा के अध्ययन के लिए। वज्रगीतियों में मुख्यतः चौपई या चौपाई छंद का प्रयोग हुआ है। नाथसाहित्य में भी दोहा-चौपाई ही गीति और उपदेश के लिए प्रयोग में लाये गये हैं, परन्तु उसमें ध्रुवक का रूप निश्चित रूप से स्थिर हो गया है। जान पड़ता है, दोहा-चौपाई पहले लोकगीत-छंद ही थे। बाद में उनका कथासंबंध वर्णनात्मक महाकाव्यों और खंडकाव्यों से स्थापित हो गया। पुष्पदंत (९५९-९७२) की रचनाओं में ही इनके साथ ध्रुवक का प्रयोग हमें मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी पदशैली १००० ई०-१२०० ई० के बीच में चौपई-चौपाई छंदो से ही विकसित हुई।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, सिद्धों का साहित्य मूलतः

आध्यात्मिक है। उसमें सहजानंद के महासुख का बड़ा सुन्दर वर्णन है। लौकिक जीवन और प्रकृति के उपमानों के द्वारा कवि-साधक अपनी साधनात्मक अनुभूति का प्रकाशन करता है, तब वह पूर्णतः सफल होता है। भूसुकपा कहते हैं—

करुणामेह निरन्तर फारिआ। भावाभाव द्वंदल दालिया।
उइउ गअण माझ्झ अदभूआ। पेख रे भूसुकु! सहज सरूआ।
जासु सुणन्ते तुट्टइ इंद्रआल। णिहुए णिज मण देइउ उल्लाल।
विसअ विसुज्झें मइँ बज्झिअउ आणंदे। गअणइँ जिम उजाले चन्दे
ए तिलोए एत बि सारा। जोइ भूसुकु फड़इ अँधआरा॥

(करुणारूपी मेघ को निरन्तर फाड़ कर, भावाभाव के द्वन्दों का नाश कर गगन में सहज का अद्भुत चन्द्रमा उगा। रे भूसुकु, उसे देख। जिसके सुनने से इंद्रजाल टूट जाये, अपने मन को ऐसी ही वाणी से प्रबोधन दो। विषयों में विशुद्ध आनंद की प्राप्ति करो। जैसे गगन में चाँद के उगते ही उजाला हो जाता है। इस त्रिलोक में जितना अंधकार है उसे फाड़ कर उस चिन्मय प्रकाश की ओर उन्मुख बनो।)

सरहपा काया को नाव का रूपक देते हुए गाते हैं:

काअ नावड़ि खान्टि मण केडुआल। सद्गुरु वअणे धर पतवाल
चीअ थिर करि धरहु रे नाई। अण्णं उपाए पार न जाई॥
नौवहि नौका टानअ गुणे। निर्मलि सहजे जाउ ण आणे॥
बाटत भअ खान्ट' बी बलआ। भव-उल्लाले सवब वि' बलिआ॥
कूल लई खरे सोन्ते उजाअ। सरहा भणइ गअण समाअ।

(काया की नाव है और इंद्रियाँ नाविक हैं। सद्गुरु के उपदेश की पतवार बना। स्थिर चित्त से, नाविक, नाव चलाओ। किसी भी अन्य उपाय से पार जाना असंभव है।......)

इस प्रकार के साहित्यिक स्थल अधिक नहीं है। कवि प्रतीकों की वाणी में ही सब कुछ कह कर इतिश्री कर लेता है। साहित्यिक सौन्दर्य उसका ध्येय नहीं है। नाथसाहित्य में सिद्धों की यही शैली स्वीकृत हुई है। वहाँ भी कवि-साधक अपनी आंतरिक अनुभूति का प्रकाशन ही अपना लक्ष्य बनाता है। यहाँ रूपकों का क्षेत्र और भी विस्तृत है। गोरखनाथ गगन की गाय को दुह कर पीते हैं,[१] या तत्त्व (तात) की वणिजी

१—गोरख लो गोपाल लो, गगन गाइ दुहि पीवै लो,
महो बिरोलि अंमीरस पीजै, अनभै लागा जीजै लो ॥ टेक ॥
ममिता बिनां माइ मुइ, पिता बिनां मूवा छोरू लो।
जाति बिहूंना लाल ग्वालिया, अहनिस चारै गोरू लो।
अनहद सबदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो।
काया कै अंतरि गगन-मंडल मैं, सहजै स्वामी मिलिया लो।
ऐसी गावत्री घरबारि हमारै, गगन मंडल मैं लाधी लो।
इंहिं लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरंतर बांधी लो।
कानां पूछां सींग बिबरजित, बर्न बिबरजित गाई लो।
मछिंद्र-प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहाँ रहै ल्यो लाई लो।
(गो० वा०, पृ० ११३)

(वाणिज्य) को लेकर व्यापार करते हैं या सोना शुद्ध करते हैं, या तत्त्व की बेलि उगाते हैं और उसके फल का स्वाद चाखते हैं।[२] काया का गढ़ या नगर का रूपक गोरख-साहित्य में बार-बार आती है। स्वसंवेद्य रहस्यात्मक अनुभव का प्रकाशन उन्होंने भी सिद्धों की शैली में किया है। प्रकृति के मनोरम व्यापारों से साधक की आभ्यंतरिक अनुभूति का वर्णन सिद्ध, नाथ और संत काव्य की विशेषता है। गोरख कहते हैं :

नीझर झरैं अमीरस पीवणां षट दल बेध्या जाइ।
चंद विहूंणां चांदिणां तहाँ देष्या श्री गोरखराइ॥

एक दूसरे स्थल पर वह कहते हैं :

गगन मंडल में सुंनि द्वार। बिजली चमकै घोर अंधार॥

इन उद्धरणों में साहित्य की मात्रा कम नहीं है। भले ही वह पंडितों की साहित्य की परिभाषा में नहीं आये। सच तो यह है कि सिद्धों, नाथों और संतों का साहित्य अत्यंत प्राणवान साहित्य है और वह सारे जीवन से रस समेटता हुआ आगे बढ़ता है। उदाहरण के लिए गोरखनाथ का यह व्यंग देखिये जिसमें उन्होंने कथनी-करणी के भेद की खिल्ली उड़ाई है :

२— ततवणिजी ल्यौ ततवणिजी ल्यौ, ज्यूं मोरा मन पतियाई॥
सहज गोरषनाथ बणिज कराई, पंच बलद नौ गाई।
सहज सुभावै वाषर ल्याई, मोरे मन उड़ियानी आई॥

कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ़्या गुण्या सूवा बिलाई षाया पंडित के हाथि रह गई पोथी॥
कहणि सुहेली रहणि दुहेली बिन षायां गुड़ मीठा।
खाई हींग कपूर बखाणै गोरष कहै सब झूठा॥

—'कथनी और, करनी और—सिद्धांत और व्यवहार का यह भेद व्यर्थ है। जब तक जीवन-व्यवहार ठीक नहीं होता, तब तक केवल-मात्र सिद्धांत बघारने से क्या? यह तो ऐसा हुआ जैसे बिना खाये हुए गुड़ को मीठा बता दिया। या खाई हींग और कपूर के गुण गाये। यह तो स्पष्ट ही झूठ का व्यवहार रहा। ऐसा गोरख कहता है।'

सुरहट-घाट अम्हे वणिजारा, सुंनि हमार पसारा।
लेण न जाणौं देण न जाणौं, एह्वा वणज हमारा॥
भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का पूंता, एह्वा बणिज ना आथी।
करणीं अपणीं पार उतरणां, बचने लेणां साथी॥

(वही, पृ० १०४)

सौना ल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे।
धमणि धमीं रस जांमणि जांम्या तब गगन महारस मिलिया रे॥ टेक॥

(वही, पृ० ६१)

तत बेली लो तत बेली लो, अवधू गोरषनाथ जाणी।
डालि न मूल पहुप नहीं छाया बिरधि करै बिन पाणी॥ टेक॥

(वही, पृ० १०६)

ऐसे लोकजीवनसम्मत रूपकों ने नाथों की वाणी को रस से सिद्ध किया है और उसे अपार शक्ति प्रदान की है। सच तो यह है कि आध्यात्मिक साधकों का लक्ष्य ही सत्य रहा है—एक मात्र सत्य को ही, आत्मा की अन्यतम अनुभूति को ही उन्होंने वाणी दी है। फलतः वहाँ हमें साहित्य का वह रूप नहीं मिलता जो रूप-संविधान, अलंकारप्रतिष्ठा और रस-निष्पत्ति को ही ध्येय मानता है। परन्तु वह साहित्य नहीं है, यह कहना कदाचित् साहित्य के साथ अन्याय करना है।

जैन कवियों का अपभ्रंश काव्य भी मूलतः प्रचारात्मक है, परन्तु उन्होंने चरित्रकाव्य भी लिखे और जैनचरित्रों को आधार-मात्र बना कर लौकिक गीतों (फागु, रासा इत्यादि) और कथाकाव्यों की भी सृष्टि की। ऐसी रचनाओं में साहित्य की सारी मान्यताओं को स्वीकार करना होता है। कथाकाव्य और चरित्रकाव्य में प्रसंगतः अलंकारनिरूपण और रसनिष्पत्ति के लिए स्थान रहता ही है। यह अवश्य है कि अधिकांश जैनकाव्य वर्णनात्मक है। स्वयंभू और पुष्पदंत की रचनाओं में काव्य के सारे तत्त्व अत्यंत उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होते हैं। नारी-सौन्दर्य, विरह और मिलन के अनेक प्रसंग इन रचनाओं में आते हैं और इनको लिखते समय कवि संस्कृत और प्राकृत के काव्य को अपने समक्ष रखता है। स्वयंभू ने स्पष्ट ही भरत, भामह और दंडी का उल्लेख

किया है। हरिवंश पुराण में स्वयंभू इन्द्र (वैयाकरण), भरत (रसाचार्य) पिंगल (छंदशास्त्री), भामह-दंडी (अलंकारवादी) के साथ बाण और हरिसेन का भी उल्लेख करता है। यह निश्चय रूप से महाभारत को अपनी रचना के लिए आदर्श मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपभ्रंश जैनकाव्य और नाथकाव्य पूर्ववर्ती सारी साहित्यिक और शास्त्रीय संपत्ति को समेट कर चले हैं। परन्तु लोकजीवन की अनेक प्रवृत्तियाँ उनमें पुष्ट होती हुई दिखाई देती हैं जैसे बारहमासा। शृंगारशास्त्री की मान्यताओं और कविरूढ़ियों के प्रयोग के साथ-साथ लोक-जीवन की सरस अनुभूति अपभ्रंश के काव्य को जो स्निग्धता प्रदान कर देती है वह वास्तव में अद्भुत है। अब्दुर्रहमान (१०१० ई०), बब्बर (१०५० ई०) और हेमचंदसूरि (१०८८-११७६) की रचनाओं में बारहमासा की साहित्यिक परम्परा बराबर विकसित होती दिखाई पड़ती है। सूफी कवियों में बारहमासे की जो परम्परा है, वह इन्हीं जैनकथाकाव्यों की परम्परा से ग्रहीत है, इसमें संदेह नहीं। वस्तुतः साहित्य की दृष्टि से जैनचरित्रकाव्य और कथाकाव्य आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

परन्तु इन वर्णनात्मक रचनाओं के साथ लोकछंदों और लोकगीतों की परम्पराएँ भी अपभ्रंश में चल रही थीं। जैनचरित्रकाव्य और लौकिक कथाकाव्य ने परवर्ती युग

के प्रेमकाव्य, सूफ़ीकाव्य और भक्तों की प्रबंधात्मक रचनाओं को प्रभावित किया तो लोकछंदों ने दोहा, छप्पय, कवित्त-सवैया की परम्परा हमें दी और लोकगीतों ने हिंदी पदसाहित्य को पुष्ट किया। हेमचंदसूरि (१०८८-११८६) के प्राकृत व्याकरण, प्रबंध, चिंतामणि (मेरुतुंगाचार्य, १३०४ ई०) और 'प्राकृत-पैंगल से हमें अपभ्रंश का दोहा-साहित्य प्राप्त होता है। इन दोहों का विषय है शृंगार, नीति और वीरता। ये दोहे इतने मार्मिक हैं कि परवर्ती दोहाकार इनसे सामग्री लेने का मोह छोड़ ही नहीं सके हैं। कोई नायिका पपीहा से कहती है :

वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास।
तुइ जलि महु पुण बल्लहइ, विहुँवि न पूरिअ आस॥

'हे पपीहे ! पिउ-पिउ कहता हुआ तू कितना हताश होकर रोता है। न तुझे स्वाति का जल मिलता है न मुझे प्राणप्रिय। दोनों ही की आशा पूरी नहीं होती।'

वप्पीहा कहँ बोल्लिएण, निग्घिण वार-इ-वार।
सायरि भरिअइ विमल जलि, लहहि न एक्कइ धार॥

'हे पपीहे, यह तू बारबार कैसी रट लगाये हुए है। समुद्र में अपार जल भरा है। तू पीता क्यों नहीं।'

विहारी की तरह अपभ्रंश का कवि भी कहता है—

भमरा ! एत्थुवि लिंबडइ, केवि दियहड़ा विलबु।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु, फुल्लइ जाय कदंबु॥

'हे भ्रमर! तू अभी से इस वृक्ष से लिपटा हुआ है। अभी कुछ दिनों की देर है—जब घने पत्तों की छाया से यह ढक जायगा, जब यह कदंब फूल उठेगा।

प्रोषित-पतिका की वेदना की व्यंजना देखिये :

हिअइ खुडुक्कइ गोरड़ी, गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा-रत्ति पवासु अहँ, विसमा संकडु एहु ॥

'हृदय में उस गोरी नायिका की सुधि घुमड़ रही है और आकाश में मेघ घुमड़ते हैं। वर्षा की रात है, प्रवास है और उस पर यह संकट।' विरह-मिलन ही नहीं, वीररस की भी बड़ी सुन्दर व्यंजना अपभ्रंश की मुक्तक कविताओं में मिल जाती है। ऐसी रचनाओं को हमने अन्य स्थलों पर उद्धृत किया है। इन मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त जो हमें मुख्यत: दोहा-छंदों में मिलती है और भी अनेक रचनाएँ हमें प्राप्त हैं। भाटों और चारणों का मुख्य छंद छप्पय था। आमभट्ट जयसिंह (सिद्धराज, १०६३—११५०) की प्रशंसा में लिखता है :

डरि गइंद डगमगिअ चंद करमित्तिय दिवायर।
डुल्लिय महि हल्लियहि मेरु जलझंपइ सायर।
सुहड कोडि थरहरिय कूरकूरंभ कडक्किअ।
अतल वितल धसमसिअ, पुहवि सहु प्रलय पलट्टिअ।
गज्जंति गयण कवि आम भणि सुरमणि फणिमणि इक्कहूअ

मागहि हियगहि मम गहि मगहिं मुंच मुंछ जयसिंह तुह

चंद (११५२-११६३) के काव्य में छप्पय का जो व्यापक प्रयोग मिलता है उसके पीछे वीरकाव्य की एक बड़ी लंबी परंपरा छिपी है। आम्रभट्ट (१०६३-११५०), विद्याधर (११८०), शालिभद्र-सूरि (११८४) और चंद (११५२-११६३) के काव्य में लगभग एक ही प्रकार की भाषा का बड़ा ओजस्वी प्रयोग मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि चंद के 'रासो' में प्रक्षिप्त सामग्री भी काफ़ी है, परंतु स्वयं कवि ने महाभारत के आधार पर एक विस्तृत वीररसपूर्ण महाकाव्य या खंडकाव्य की रचना की हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पुष्पदंत (६५६-७२) के 'महापुराण' में ऐसे अनेक छंद मिलेंगे जिनका चंद में व्यापक रूप से प्रयोग मिलता है। युद्ध-वर्णन प्रसंगों में ऐसे छंदों का बाहुल्य है। वस्तुतः अनुप्रास-प्रधान वीरकाव्य की रचना की परंपरा चंद से बहुत पहिले ही विकसित हो चुकी थी। चंद के काव्य में उसकी परिणिति-भर मिलती है। परवर्ती काल की इस प्रकार की कविताओं का एक सुन्दर संग्रह "प्राकृत पैंगल" में मिल जाता है।

परन्तु अपभ्रंश के काव्य का एक अत्यंत सुन्दर रूप कथा-गीतों में मिलता है। वज्रगीतों और नाथों के पदों (शब्दों) में साहित्यिकता की मात्रा विशेष नहीं है। परन्तु ये कथागीत लोकरस और साहित्य-संगीत की अद्भुत मैत्री के सूचक हैं। १००० ई० के बाद इस प्रकार के कथागीतों की एक परंपरा

बराबर मिलती है। इन कथागीतों में अब्दुर्रहमान का 'संनेह रासय' (संदेश-रासक), बब्बर का 'बारहमासा' (ऋतुवर्णन), जिनदत्तसूरि का 'चाचरि', जिनपद्मसूरि का 'थूलिभद्र फाग', राजशेखर सूरि का 'नेमिनाथ फाग' जैसी रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये रचनाएँ 'रासक' (रास), फाग और चाचरि कहलाती हैं। चाचरि एक ताल विशेष का नाम है जिसमें चैती के गीत गाये जाते थे। बाद में ऐसे गीतों के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा। फाग प्रेम और प्रकृति सम्बन्धी उल्लास के गीत हैं जो फाल्गुन की विशेषताएँ हैं। रासक या रास एक प्रकार के नृत्य, गीत और छंद के लिए प्रयोग में आता है। तीनों प्रकार की रचनाएँ प्रेम ,उल्लास और नृत्य-संगीत से सम्बधित हैं। जान पड़ता है, गुजरात में रास, फागु और चाचरि आदि की परंपरा बड़े सशक्त रूप में विकसित थी। कदाचित् मथुरा से लेकर गुजरात तक का सारा प्रदेश इस प्रकार के लोकगीतों और लोकोत्सवों से गूँज रहा है। आरंभ में ये लोकगीत और लोकोत्सव चाहे कथा-विशेष से सम्बधित नहीं हों या भारत के प्राचीन मदनोत्सव का नया रूप हों, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने हिंदुओं में कृष्ण और जैनों में नेमिनाथ से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। ऊपर जिन कथागीतों का उल्लेख किया गया है उनके कुछ उद्धरण उनकी महत्ता को पूर्णरूपेण स्थापित कर सका। शिशिर की शोभा का वर्णन करते हुए बब्बर (१०५० ई०) लिखते हैं :

जं फुल्लु कमल-वण वहइ लहु पवण,
भमइ भमर कुलदिसि विदिसं
झंकार पलइ वण खट्ट कुहिल-गण,
विरहिअ हिअ हुअ दरविरसं
आणंदिअ जुअजण उलस उठिअ मण,
सरस, णलिणि-दलकिअ सअणा
पलट सिसिररिउ दिअस हिहर भउ,
कुसुम-समअ अवतरिअ वणा

जिनपद्मसूरि (१२०० ई०) पावस का वर्णन इन शब्दों में करते हैं :

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा बरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए बादला बहंति॥
झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झक्कइ।
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणि मणु कंपइ॥
महर गम्भीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजंते।
पंचवाण निय-कुसुम-वाण तिम तिम साजंते॥
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ।
तिम तिम कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ

नायिका के शृंगार का इतना सुन्दर वर्णन परवर्ती काव्य में भी नहीं मिलेगा—

लहलह लहलह लहलह ए उरि मोतियहारो।
रणरण रणरण रणरण ए पगि नेउर सारो॥

जगमग जगमग जगमग ए कानिहि वरकुंडल ।
झलमल झलमल झलमल ए आभरणइँ मंडल ॥
मयण-खग्ग जिम लहलहंत जसु वेणी दण्डो ।
सरलउ तरलउ सामलउ रोमावलि दण्डो ॥
तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थपक्का ।
कुसुमवाणि निय अमियकुंभ फिर थापगि मुक्का ॥

इसी प्रकार का एक वर्णन राजशेखर सूरि (१३१४ ई०) का भी उपलब्ध है। कवि राजलदेवी के शृंगार-सजाव का वर्णन कर रहा है :

नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयणतिलउ तसु भाले ।
मोती कुण्डल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले ॥
नरतिय कज्जलरेह नयणि मुँहकमलि तंबोलो ।
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो ॥
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लइ माला ।
कर-णकंक मणि-वलय चूड खलकावइ बाला ॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुझुणु ए कडि घाघरियाली ।
रिमझिम रिमझिम रिमझिम ए पयनेउर जुयली ॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किमिसि ।
अंखडियाली रायमइ पिउ जोअइ मनरसि ॥

इन सब उद्धरणों में हिंदीगीति का बीज प्रचुर मात्रा में दिखलाई पड़ता है। वस्तुतः जयदेव (११६७) की प्रसिद्ध रचना 'गीत-

गोविंद' अपभ्रंश की गीतिपरंपरा का ही अनुकरण है। कुछ विद्वानों का विचार है कि कदाचित् मूल रचना अपभ्रंश में ही होगी, परन्तु इतनी दूर तक जाने की आवश्यकता नहीं है। अपभ्रंश काव्य के प्रभाव को स्वीकार करने से ही काम चल जायगा। इसमें तो संदेह नहीं कि जयदेव के समय से ही संतकाव्य का आरंभ हो गया था। कबीर (१३९८ -- १५१४) में हम इस काव्य को पूर्णता प्राप्त करते हुए पाते हैं। कबीर और संतकाव्य के पीछे नाथों और सिद्धों के काव्य की एक बहुत बड़ी परंपरा है। सूफ़ी साहित्य और प्रबंधात्मक रामकथा के पीछे अपभ्रंश का चरित्रकाव्य और कथाकाव्य भी हमें मिल जाता है। परन्तु ब्रजभाषा के राधा-कृष्णसंबंधी गीतिकाव्य के पीछे अपभ्रंश की कोई स्पष्ट परंपरा नहीं मिलती। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि ब्रजप्रदेश में इस प्रकार के काव्य की परंपरा पुष्पदंत (९५९—७२) के आसपास अवश्य रही होगी। महापुराण में पुष्पदंत ने जो कृष्णकथा दी है, वह भागवत से किंचित भिन्न है। यह भिन्नता नये स्रोत की ओर इंगित करती है। सूरदास के काव्य में कृष्णकथा का जो रूप मिलता है, वह प्रारंभिक रूप में पुष्पदंत में भी मिल जाता है। जान पड़ता है, १००० ई० से १५०० ई० तक ब्रज प्रदेश में राधाकृष्ण की प्रेमकथा बराबर विकसित होती रही। आभीरों के प्रिय उत्सवों (रास, फागु, चाचरि, डोल आदि) ने इस कथा-विकास में विशेष सहायता दी। शृंखला की कड़ियाँ अभी हमें पूरी-पूरी नहीं मिलतीं परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कालांतर में

शौरसेनी अपभ्रंश के काव्य का भी उद्‌घाटन होगा। निश्चय ही यह काव्य गीतिकाव्य होगा। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि जैन-कवियों के कथागीतों में हम गीतिकाव्य की एक नई शृंगारप्रधान परंपरा से परिचित होते हैं और वह अवश्य ही उस गीति-परंपरा का रूप है जिसने परवर्ती काव्य में हिंदी को कृष्ण-काव्य दिया।

संक्षेप में आलोच्यकाल (७०० ई० – १४०० ई०) के आदि हिन्दी काव्य या अपभ्रंश काव्य की साहित्यिक संपदा पर हम विचार कर चुके। इस काल में स्वयंभू (७९० ई०), पुष्पदंत (९५९ – ७२), धनपाल (१००० ई०), अब्दुर्रहमान (१०१० ई०), चंद (११५२ – ११९३) और विद्यापति (१३७५ – १४५०) जैसे रससिद्ध कवि हमें मिल जाते हैं। इन कवियों ने प्रबंध और गीतिकाव्य की वह परंपराएँ आरंभ कीं जो बाद में हिन्दी-कविता में विशेष रूप से विकसित हुईं। हिंदी कविता के पाठक कबीर, सूरदास, जायसी, तुलसी और बिहारी की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाते हैं, परंतु आदि युग के उन कवियों की ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता जिन्होंने इन कवियों को भाषा-शैली, छंद, और काव्य परंपरा की प्रेरणा दी। आदिकाल के ये कवि नींव के वे पत्थर थे जो आज धरती के नीचे दब जाने के कारण दिखलाई नहीं देते परन्तु जिनके ऊपर कला और साहित्य, भाषा और भाव का वह ताजमहल खड़ा है जिसे देखकर हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। उन्होंने संस्कृत की ओर कम देखा,

लोक-जीवन की ओर अधिक। इसीसे उनमें अद्भुत आकर्षण है। आज भी इन आदिकवियों के काव्य का अध्ययन हिन्दी को बहुत कुछ देने में समर्थ है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व अलग चीज़ है।

५

उपसंहार

हिन्दी का आदियुग (७०० ई० – १४०० ई०) साहित्य, संस्कृति, भाषा और समाजसंगठन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पिछले कुछ पृष्ठों के विद्यार्थी को इस संबंध में ज़रा भी संदेह नहीं हो सकता। इन सात सौ वर्षों में ही भारतवर्ष हिन्दुस्थान बना। हिन्दू संस्कृति के जिस रूप का परिचय हमें समसामयिक समाज और जीवन में मिलता है उसकी नींव इसी समय पड़ी। भक्ति की लगभग समस्त धाराओं का जन्म भी इसी समय हुआ। वैसे इस सारे युग में हमें किसी देशव्यापी साम्राज्य के दर्शन नहीं होते और ऐसा लगता है देश की सभ्यता और संस्कृति में स्तंभन आ गया है, परन्तु राजनैतिक विघटन के इस युग में भी 'गो, ब्राह्मण और धर्म' की रक्षा हो रही थी और देश की भुजाएँ दृढ़ थीं। इस आलोच्यकाल के उत्तर भाग में देश विदेशी शक्ति द्वारा परास्त हो गया। १२०६ ई० के लगभग दिल्ली की सुलतान-शाही की स्थापना के साथ हिन्दू राज्यों

की स्वतंत्रता का भी अन्त हो जाता है। परन्तु अगले ३००—३५० वर्ष तक भी राजस्थान और मध्यभारत की राजपूत शक्ति ने प्राण-पण से हिन्दू आदर्शों की रक्षा की। इस युग की वीरगाथाएँ अब भी देशवासियों के गौरव और प्रेरणा की वस्तु हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस समय भी हिन्दू चिन्ता में पर्याप्त बल था। प्राचीन कवियों के काव्य में प्रतिभा की जैसी नैसर्गिक उड़ान है, वैसी कदाचित् आलोच्यकाल में नहीं मिलती। परन्तु माघ, भारवि, बाण और श्रीहर्ष किसी भी साहित्य के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। हाल की गाथासप्तशती जैसी प्राकृत रचनाएँ इस समय नहीं मिलतीं। प्राकृतों का स्थान अपभ्रंश ने ले लिया था। परन्तु स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे महाकवि किस संस्कृत या प्राकृत कवि से कम प्रतिभावान हैं। इस काल के अंत में भी हमें विद्यापति जैसे प्रेम और सौन्दर्य के अमर गायक के दर्शन हो जाते हैं। वास्तव में देश की पराजय के कारण कुछ दूसरे ही थे। संस्कृति, साहित्य और कलाकौशल के क्षेत्रों में उस समय यह देश फिर भी अपूर्व था। हर्ष की मृत्यु के बाद लगभग ६ शताब्दियों तक किसी भी विदेशी शक्ति को इस देश की ओर मुँह करने का साहस नहीं हुआ। यही क्या, देश की जीवंत शक्ति का कम प्रमाण है। परन्तु धीरे-धीरे देश छोटे-छोटे सामंती स्वार्थों में खो गया। वह अपना बल भूल गया। अनेक छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए। युद्ध वर्ग विशेष का व्यवसाय बन गया। यह वर्गविशेष पूर्णतः भारतीय नहीं था।

इसमें विदेशी शकों-हूणों-गुर्जरों-आभीरों का रक्त प्रवाहित हो रहा था और यद्यपि ब्राह्मणों के त्याग, तपस्या और बुद्धिबल ने उन्हें उत्तर-पश्चिम के लिए ढाल बना दिया था, परन्तु स्थानीय स्वार्थों को भुलाना असंभव हो रहा था। अभाग्य-वश कोई इतनी बड़ी केन्द्रीय शक्ति सामने नहीं आई जो सारे उत्तर-पश्चिम को एक सूत्र में ग्रंथित कर दे। यही कालांतर में देश के पतन का कारण हुआ।

परंतु सांस्कृतिक दृष्टि से सारा देश एक था, एक सूत्र में ग्रंथित था, कैलाश से कन्याकुमारी और सिन्धु से कामरूप तक एक ही भावनाओं और आचार-विचारों से आलोड़ित विलोड़ित होता था, इसके लिए किसी प्रमाण के ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। दक्षिण के आचार्यों की उत्तर विजय, नाथों, संतों और भक्तों के देशव्यापी सिद्धपीठ और प्रचार-केन्द्र, भागवत और पुराणों के अखिल भारतवर्षीय प्रभाव इसी मूलभूत एक-सूत्रता को सूचित करते हैं। वस्तुतः इस समय राजा देश की संस्कृति का प्रतीक नहीं रह गया था। वह मनोविनोद के लिए साहित्य और कला को आश्रय तो अवश्य देता, परन्तु देश का नेतृत्व धर्मप्रचारकों और तत्त्ववेत्ताओं के हाथ में था। इसीलिए राजाश्रय बनते-बिगड़ते रहे, परन्तु धर्म और तत्त्व-चिन्ता की धारा अविच्छिन्न गति से आगे बढ़ती रही।

इतिहासकारों ने इस महान् तत्त्व को भुला दिया है। वे मुसलमान विजेताओं (या भारत के तुर्की विजेताओं) के परा-

क्रम से आक्रांत हो गए हैं। वे भूल गये हैं कि यह आक्रमणकारी ऐसे प्रदेश के निवासी थे जहाँ से शकों और हूणों के दल के दल बराबर भारत में आते रहे हैं। ईसा की पहली शताब्दी में ही इन विदेशी उत्तर-पश्चिमी शक-हूण जातियों ने भारत का उत्तर-पश्चिम का द्वार देख लिया था। अतः भारत में इनका पदार्पण कोई अभूतपूर्व घटना नहीं है। परन्तु पूर्ववर्ती काल में ये रण-दुर्मद जातियाँ केवल कुछ वर्षों तक भारतीय जनजीवन से प्रथक् रह सकी थीं। शक और हूण राज्य स्थापित हुए और काल के महासमुद्र में डूब गये। ये विदेशी भारतीय जन का अविभाजित अंग बन गये। वह कोई बड़ी संस्कृति और सभ्यता लेकर इस देश में नहीं आये थे। धर्मप्रचार जैसा कोई बड़ा उद्देश्य भी उनका नहीं था। मुसलमान ईरानी विजेताओं ने इस रणदुर्दम जातियों को अपने मूल स्थान में ही नई संस्कृति और नये धर्म (इस्लाम) में दीक्षित किया और बाद में जब ये जातियाँ इस देश में आईं तो भिन्न सभ्यता-संस्कृति में घुल नहीं सकीं। वह अलग-अलग रहीं। शक-हूण नया धर्म, नई समाज-व्यवस्था, नया संदेश लेकर नहीं आये थे। तुर्क नया धर्म, नई समाज-व्यवस्था, नया संदेश लेकर आये और देश का दलित और अहिंदू वर्ग बहुत बड़ी संख्या में इनमें दीक्षित हो गया। जान पड़ता है, जिस समय इस देश में नवतुर्की मुसलमान आये उस समय यहाँ वर्ण-चेतना पूर्ण रूप से जाग्रत थी और शूद्र जनता रणमत्त राजपूतों और

विद्यागर्वी ब्राह्मणों से ऊब गई थी। उस समय तक हिन्दू जाति की समाहार-शक्ति का लोप हो चुका था। फलतः नवागंतुकों और इस्लाम में दीक्षित हिन्दुओं-बौद्धों-जोगियों का एक विशाल दल देश भर में फैल गया। उसने ईरान की संस्कृति को पूर्णतः अपना लिया। ईरान की भाषा, ईरान का साहित्य, ईरान की कथा-कहानियाँ ही उसके लिए सब कुछ हो गईं। फिर हिन्दू जनता किस प्रकार इसे अपने अंचल में समेट सकती? मुसलिम-काल (१२०६ – १८५७) में ईरान और भारत का सांस्कृतिक संबंध बराबर बना रहा। ईरान के श्रेष्ठ कवि, विचारक और विद्वान-कलाविद् इस देश में बराबर आते रहे और हिन्दुओं के बीच में मुसलमानों की ईरानी सभ्यता-संस्कृति अक्षुण्ण रूप से चलती रही। मुसलमानों की भारतविजय के पीछे देश के सांस्कृतिक पतन की प्रेरणा ढूंढ़ना हास्यास्पद है। वह एक महान् राजनैतिक दुर्घटना थी और उसके कारण भी सांस्कृतिक की अपेक्षा राजनैतिक ही अधिक थे।

आलोच्यकाल का पूर्वार्द्ध (७००—१२०६) बौद्धों के पतन और शैवों और वैष्णवों के पुनरुत्थान का काल है। इस समय बौद्धों का केन्द्र मगध और बंगाल था। यहाँ का पालराजवंश स्वयं बौद्ध था और नालंदा और विक्रमशिला जैसे महान् शिक्षा-केन्द्रों से धर्म की व्याख्या हो रही थी। परन्तु धीरे-धीरे बौद्धधर्म में गुह्य, रहस्य और कर्मकांड की महत्ता बढ़ती गई और उसने जनता के सामान्य विश्वासों को इतना अधिक अपना

लिया कि उसका अपना रूप-वैशिष्ट्य भी समाप्त हो गया। कान्यकुब्ज से लेकर गुजरात तक जैनमत की जयभेरी बजने लगी । बौद्ध-श्रेष्ठि जैनधर्म में दीक्षित हो गये। उन्होंने राजस्थान में सैकड़ों विशाल जिनमंदिरों का निर्माण किया। गुजरात के सौलंकी राजाओं ने जैनमत को विशेष आश्रय दिया। सारे पश्चिम में शिवशक्ति उपास्य बन रहे थे। काश्मीर शैवों का प्रसिद्ध केन्द्र था। जो विदेशी रणदुर्मद जातियाँ उत्तर-पश्चिम के मार्ग से भारत में आकर जन-समाज में घुल मिल गई थीं उन्हें भी अहिंसक बुद्ध और महावीर की अपेक्षा शिव-शक्ति की उपासना ही रुचिकर लगी। शिव संहार के देवता थे और शक्ति ने रण-चंडी का रूप ग्रहण कर लिया था। पश्चिम के जाट, गूजर, आभीर और राजपूत शिवशक्ति के ही उपासक बने। वैसे कुषाण-काल में ही शिव इस प्रदेश में लोकमान्य हो चुके थे। इस प्रकार मुसलमानों के आक्रमण के समय उत्तर-भारत शिव-शक्ति, जिन और बुद्ध के उपासकों में बँटा हुआ था। मथुरा से अयोध्या तक के प्रदेश में वे वैष्णव संस्कार अब भी जाग्रत थे जिनका आरंभ पुष्पमित्र-पतंजलि ने किया था और जो गुप्तवंश के समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हो गये थे। रामानुज (१०२७—११३७) ने नारायण-लक्ष्मी और निम्बार्क (११५० ई० के आसपास) ने राधा-कृष्ण के प्रति ध्यान-भक्ति और प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रचार कर इन संस्कारों को पुनर्जाग्रत किया। साहित्य में राधा-कृष्ण का प्रवेश ११ वीं शताब्दी के लग-

भग होने लगता है और १६ वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते कृष्ण-साहित्य और कृष्णकथा का काफ़ी विकास हो जाता है और उसे भक्ति-पद्धतियों और संप्रदायों का बल मिल जाता है। रामभक्ति की पद्धति सातवें दक्षिणी अलवारभक्त कुल-शेखर से आरंभ हुई जिनका समय ईसा की ४ थीं शताब्दी है परन्तु उत्तरभारत में रामभक्ति का अरम्भ १३ वीं शताब्दी में हुआ। ८ वीं शताब्दी से प्राचीन राम की कोई मूर्ति नहीं मिलती। १२५४ ई० के लगभग मध्व (आनंदतीर्थ) के वद्रिकाश्रम से राममूर्ति प्राप्र करने और जगन्नाथपुरी में राम-सीता की मूर्ति स्थापित करने की बात लोक-प्रसिद्धि प्राप्त कर गई है। कदाचित् इसी समय रामनवमी व्रत और राम-पूजा का प्रवर्तन हुआ। रामानुजी सम्प्रदाय को रामपूजा के प्रचार का विशेष श्रेय था। रामानंद (१३००—१४००) राम के प्रसिद्ध भक्त थे। अत: रामभक्ति कृष्णभक्ति के बाद उदय हुई और बाद में वह कृष्णभक्तिधाराओं से प्रभावित भी हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण भारत की शैव और वैष्णव भक्ति ने इस समय सारे उत्तर भारत को प्रभावित किया। उत्तर की धर्मभावना ध्यान और उपासना-मूलक थी। उसमें राजयोग और हठयोग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था। फलत: उसमें रहस्यचिंतन, कामतत्त्व में ईश्वर की प्राप्ति और आचारनिष्ठा का प्राधान्य था। द्रविड़ प्रदेशों में ईसा की २-३ री शताब्दी से आठवीं-नवीं शताब्दी तक

राम, कृष्ण, नारायण, विठोवा (विट्ठल) और शिवशक्ति को केन्द्र बना कर आत्मसमर्पण-मूलक विह्वल भक्ति की एक धारा चली। इस धारा में माधुर्य का भी पर्याप्त योग था। अण्डाल ने मीरा की भाँति कृष्ण को अपना पति ही मान लिया था और मीरा की भाँति वह भी नृत्य करती हुई देवमूर्ति में समा गई। यह भक्ति की नितांत नई धारा थी। यह मूल द्रविड़ प्रवृत्ति की उपज थी, या इसका स्रोत कोई विदेशी भावधारा है, यह आज कहना कठिन है परन्तु मध्ययुग के भक्त और 'पद्मपुराण' के लेखक जब भक्ति का जन्मस्थान द्रविड़ देश बताते हैं तो उनका तात्पर्य इसी अश्रु-गलित, आत्मसमर्पण-मूलक, दास्य एवं माधुर्य भक्ति से होता है। कालांतर में सारा उत्तरी भारत इस भक्ति-धारा में डूब गया। साहित्य, कला और संगीत इस नये प्राण-रस से ओतप्रोत हो गए। सारा देश एक नये प्रेम-भाव में डूब गया। आलोच्यकाल के आरंभ में हम रहस्यवाद को उत्तर भारत के सामान्य धर्म के रूप में देखते हैं। उसमें वैराग्य, हठयोग, गुह्य और कर्मकांड का अद्भुत सम्मिश्रण था। यह अवश्य है कि जनसाधारण में प्रेम, साहस और बलिदान की अनेक कथायें भी चल रही थीं और आभीरों और गूजरों के प्रेमगीत खेतों-खलिहानों में गूँज रहे थे। परन्तु धर्म के नाम पर जो था वह शुष्क, चमत्कारप्रधान और प्राण-हीन था। आलोच्यकाल के अंत में रामानंद, कबीर और

मीरां का भक्तिकाव्य हमारे सामने आता है जो महायान धर्म की सारी मधुरता समेट लेता है और साथ ही उसे नैतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सारा युग हिन्दू समाज के नये संस्कारों के गढ़ने का इतिहास उपस्थित करता है। अनेक देशी-विदेशी जातियों, संस्कारों और आचार-विचारों के मिश्रण से युग के अनुकूल एक सामान्य भावधारा (सगुण भक्ति) का विकास पूर्व-मध्ययुग की सबसे बड़ी विजय है। उसे पौराणिक धर्म-मात्र कह कर नहीं टाला जा सकता।

जो हो, यह निश्चित है कि हिंदीसाहित्य के खोजी और विद्यार्थी के लिए आदियुग कदाचित् सबसे आकर्षक है। अभी तक इस युग की सांस्कृतिक और साहित्यिक विशेषताओं का पूर्णतय: उद्घाटन नहीं हुआ है। हर्ष की मृत्यु से लेकर मुसलमानों के दिल्ली-विजय तक का इतिहास बहुत कुछ अनगढ़ा ही पड़ा है। आभीर, गुर्जर, जाट और राजपूत इस युग की सबसे बड़ी राजनैतिक और सांस्कृतिक शक्ति थे। इनके संबंध में हमारी जानकारी अभी भी बहुत थोड़ी है। पुराणों और लोककथाओं में इस युग के महान् सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्नों के चित्र छिपे पड़े हैं। सारा साहित्य ही इन रण-दुर्मद, हास-परिहासप्रिय, गीत-कला-नृत्यप्रधान जातियों के आदर्शों, प्रवृत्तियों और संस्कारों से भरा हुआ है। इस पृष्ठभूमि में हिंदी का आदियुगीन साहित्य और

भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वह मध्ययुग के महान् वैष्णव साहित्य की बड़ी सुन्दर चरण-पीठिका है इसमें संदेह नहीं।

परिशिष्ट

[१]

आलोच्य युग के प्रधान कवि और उनका काव्य

सिद्धसाहित्य (७०० ई०—१००० ई०)

१—सरहपा क, ख दोहा

क, ख दोहा—टिप्पण

कायकोष अमृत वज्रगीति

चित्तकोष—अजवज्रगीति

डाकिनी वज्र गुह्य गीति

दोहा-कोष—उपदेश गीति

दोहा-कोष-गीति

दोहाकोषगीति । तत्त्वोपदेशशिखर

दोहाकोष-गीतिका । भावना दृष्टि-चर्याफल

दोहाकोष । बसंत-तिलक—दोहा-कोष,

चर्यागीति— दोहाकोष, महासुद्रोपदेश-

दोहाकोष, सरहपाद-गीतिका ।

२—भूसुकपा (शांतिदेव) सहज-गीति ।

३—लुईपा	अभिसमयविभंग, तत्त्वस्वभाव— दोहाकोष, बुद्धोदय भगवद्— अभिसमय, गीतिका ।
४—शरवपा	चित्तगुह्यगम्भीरार्थ-गीति, महामुद्रा वज्रगीति, शून्यता-दृष्टि, षडांगयोग, सहज-संवर — स्वाधिष्ठान, सहजोपदेश — स्वाधिष्ठान ।
५—विरूपा	अमृतसिद्धि, दोहाकोष, कर्म— चंडालिका — दोहा कोष, विरूप — गीतिका, विरूप वज्रगीतिका, विरूप-पद-चतुरशीति, मार्ग-फलान्विता ववादक, सुनिष्प्रपंचतत्त्वोपदेश ।
६—डोम्बिपा	अक्षरद्विकोपदेश गीतिका, नाड़ी - बिंदु — द्वारे योगचर्या
७—दारिकपा	महागुह्य — तत्त्वोपदेश, तथता — दृष्टि, सप्तम सिद्धांत
८—गुंडरीपा	गीति
९—कुक्कुरीपा	योगभावनोपदेश, स्रव परिच्छेदन
१०—कमरिपा	असंबंध दृष्टि, असंबंध सर्गदृष्टि, गीतिका
११—कण्हपा	गीतिका, महाढुँढन, बसंत-तिलक, असंबंध दृष्टि, वज्रगीति, दोहाकोष
१२—टेंडण पा (तंतिपा)	चतुर्योग-भावना

१३—मही (महीधर) पा	वायुतत्त्वदोहा गीतिका
१४ भादे (भद्र) पा	चर्यापद (गीति)
१५—धाम (धर्म) पा	कालिभावनामार्ग, सुगत दृष्टि-गीतिका, हुंकार चित्त बिनु-भावना क्रम
१६—तिलोपा	निवृत्तिभावनाक्रम, करुणा—भावनाधिष्ठान, दोहाकोष, महामुद्रोपदेश
१७—शांतिपा	सुखदुख द्वय—परित्यागदृष्टि

२

नाथ-साहित्य

गोरखनाथ	'गोरखवाणी', वायुतत्त्वोपदेश

३

जैन अपभ्रंशसाहित्य

स्वयंभू	हरिवंशपुराण, पउमचरिउ, स्वयंभू छंद
पुष्पदंत	महापुराण, जसहरचरिउ, नायकुमार-चरिउ
योगीन्दु (जोइंदु)	परमात्मप्रकाश दोहा, योगसार दोहा
रामसिंह	पाहुड-दोहा
धनपाल	भविसयत्त-कहा
कनकामर मुनि	करकंड-चरिउ

जिनदत्तसूरि	चाचरि, उवएसरसायण, कालस्वरूप कुलक
हेमचंद्रसूरि	प्राकृत व्याकरण, छन्दोनुशासन, देशीनाममाला
हरिभद्रसूरि	नेमिनाथ चरिउ
शालिभद्रसूरि	बाहुबलिरास
सोमप्रभु	कुमारपाल—प्रतिबोध
जिनपद्मसूरि	थूलिभद्द फाग
विनयचंद्रसूरि	नेमिनाथ चतुष्पादिका
लक्खण	अणुवयरयण पईब
अंबदेवसूरि	समरराास
राजशेखरसूरि	नेमिनाथ फाग

४

अपभ्रंश की अन्य रचनायें

...	प्रबंध चिंतामणि
अब्दुर्रहमान	संनेह रासय
बब्बर	स्फुट कवितायें
...	उपदेशतरंगिणी
आमभट्ट	स्फुट
विद्याधर	,,

५

प्राचीन हिंदी रचनायें

चंद	पृथ्वीराजरासो
जज्जल (१२६० ई०)	—"प्रांगल पैंगल' में संग्रहीत
हरिब्रह्म	स्फुट— ,,
	शालिभद्रकक्का

६

कृष्णकाव्य

विद्यापति	पदावली

७

संतकाव्य

'आदिग्रंथ' में संग्रहीत जयदेव,
रामानंद और नामदेव की रचनाएँ

परिशिष्ट

[२]

समसामयिक राजनीति

आठवीं शताब्दी

प्रथम चालुक्य वंश का प्रादुर्भाव ६७४-६७३ ई०

७५७ राष्ट्रकूटों द्वारा चालुक्यों की पराजय

७६० कृष्ण (१) राष्ट्रकूट के द्वारा इलौरा के कैलाश-मन्दिर का निर्माण

७२५ कन्नौज के परिहार वंश का प्रादुर्भाव

७५० बंगाल में पाल वंश का प्रवर्तन

७५० विग्रहराज (१) द्वारा चौहान वंश का उदय

७८०-८२२ वेदान्त-दर्शन का जन्म : शंकराचार्य

नवीं शताब्दी

कोक्कल-द्वारा त्रिपुरी में कलचुरी वंश का प्रवर्तन (कोक्कल ८७५-९०५); कालिंजर में चन्द्रवर्मा (नन्नुक) द्वारा चंदेल वंश

का प्रारंभ और मालवा में उपेंद्रराज (कृष्ण) के द्वारा एक नए राजवंश की संस्थापना

दसवीं शताब्दी

द्वितीय चालुक्य वंश का प्रादुर्भाव ६७३-११६०

ग्यारहवीं शताब्दी

१००१ मसमूद ग़ज़नवी द्वारा जयपाल की पराभव

१०१८-१६ महमूद द्वारा वार्षिक आक्रमण। राजा अनंगपाल की पराजय। काँगड़ा और कन्नौज का पराभव

१०२६ महमूद द्वारा सोमनाथ पर आक्रमण

१०३० महमूद की मृत्यु

अलबेरूनी ६७३-१०४८

वल्लभराज (१०१०) द्वारा गुर्जर-सौलंकी वंश का प्रादुर्भाव जिसके सबसे प्रसिद्ध शासक जयसिंह सिद्धराज (१०६४—११४४) हैं।

१२ वीं शताब्दी

११६०-१३१८ देवगिरि का यादव वंश

११७५-७६ मसमूद ग़ौरी द्वारा भारत का आक्रमण

११६१-२ तराईं का युद्ध। पृथ्वीराज की मृत्यु

११६३-७ दिल्ली और काशी का पतन

११६६-१२०० बंगाल का पतन

१३ वीं शताब्दी

रामानुज (११७५-१२५०) द्वारा वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान

१२९४ अलाउद्दीन-द्वारा दक्षिण के अभियान का आरंभ।
देवगिरि का पतन

१२०६ गौरी की मृत्यु

१२०६—१२९० गुलाम वंश

१२९०—१३२० ख़िलजी वंश

१४ वीं शताब्दी

तुग़लक वंश १३२०-१३८८

१३१८ देवगिरि के अंतिम राजा हरपाल का मुसलमानों-द्वारा बध

१३९८ तैमूर द्वारा दिल्ली का हत्याकांड। कबीर का जन्म

१३१८ दकन के हिन्दू राज्य का पतन

१३०३ चित्तौड़ का पराभव

१३१८ देवगिरि का पतन

१३९८-१४७६ जौनपुर का शियाराज्य

१३३५-१५६५ विजयनगर का साम्राज्य

परिशिष्ट

[३]

राजनीति और साहित्य

पालवंश (७५०-११५०) : सिद्ध साहित्य [सरहपा, शवरपा, कण्हपा आदि]

गुर्जर-सौलंकी (६६१-१२६१) : जैन अपभ्रंश साहित्य [शालिभद्र सूरि, अंबदेव सूरि, हरिभद्र सूरि, आम भट्ट, धनपाल (१००० ई०), हेमचंद्र सूरि (१०८८-१११६), सोमप्रभ, जिनपद्मसूरि, विजयपद्मसूरि आदि]

राष्ट्रकूट-प्रतिहार-गहरवार (७५०-११६३) : स्वयंभूदेव (७६०)
पुष्पदंत
विद्याधर ११८०
लक्कण
हरिब्रह्म

चंदेल	जगनिक—'आल्हखंड'
चौहान (७५०-११६१) :	नल्ह—'वीसलदेव रासो'
	चंद—"पृथ्वीराज रासो'
	रामसिंह (जैनकाव्य)
	योगीन्द्र (जैन काव्य)
मालवा	देवसेन (जैन काव्य)
	कनकामर मुनि (दिगंबर जैन-काव्य)
	मुंज के दोहे और अन्य मुक्तक रचनाएँ
कलचुरि (त्रिपुरी) : [कर्ण कुलचुरि १०४०-७०]	बब्बर
दिल्ली	अमीर खुसरो
पंजाब	अब्दुर्रहमान १०१०
	सूफ़ी और हिंदवी कवि
	नामदेव, त्रिलोचन और सधना का हिन्दी काव्य
पंजाब-राजस्थान-अंतर्वेद – विहार – महाराष्ट्र का जनसाहित्य	नाथ-साहित्य

परिशिष्ट

[४]

सहायक ग्रंथ, पत्रादि

१ हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ (राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' का पुरातत्त्वांक)

२ मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध (वही)

३ चौरासी सिद्ध (सरस्वती, जून १९३१, राहुल सांकृत्यायन)

४ हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक किताब-महल, इलाहाबाद, १९४३)

५ गोरखवाणी—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

६ नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टें, १९००-१९०७

७ महायान बौद्धमत का इतिहास एवं साहित्य

८ योगप्रवाह (बड़थ्वाल, डॉ०)

९ हरप्रसाद शास्त्री, डाक्टर शहीदुल्ला, डाक्टर बागची और राहुल सांकृत्यायन की खोजें

१० शैव-तांत्रिक सम्प्रदाय और बंगाल के सहजिया मत का इतिहास

११ हिन्दी जैनसाहित्य का इतिहास : नाथूराम प्रेमी

१२ जैनसाहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी

१३ नाथ-साहित्य : डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

१४ द अर्ली हिस्ट्री ऑव बंगाल, भाग १—२ ले० पी० सी० पॉल

१५ मध्ययुगीन हिंदू भारत ६००-१२००, ३ भाग। ले० चिंतामणि विनायक राव वैद्य

१६ अलबेरूनी की रचना 'किताबुल् हिंद'

१७ गोरखनाथ एंड मेडिवल मिस्टिसिज़्म—डॉ० मोहनसिंह डी० लि०

१८ गोरखनाथ एंड द कनफटा योगीज—ब्रिग्ज़

१९ मिस्टिक टेल्स आफ़ लामा तारानाथ—अनु० डॉ० भूपेन्द्रनाथ दत्त

२० द विज़न आफ़ इंडिया—शिशिर कुमार मित्र

नामानुक्रमणिका

र

ल